प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिक

डॉ. डी. आर. जाटव

एम.ए. (दर्शन, राजनीति), एल-एल.बी., पी-एच.डी., डी.लिट्

अध्यक्ष : दर्शन विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

दौसा (जयपुर) राजस्थान

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

प्राक्कथन

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 17 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1986 को 18 वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत् के शिक्षकों, छात्रों एवं अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रन्थ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 335 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता है।

इस पुस्तक में सुकरात से लेकर कार्ल मार्क्स तक की पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा को दार्शनिक विशेष के सर्वांगीण विवेचन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक प्रधानतः स्नातक स्तरीय छात्रों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। प्रत्येक दार्शनिक के विचारों की व्याख्या उसके अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से पर्याप्त सरल भाषा-शैली में की गई है। आशा है, सम्बद्ध पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

अकादमी इसके लेखक डॉ० डी० आर० जाटव के प्रति आभारी है। इसके विषय-संपादक डॉ० वी० के० भारद्वाज, दिल्ली और भाषा-सम्पादक श्री प्रताप माथुर, जयपुर को भी हम प्रदत्त सहयोग हेतु धन्यवाद देते हैं।

रणजीतसिंह कूमट
शिक्षा सचिव, राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर।

डॉ. राघव प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर।

भूमिका : प्रथम संस्करण

प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी जगत् को पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का परिचय कराने का एक विनम्र प्रयास है। इसमें पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं का सम्पूर्ण विवेचन तो नहीं है किन्तु इसके अध्ययन से उसका रूप-वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। ग्रन्थ में क्रमानुसार विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रत्ययों एवं सिद्धान्तों का निरूपण तथा उनके विचारों का विश्लेषण है। इसमें प्राचीन यूनानी, मध्यकालीन और आधुनिक काल के प्रमुख दार्शनिकों के विचारों का विवरण दिया गया है। इनके दार्शनिक विचारों के विवेचन में लेखक ने विश्लेषणात्मक प्रणाली से प्रत्येक विषय को यथा-सम्भव अधिक से अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इन विचारकों में विद्यमान तारतम्य तथा विचार-भिन्नता को स्पष्ट किया गया है ताकि उन्हें समझने में कठिनाई न हो।

इस-ग्रन्थ में दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दों का हिन्दी रूपान्तर व्यापक रूप से मान्य और शिक्षा मंत्रालय (भारत सरकार) के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित 'मानविकी शब्दावली' से चयनित किया गया है। किन्तु भाषा सम्बन्धी कठिनाइयां सम्भवतः होंगी क्योंकि अभी तक हिन्दी भाषी पाठक नवीन गठित शब्दों के प्रयोग में अभ्यस्त नहीं हैं और उनके साथ समायोजन भी नहीं कर पाये हैं।

एक सुखद कर्त्तव्य के रूप में, मैं अपने उन सभी विद्यार्थियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ लिखा गया है। आज के परिप्रेक्ष्य में पाश्चात्य दर्शन के अंग्रेजी ग्रन्थों की प्रचुरता तथा हिन्दी भाषा में दर्शन की पुस्तकों का अभाव समस्त हिन्दी-प्रेमी विद्यार्थियों के लिए खटकता है। दर्शनशास्त्र को स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थी लेने में हिचकिचाते हैं क्योंकि उन्हें हिन्दी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाते। ऐसे ही पाठकों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है। पूर्ण विश्वास है कि यह उन सभी स्नातक शिक्षार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति करेगी जो दर्शनशास्त्र को हिन्दी माध्यम से पढ़ना चाहते हैं।

मैं उन सभी विचारकों एवं लेखकों का आभारी हूँ जिनके मूल ग्रन्थों की सहायता से यह रचना संभव हो सकी है। भाषा तथा विषय दोनों दृष्टियों से, ग्रन्थ

में अनेक त्रुटियां हो सकती हैं जिनके लिए पाठकों की ओर से संकेत मिलना परमावश्यक है ताकि उन्हें भावी संस्करण में दूर किया जा सके। अन्त में, मैं अपने परम मित्र डॉ० राधेश्याम शर्मा, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, के प्रति अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थ की संरचना में प्रशंसनीय योगदान दिया।

—डी० आर० जाटव

जनवरी 1981
श्रीगंगानगर

भूमिका : द्वितीय संस्करण

मुझे प्रसन्नता है कि 'प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिक' के प्रथम संस्करण को उन विद्यार्थियों ने अत्यधिक पसन्द किया जिनके लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। उनके ही कारण ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण अपेक्षित हो गया है। इस संस्करण में पूर्व मुद्रण की कुछ अशुद्धियां ठीक की गई है और एकादि दार्शनिक से सम्बन्धित विषय-सामग्री में भी वृद्धि कर दी गई है। पुस्तक में एक परिशिष्ट 'सम्प्रत्यय, सिद्धान्त एवं मूल-ग्रन्थ', भी जोड़ दिया गया है ताकि यह ग्रन्थ विद्यार्थियों को अधिक लाभदायक सिद्ध हो। पुनर्मुद्रण की तत्परता के लिए, मैं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के समस्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

मार्च, 1987
40, मीना कॉलोनी,
इमलीवाला फाटक,
जयपुर–302005

—डॉ० डी० आर० जाटव

विषय-सूची

तृतीय भाग

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक

(ADHUNIK PASHCHATYA DARSHNIK)

□

प्रस्तावना

(प्राचीन यूनानी दार्शनिक)

मानवीय चिन्तन के क्षेत्र में यूनानी दर्शन को एक बौद्धिक आन्दोलन के रूप में जाना जाता है। यूनानी दर्शन बाह्य जगत् के सार की जिज्ञासा को लेकर प्रारम्भ हुआ। बाह्य जगत् के ज्ञान के साथ-साथ, उसने स्वयं मनुष्य को अपना अध्ययन केन्द्र बनाया। फलतः ग्रीक दर्शन ने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में गवेषणात्मक प्रवृत्तियों को जन्म दिया जिन्हें हम स्पष्टतः प्राचीन यूनानी दार्शनिकों में पाते हैं।

यूनानी दार्शनिक अभिव्यक्ति हमें सर्वप्रथम माइलेशियन मत (Milesian School)में मिलती है जिसकी प्रतिष्ठापना ई.पू. 6वीं शताब्दी में हुई। इस मत के तीन प्रमुख दार्शनिकों के विचार यहाँ प्रस्तुत हैं जिन्होंने प्रकृति की व्याख्या में अधिक रुचि का प्रदर्शन किया।

थेलीज (Thales : 624-550 B.C.)

ग्रीस के एक छोटे से राज्य माइलेटस में थेलीज का जन्म हुआ था। वह गम्भीर दार्शनिक होने के साथ-साथ, एक महान् राजनीतिज्ञ, गणितज्ञ और ज्योतिषी भी था। उसकी गणना ग्रीस के 'सप्तर्षियों' में की जाती है।

थेलीज के अनुसार, विश्व का परमतत्त्व (Ultimate Substance) 'जल' है जिसमें वे समस्त गुण सन्निहित हैं जिनके कारण वह ठोस, तरल तथा भाप का रूप धारण कर सकता है। जल विभिन्न वस्तुओं में बदल जाता है। जल से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। जल ही समस्त प्राणियों का जीवन आधार है। जल भाप में परिवर्तित होकर अग्नि पैदा करता है और जल से ही पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। सामान्यतः जल से ही सबकी उत्पत्ति और जल में ही सबका पुनः रूपांतरण हो जाता है। थेलीज ने 'प्रकृति' (बाह्य जगत्) को एक सजीव, गतिशील, क्रियात्मक तथा परिवर्तनात्मक सिद्धांत के रूप में देखा क्योंकि परम तत्व सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार उसने दार्शनिक चिंतन में प्रकृतिवादी दृष्टिकोण को प्रविष्ट किया जिसका गम्भीर प्रभाव

आगामी चिंतकों पर पड़ा। उसके दर्शन की तीन प्रमुख मान्यतायें हैं—

1. समस्त वस्तुओं में देवों का प्रभाव है;
2. पृथ्वी एक समतल चक्र के समान है जो जल पर तैरती है; और
3. जल समस्त वस्तुओं का भौतिक कारण (Material Cause) तथा समस्त प्राणियों का जीवन आधार है।

अनेक्जिमेंडर (Anaximander : 611-547 B.C.)

थेलीज के पश्चात्, उसके ही एक शिष्य अनेक्जिमेंडर का नाम दार्शनिक क्षेत्र में प्रख्यात हुआ। उसका जन्म भी माइलेटस नगर में हुआ। उसमें वैज्ञानिक जिज्ञासा बहुत थी। अनेक्जिमेंडर प्रथम व्यक्ति था जिसने 'नक्शा' बनाया और यह माना कि पृथ्वी का आकार एक बेलन के समान है। सूर्य पृथ्वी से कई गुना बड़ा है।

अनेक्जिमेंडर ने जल को परम तत्त्व स्वीकार नहीं किया। उसने अन्य भौतिक द्रव्यों—अग्नि, पृथ्वी तथा वायु, को भी परम तत्त्व नहीं माना क्योंकि इनसे जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं हो पाती। अनेक्जिमेन्डर ने कहा कि परम तत्त्व इन द्रव्यों से अलग है जिसे उसने 'असीम' (The Boundless) का नाम दिया। उसके अनुसार असीम की तीन प्रमुख विशेषतायें हैं—

(i) असीम एक ऐसा संकरण (मिश्रण) है जिसमें से वस्तुओं की उत्पत्ति वियोजन अथवा विभाजन द्वारा होती हैं;

(ii) असीम अनिश्चित, अपरिमित एवं अनियत है और गुणात्मक दृष्टि से 'भेदहीन द्रव्य' है; और

(iii) असीम समस्त दृष्ट तत्वों के बीच की धुरी है जैसे वायु और जल अथवा वायु और अग्नि।

इसी परमतत्त्व से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी में उनकी स्थिति तथा उनका लय है। यह परमतत्त्व स्वयं अपरिणामी तथा अगतिशील होते हुए भी संसार की गति, परिणाम, विरोध और संघर्ष का कारण है। भौतिक वस्तुओं में विरोध या संघर्ष अनिवार्य है क्योंकि उसी से उनका विकास संभव है। सृष्टि की उत्पत्ति का वास्तविक अर्थ उसका विकास ही होता है। पशु तथा मानव जगत् का भी विकास हुआ है। यह असीम ही समस्त वस्तुओं एवं जीवों का मूलाधार है, पर सभी विशेषों से भिन्न है। इस प्रकार अनेक्जिमेंडर ने दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में विकासवादी सिद्धांत का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव किया। उसने मूर्त चिन्तन को अमूर्त के साथ जोड़ने का प्रयास किया। जो दार्शनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा और उसका स्पष्ट प्रभाव हेरेक्लाइटस आदि पर पड़ा।

एनेक्जिमेनीज (Anaximenes : 585-528 B.C.)

माइलेशियन मत के तृतीय प्रमुख दार्शनिक के रूप में एनेक्जिमेनीज का नाम आता है। वह अनेक्जिमेंडर का ही शिष्य था। वह अपने गुरु जैसी प्रतिभा एवं मौलिकता को प्रदर्शित नहीं कर पाया, पर अपने विचारों में वह स्वतंत्र अवश्य रहा।

एनेक्जिमेनीज के अनुसार, परमतत्त्व एक ही है और वह 'वायु' है जो असीम तो है, पर अनियत नहीं है। वायु समस्त वस्तुओं का सार (Essence) तथा सभी जीओं का मौलिक आधार है। वायु के बिना कोई शरीर जीवित नहीं रह सकता। वह आकाश में असीम है। वायु में संकुचन तथा विस्तार के गुण होते हैं जिनके कारण वह जगत् की विभिन्न वस्तुओं मे परिवर्तित हो जाती है। एनेक्जिमेनीज ने श्वास को प्राणवायु तथा आत्मा बतलाया। इसी से गति तथा जीवन का संचार होता है। वायु जगत् में से संजीव सिद्धांत के रूप में कार्य करती है और समस्त आकाश में उसका संचार होता रहता है।

एनेक्जिमेनीज का विरलीकरण एवं संक्षेपण (Rasefaction and Contraction) का सिद्धांत बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विरलीकरण तथा संक्षेपण की प्रक्रियायों के रूप में, वायु से ही समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। जब वायु का विरलीकरण होता है तब अग्नि पैदा होती है और जब संक्षेपण होता है तब वह बादल, पानी, पृथ्वी तथा पत्थर में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार मूल द्रव्य से विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति, एक वैज्ञानिक व्यख्या की ओर प्रगति का संकेत है। विरलीकरण एवं संक्षेपण दोनों शुद्धत: परिणामात्मक प्रक्रियायें हैं। यह सिद्धांत गुणात्मक भिन्नताओं को परिणामात्मक रूप में बदलने का एक प्रयास है जो हमें डिमॉक्रीटस के अणुवाद में स्पष्टत: दिखाई देगा। एनेक्जिमेनीज की एक और दार्शनिक विशेषता यह है कि उसने गति को समस्त परिवर्तनों का आधार बतलाया। सभी परिवर्तन गति के कारण होते हैं। गति नित्य है। समस्त वस्तुएं वायु की परिधि में ही गतिशील हैं।

माइलेशियन मत के दार्शनिकों का अभी जो विवेचन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि उनकी अभिरुचि 'वस्तुओं के सार' की समस्या में थी। वह कौनसा द्रव्य है जिससे जगत् का निर्माण हुआ है ? उन्होंने इसे मूर्त द्रव्य के रूप में माना या तो निश्चित द्रव्य के रूप में जैसे जल या वायु, अथवा एक ऐसे अनिश्चित द्रव्य के रूप में जिससे सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। अब हम दूसरे मत, पाइथेगोरियन दर्शन, की ओर आते हैं जिसकी समस्या कुछ भिन्न थी। इसके चिन्तकों की रुचि द्रव्य की समस्या में कम और वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक थी। वे जगत् में एकरूपता की समस्या की व्याख्या करना चाहते थे। इस मत के जन्मदाता एवं प्रमुख वक्ता स्वयं पाइथेगोरस ही थे जिनके विचार यहाँ प्रस्तुत हैं।

पाइथेगोरस (Pythagoras: 570-500 B.C.)

सामोस नामक शहर में, पाइथेगोरस का जन्म हुआ। देश-वासियों के साथ राजनीतिक मतभेद होने के कारण, उसे अपना प्रिय जन्म-स्थान छोड़ना पड़ा। तब वह क्राटोना में जाकर बस गया जहाँ उसने 'पाइथेगोरियन समाज' की स्थापना की जिसका मूल उद्देश्य धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक एवं राजनीतिक शिक्षा देना था। पाइथेगोरस धार्मिक मार्गदर्शक होने के साथ-साथ उच्च कोटि का गणितज्ञ भी था। दोनों ही क्षेत्रों में, उसने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की।

पाइथेगोरस ने संख्या सिद्धांत (Number Theory) का प्रतिपादन किया जिसमें वस्तुओं के परिमाणात्मक सम्बन्धों को ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार जगत् में आकार (Form) और सम्बन्ध (Relation) मुख्य हैं। मापन, अवस्था, संतुलन, एकरूपता आदि को संख्या के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है। संख्याएं वे सत्य इकाइयां हैं जिनकी अन्य सभी वस्तुएं अभिव्यक्ति मात्र हैं। पाइथेगोरस के अनुसार, संख्याएं वस्तुओं के सिद्धांत हैं, न कि वस्तुओं का मूल द्रव्य जैसा कि माइलेशियन मत में माना गया है। संख्याओं से वस्तुओं के आकारगत (Formal) अथवा सम्बन्धात्मक (Relational) ढांचे का निर्माण होता है। वस्तुएं इन्हीं संख्याओं की प्रतियां मात्र हैं।

इस प्रकार यदि वस्तुओं का सार संख्या है तो जो कुछ संख्याओं के बारे में सत्य है, वही वस्तुओं के सम्बन्ध में सत्य होगा। संख्याओं में सम व असम (Even and Uneven) का भेद होता है। असम को दो से विभाजित नहीं किया जा सकता जबकि सम को किया जा सकता है। असम संख्याएं सीमित होती हैं, पर सम संख्याएं असीम हैं। ये असम और सम, ससीम और असीम, परिमित और अपरिमित, संख्याएं संख्या और यथार्थता का सार हैं।

प्रकृति स्वतः विरोधों का संगठन है, सम तथा असम संख्याओं का एक रूप है। संख्या सिद्धांत की दृष्टि से, पाइथेगोरस ने भौतिक जगत् (प्रकृति) की संख्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। विन्दु एक, रेखाएं दो, आकार तीन तथा ठोस चार संख्याओं के साथ जुड़े हुए हैं। इसी तरह पृथ्वी घनमूल, अग्नि चतुष्फलक, वायु अष्टपदी और जल विंशफलक है। रेखाओं और वस्तुओं की सतहों को पाइथेगोरस ने स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में माना है जिनके विना कोई भी वस्तु शरीर सम्भव नहीं हो सकता। आकाशीय आकार भौतिक वस्तुओं के कारण हैं और चूँकि आकारों को संख्याओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, इसलिए संख्याएं ही मूल कारण हैं। यहाँ तक कि नीतिशास्त्र के मूल्यों: प्रेम, मित्रता, न्याय, सद्गुण, निष्ठा, को संख्या के आधार पर वतलाया जा सकता है। प्रेम और मित्रता को आठ की संख्या के साथ जोड़ा जा सकता है। प्रेम और मित्रता सामजस्यपूर्ण हैं और आठ की संख्या भी सामंजस्यपूर्ण है।

पाइथेगोरस के दर्शन को यद्यपि 'संख्या रहस्यवाद' (Number Mysticism) की संज्ञा दी जाती है, फिर भी उसने आगामी भौतिकशास्त्र तथा खगोलविद्या के चिन्तन क्षेत्रों को प्रभावित किया। प्राकृतिक नियम को गणितीय अभिव्यक्ति के साथ जोड़ना, जो आधुनिक दर्शन एवं विज्ञान का मूलमंत्र है, पारथेगोरियन दर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। माइलेशियन दार्शनिकों ने पुद्गल (Matter) का विवेचन किया तो पाइथेगोरस ने स्वरूप (Form) की व्याख्या की। स्वरूप अतीन्द्रिय, सामान्य और विज्ञानरूप है। जगत् में अभेद सामंजस्य और समन्वय इसी के कारण होते हैं। ग्रीक दर्शन में पुद्गल और स्वरूप की समस्या के पश्चात् परिणाम और सत्ता (Becoming and Being) की समस्या ने दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित किया। इनमें प्रमुख स्थान हेरेक्लाइटस का माना जाता है जिसके विचार बड़े ही महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक हैं।

हेरेक्लाइटस (Heraclitus: 535-475)

हेरेक्लाइटस का जन्म ऐफीसस के एक सामंत परिवार में हुआ था। जीवनभर वह असमझौतावादी व्यक्ति बना रहा और जनतंत्र के प्रति उसने सदैव ही घृणास्पद दृष्टि बनाए रखी। सामाजिक दृष्टि से, वह लोकप्रिय नहीं था। परन्तु बौद्धिक रूप में वह गम्भीर एवं योग्य चिंतक, एक विचारशील लेखक तथा स्वयं-शिक्षित दार्शनिक था, उसकी लेखनशैली बड़ी अस्पष्ट होने के कारण, उसे 'दुर्बोध' (the obscure) कहा गया।

हेरेक्लाइटस के अनुसार, "यह विश्व अविरल परिवर्तन की अवस्था में है।" जगत् में कोई वस्तु स्थाई नहीं है। स्थायित्व वास्तव में एक भ्रम है। वस्तुएं स्थाई प्रतीत होती हैं, किन्तु मूलतः वे निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं। हेरेक्लाइटस ने अग्नि या तेजस्व को परम तत्त्व बतलाया। समस्त परिवर्तनों का वही मूलाधार है। अग्नि ही सब प्रकार की वस्तुओं में परिवर्तित होती रहती है। अग्नि, जल और पृथ्वी में बदलती है, और पृथ्वी फिर जल तथा अग्नि में। परिवर्तन की अवस्था में, यही क्रम चलता रहता है। परिवर्तन में वस्तुएं कुछ खोती हैं और कुछ ग्रहण करती हैं। इस दृष्टि से जगत में, सब कुछ अनित्य एवं क्षणिक हैं। परिणाम ही एकमात्र यथार्थता है। यह जगत् गति है, परिणाम है, धारा या प्रवाह है। यही जगत् का सार्वभौम नियम है। यहाँ यह स्मरणीय है कि बौद्ध-दर्शन में भी परिणाम (Becoming) को यथार्थता माना है। स्थायित्व, वास्तव में भ्रमात्मक है। प्रतीत्यसमुत्पाद तथा क्षणिकवाद के सिद्धांतों से इसकी पुष्टि करते हैं।

हेरेक्लाइटस ने संघर्ष, विरोध तथा समन्वय (Conflict, Negation and Synthesis) को बहुत महत्त्व दिया। विरोध तथा निषेध का अर्थ गति या परिवर्तन ही है। प्राथमिक एकता स्वतः गतिशील होती है। जब वह अन्य वस्तुओं में बदलती है जैसे अग्नि जल में, तब अग्नि अन्य भौतिक वस्तु के आधार में निषेधित हो जाती है।

पाइथेगोरस (Pythagoras: 570-500 B.C.)

सामोस नामक शहर में, पाइथेगोरस का जन्म हुआ। देश-वासियों के साथ राजनीतिक मतभेद होने के कारण, उसे अपना प्रिय जन्म-स्थान छोड़ना पड़ा। तब वह क्राटोना में जाकर बस गया जहाँ उसने 'पाइथेगोरियन समाज' की स्थापना की जिसका मूल उद्देश्य धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक एवं राजनीतिक शिक्षा देना था। पाइ-थेगोरस धार्मिक मार्गदर्शक होने के साथ-साथ उच्च कोटि का गणितज्ञ भी था। दोनों ही क्षेत्रों में, उसने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की।

पाइथेगोरस ने संख्या सिद्धांत (Number Theory) का प्रतिपादन किया जिसमें वस्तुओं के परिमाणात्मक सम्बन्धों को ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार जगत् में आकार (Form) और सम्बन्ध (Relation) मुख्य हैं। मापन, अवस्था, संतुलन, एकरूपता आदि को संख्या के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है। संख्याएं वे सत्य इकाइयां हैं जिनकी अन्य सभी वस्तुएं अभिव्यक्ति मात्र हैं। पाइथेगोरस के अनुसार, संख्याएं वस्तुओं के सिद्धांत हैं, न कि वस्तुओं का मूल द्रव्य जैसा कि माइलेशियन मत में माना गया है। संख्याओं से वस्तुओं के आकारगत (Formal) अथवा सम्बन्धात्मक (Relational) ढांचे का निर्माण होता है। वस्तुएं इन्हीं संख्याओं की प्रतियां मात्र हैं।

इस प्रकार यदि वस्तुओं का सार संख्या है तो जो कुछ संख्याओं के बारे में सत्य है, वही वस्तुओं के सम्बन्ध में सत्य होगा। संख्याओं में सम व असम (Even and Uneven) का भेद होता है। असम को दो से विभाजित नहीं किया जा सकता जबकि सम को किया जा सकता है। असम संख्याएं सीमित होती हैं, पर सम संख्याएं असीम हैं। ये असम और सम, ससीम और असीम, परिमित और अपरिमित, संख्याएं संख्या और यथार्थता का सार हैं।

प्रकृति स्वतः विरोधों का संगठन है, सम तथा असम संख्याओं का एक रूप है। संख्या सिद्धांत की दृष्टि से, पाइथेगोरस ने भौतिक जगत् (प्रकृति) की संख्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। बिन्दु एक, रेखाएं दो, आकार तीन तथा ठोस चार संख्याओं के साथ जुड़े हुए हैं। इसी तरह पृथ्वी घनमूल, अग्नि चतुष्फलक, वायु अष्टपदी और जल विंशफलक है। रेखाओं और वस्तुओं की सतहों को पाइथेगोरस ने स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में माना है जिनके बिना कोई भी वस्तु शरीर सम्भव नहीं हो सकता। आकाशीय आकार भौतिक वस्तुओं के कारण हैं और चूँकि आकारों को संख्याओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, इसलिए संख्याएं ही मूल कारण हैं। यहाँ तक कि नीतिशास्त्र के मूल्यों: प्रेम, मित्रता, न्याय, सद्गुण, निष्ठा, को संख्या के आधार पर बतलाया जा सकता है। प्रेम और मित्रता को आठ की संख्या के साथ जोड़ा जा सकता है। प्रेम और मित्रता सामजस्यपूर्ण हैं और आठ की संख्या भी सामंजस्यपूर्ण है।

पाइथेगोरस के दर्शन को यद्यपि 'संख्या रहस्यवाद' (Number Mysticism) की संज्ञा दी जाती है, फिर भी उसने आगामी भौतिकशास्त्र तथा खगोलविद्या के चिन्तन क्षेत्रों को प्रभावित किया। प्राकृतिक नियम को गणितीय अभिव्यक्ति के साथ जोड़ना, जो आधुनिक दर्शन एवं विज्ञान का मूलमंत्र है, पाइथेगोरियन दर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। माइलेशियन दार्शनिकों ने पुद्गल (Matter) का विवेचन किया तो पाइथेगोरस ने स्वरूप (Form) की व्याख्या की। स्वरूप अतीन्द्रिय, सामान्य और विज्ञानरूप है। जगत् में अभेद सामंजस्य और समन्वय इसी के कारण होते हैं। ग्रीक दर्शन में पुद्गल और स्वरूप की समस्या के पश्चात् परिणाम और सत्ता (Becoming and Being) की समस्या ने दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित किया। इनमें प्रमुख स्थान हेरेक्लाइटस का माना जाता है जिसके विचार बड़े ही महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक हैं।

हेरेक्लाइटस (Heraclitus: 535-475)

हेरेक्लाइटस का जन्म ऐफीसस के एक सामंत परिवार में हुआ था। जीवनभर वह असमझौतावादी व्यक्ति बना रहा और जनतंत्र के प्रति उसने सदैव ही घृणास्पद दृष्टि बनाए रखी। सामाजिक दृष्टि से, वह लोकप्रिय नहीं था। परन्तु बौद्धिक रूप में वह गम्भीर एवं योग्य चिंतक, एक विचारशील लेखक तथा स्वयं-शिक्षित दार्शनिक था, उसकी लेखनशैली बड़ी अस्पष्ट होने के कारण, उसे 'दुर्बोध' (the obscure) कहा गया।

हेरेक्लाइटस के अनुसार, "यह विश्व अविरल परिवर्तन की अवस्था में है।" जगत् में कोई वस्तु स्थाई नहीं है। स्थायित्व वास्तव में एक भ्रम है। वस्तुएं स्थाई प्रतीत होती हैं, किन्तु मूलतः वे निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं। हेरेक्लाइटस ने अग्नि या तेजस्व को परम तत्त्व बतलाया। समस्त परिवर्तनों का वही मूलाधार है। अग्नि ही सब प्रकार की वस्तुओं में परिवर्तित होती रहती है। अग्नि, जल और पृथ्वी में बदलती है, और पृथ्वी फिर जल तथा अग्नि में। परिवर्तन की अवस्था में, यही क्रम चलता रहता है। परिवर्तन में वस्तुएं कुछ खोती हैं और कुछ ग्रहण करती हैं। इस दृष्टि से जगत् में, सब कुछ अनित्य एवं क्षणिक हैं। परिणाम ही एकमात्र यथार्थता है। यह जगत् गति है, परिणाम है, धारा या प्रवाह है। यही जगत् का सार्वभौम नियम है। यहाँ यह स्मरणीय है कि बौद्ध-दर्शन में भी परिणाम (Becoming) को यथार्थता माना है। स्थायित्व, वास्तव में भ्रमात्मक है। प्रतीत्यसमुत्पाद तथा क्षणिकवाद के सिद्धांतों से इसकी पुष्टि करते हैं।

हेरेक्लाइटस ने संघर्ष, विरोध तथा समन्वय (Conflict, Negation and Synthesis) को बहुत महत्त्व दिया। विरोध तथा निषेध का अर्थ गति या परिवर्तन ही है। प्राथमिक एकता स्वतः गतिशील होती है। जब वह अन्य वस्तुओं में बदलती है जैसे अग्नि जल में, तब अग्नि अन्य भौतिक वस्तु के आधार में निषेधित हो जाती है।

पाइथेगोरस (Pythagoras: 570-500 B.C.)

सामोस नामक शहर में, पाइथेगोरस का जन्म हुआ। देश-वासियों के साथ राजनीतिक मतभेद होने के कारण, उसे अपना प्रिय जन्म-स्थान छोड़ना पड़ा। तब वह क्राटोना में जाकर बस गया जहाँ उसने 'पाइथेगोरियन समाज' की स्थापना की जिसका मूल उद्देश्य धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक एवं राजनीतिक शिक्षा देना था। पाइथेगोरस धार्मिक मार्गदर्शक होने के साथ-साथ उच्च कोटि का गणितज्ञ भी था। दोनों ही क्षेत्रों में, उसने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की।

पाइथेगोरस ने संख्या सिद्धांत (Number Theory) का प्रतिपादन किया जिसमें वस्तुओं के परिमाणात्मक सम्बन्धों को ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार जगत् में आकार (Form) और सम्बन्ध (Relation) मुख्य हैं। मापन, अवस्था, संतुलन, एकरूपता आदि को संख्या के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है। संख्याएं वे सत्य इकाइयां हैं जिनकी अन्य सभी वस्तुएं अभिव्यक्ति मात्र हैं। पाइथेगोरस के अनुसार, संख्याएं वस्तुओं के सिद्धांत हैं, न कि वस्तुओं का मूल द्रव्य जैसा कि माइलेशियन मत में माना गया है। संख्याओं से वस्तुओं के आकारगत (Formal) अथवा सम्बन्धात्मक (Relational) ढांचे का निर्माण होता है। वस्तुएं इन्हीं संख्याओं की प्रतियां मात्र हैं।

इस प्रकार यदि वस्तुओं का सार संख्या है तो जो कुछ संख्याओं के बारे में सत्य है, वही वस्तुओं के सम्बन्ध में सत्य होगा। संख्याओं में सम व असम (Even and Uneven) का भेद होता है। असम को दो से विभाजित नहीं किया जा सकता जबकि सम को किया जा सकता है। असम संख्याएं सीमित होती हैं, पर सम संख्याएं असीम हैं। ये असम और सम, ससीम और असीम, परिमित और अपरिमित, संख्याएं संख्या और यथार्थता का सार हैं।

प्रकृति स्वत: विरोधों का संगठन है, सम तथा असम संख्याओं का एक रूप है। संख्या सिद्धांत की दृष्टि से, पाइथेगोरस ने भौतिक जगत् (प्रकृति) की संख्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। बिन्दु एक, रेखाएं दो, आकार तीन तथा ठोस चार संख्याओं के साथ जुड़े हुए हैं। इसी तरह पृथ्वी घनमूल, अग्नि चतुष्फलक, वायु अष्टपदी और जल विंशफलक है। रेखाओं और वस्तुओं की सतहों को पाइथेगोरस ने स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में माना है जिनके बिना कोई भी वस्तु शरीर सम्भव नहीं हो सकता। आकाशीय आकार भौतिक वस्तुओं के कारण हैं और चूँकि आकारों को संख्याओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, इसलिए संख्याएं ही मूल कारण हैं। यहाँ तक कि नीतिशास्त्र के मूल्यों: प्रेम, मित्रता, न्याय, सद्गुण, निष्ठा, को संख्या के आधार पर बतलाया जा सकता है। प्रेम और मित्रता को आठ की संख्या के साथ जोड़ा जा सकता है। प्रेम और मित्रता सामजस्यपूर्ण हैं और आठ की संख्या भी सामंजस्यपूर्ण है।

(Dialectical Thinking) का जनक माना जाता है। संक्षेप में, 'निरन्तर परिवर्तन का सिद्धान्त' जिसे हमें हेरेक्लाइटस ने दिया, सत्य के इतना समीप है कि आज का विज्ञान भी अस्वीकार नहीं कर सकता। वस्तुतः दर्शन में 'परिवर्तन' को अनेकों रूपों में व्यक्त किया गया है।

ऐलीटिक मत (Eleatic School)

इस मत के सभी दार्शनिकों का दक्षिणी इटली के ऐली शहर से सम्बन्ध था। इसलिए वे सब ऐलीटिक मत के नाम से प्रख्यात हुए। जिस 'निरन्तर परिवर्तन' के सिद्धान्त की स्थापना हेरेक्लाइटस ने की, उन्होंने उसे असम्भव बतलाया क्योंकि ऐसी स्थिति में किसी वस्तु के स्थाई स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं रहेगा। इन मत के कुछ प्रमुख दार्शनिकों के विचार यहाँ प्रस्तुत हैं।

जेनोफेनीज (Xenophanes: 570-480 B.C.)

ऐलीटिक मत के अग्रदूत, जेनोफे़नीज का जन्म आयोनियन क्षेत्र में हुआ था। वैसे वह अधिकतर दक्षिण इटली में ही रहा। वह दार्शनिक होने के साथ-साथ, उच्च कोटि का कवि भी था।

यूनानी चिन्तन परम्परा में, जेनोफे़नीज़ पहला चिन्तक था जिसने संशयवादी (Scepticism) का सहारा लिया। ईश्वरवाद में आस्था रखते हुये भी वह संशयवादी था। उसने कहा कि वस्तुओ एवं देवों के यथार्थ स्वरूप को जानना संभव नहीं है, पर हम अपनी धर्मविद्या (theology) सम्बन्धी युक्तियों को प्रस्तुत करने में तो स्वतन्त्र हैं जो संभवतः सत्य के समीप हों। इस प्रकार जेनोफे़नीज़ एक दार्शनिक की बजाय मीमांसात्मक धर्मविज्ञानी कहीं अधिक था।

जेनोफे़नीज ने अपने समय में व्याप्त बहुदेववाद की विचारधारा का विरोध किया। उसने एक ही ईश्वर में आस्था प्रकट की। ईश्वर एक तथा अपरिवर्तनशील है। वह समस्त सत्ता का मूलाधार है। ईश्वर विश्व का नित्य सिद्धान्त है। वह निराकार तथा अन्तर्यामी है। वह सर्वत्र व्याप्त है और उसमें किसी प्रकार के मानव गुणों का आरोपण करना भूल है। वह सबका द्रष्टा, चिन्तक एवं श्रोता है। उसका कोई आदि तथा अन्त नहीं है। ईश्वर ही जगत् और समस्त जगत् ईश्वर है इस प्रकार जेनोफेनीज़ ने सर्वेश्वरवाद (Pantheism) को स्वीकार किया। ईश्वर विश्व का नित्य सिद्धान्त है, वह एक और अनेक दोनों हैं और सब कुछ उसमें ही व्याप्त है।

जेनोफेनीज़ का उन प्राचीन बुद्धिजीवियों में स्थान है जिन्होंने पाइथेगोरस की रहस्यवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया, हालांकि उसका ईश्वरवाद भी एक प्रकार के रहस्यवाद में विलीन हो गया जो समकालीन विचार से भिन्न कोई नवीन चीज नहीं थी। वह नित्य तथा अपरिणामी ईश्वर और निरन्तर परिवर्तनशील भौतिक जगत् के बीच विरोध का भी कोई संतोषजनक समाधान नहीं ढूढ पाया।

प्रत्येक वस्तु का अपनी विरोधी अवस्था में परिवर्तित हो जाना स्वाभाविक है। इसलिए समस्त वस्तुओं में विरोधी गुणों का संगठन होता है। प्रत्येक वस्तु स्वयं विरोधी गुणों के आधार पर आगे बढ़ती है। गतिशील जीवन के लिए, विरोध आवश्यक है। विरोध का अभाव निर्जीविता है। इस प्रकार हेरेक्लाइटस ने गुणात्मक परिवर्तन (Qualitative changes) को स्वीकार किया। संगीत क्या है? धीमी तथा तेज ध्वनियों का वह एक परिणाम है इसी तरह अन्य सभी वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन मिलते हैं।

संघर्ष के आधार पर यह जगत् नानारूपों में परिवर्तित होता रहता है। संघर्ष ही सब वस्तुओं का जनक है। संघर्ष या विरोध के अभाव में, यह संसार सारहीन होगा और कोई भी प्रगति संभव नहीं हो पायेगी। हेरेक्लाइटस की दृष्टि में विरोध का अर्थ आत्यन्तिक विरोध (Contradiction) नहीं है। विरोध का सीधा अर्थ "परिवर्तन" है। विरोध की दृष्टि से, पक्ष का विपक्ष में परिवर्तन होता है फिर पक्ष तथा विपक्ष का संघर्ष समन्वय को उत्पन्न करता है। अतः विरोध प्रगति तथा समन्वय का जनक है। समस्त परिवर्तन क्रमानुसार चलता रहता है। उसमें तनिक भी आकस्मिकता नहीं है। अन्य शब्दों में, इस जगत् में एकता है, किन्तु यह एकता विरधों के संगठन पर आधारित है। सभी वस्तुएं एक से निकलती हैं, और एक सबसे बनता है। किन्तु अनेक में, एक की तुलना में जिसे हेरेक्लाइटस ने 'ईश्वर' की संज्ञा दी, यथार्थता कम होती है। ईश्वर पूर्ण यथार्थ है।

स्पष्टतः हेरेक्लाइटस के दर्शन में, सापेक्षवाद तथा बुद्धिवाद (relativism and rationalism) दोनों का संगठित रूप मिलता है। जहाँ परिवर्तन है वहाँ सापेक्षता है जैसा कि बौद्ध दर्शन में है। बौद्धवाद की दृष्टि से, वह अग्नि को विश्व का सार्वभौमिक नियम मानता है। अग्नि विशुद्ध विज्ञान रूप है और सब कुछ इसी परमतत्त्व का परिणाम है। वह दिक् तथा काल से परे है। इन्द्रियाधारित ज्ञान, हेरेक्लाइटस के अनुसार क्षणिक एवं मन्द होता है। यह अप्रगति की ओर ले जाने वाला मार्ग है। प्रगति-मार्ग-विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति है जो विशुद्ध विज्ञान या चेतन द्वारा उत्पन्न होता है। विशुद्ध विज्ञान निरन्तर जलने वाली अग्नि की ज्योति है जिसका दर्शन ही सर्वोत्तम ज्ञान है।

हेरेक्लाइटस के दर्शन ने, पूर्णतः व्यवस्थित न होते हुए भी, भावी चिन्तन को बड़ा प्रभावित किया। उसके विशुद्ध विज्ञान तथा सापेक्षावाद से प्राटेगोरस, क्षणिकवाद एवं सापेक्षवाद से प्लेटो पुनः सापेक्षवाद से सोफिस्ट विद्वान और बुद्धिवाद से स्टोइक्स प्रभावित हुए। नीत्शे ने उसके संघर्ष सिद्धान्त; ह्यूम, विलियम जेम्स और बर्गसां ने उसके क्षणिकवाद तथा परिवर्तनवाद; और हेगेल ने उसके विरोध तथा समन्वय विचारों से बहुत कुछ सीखा। कार्लमार्क्स ने तो हेरेक्लाइटस के 'द्वंद्वात्मक चिन्तन'

(Dialectical Thinking) का जनक माना जाता है। संक्षेप में, 'निरन्तर परिवर्तन का सिद्धान्त' जिसे हमें हेरेक्लाइटस ने दिया, सत्य के इतना समीप है कि आज का विज्ञान भी अस्वीकार नहीं कर सकता। वस्तुतः दर्शन में 'परिवर्तन' को अनेकों रूपों में व्यक्त किया गया है।

ऐलीटिक मत (Eleatic School)

इस मत के सभी दार्शनिकों का दक्षिणी इटली के ऐली शहर से सम्बन्ध था। इसलिए वे सब ऐलीटिक मत के नाम से प्रख्यात हुए। जिस 'निरन्तर परिवर्तन' के सिद्धान्त की स्थापना हेरेक्लाइटस ने की, उन्होने उसे असम्भव बतलाया क्योंकि ऐसी स्थिति में किसी वस्तु के स्थाई स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं रहेगा। इस मत के कुछ प्रमुख दार्शनिकों के विचार यहाँ प्रस्तुत हैं।

जेनोफेनीज (Xenophanes: 570-480 B.C.)

ऐलीटिक मत के अग्रदूत, जेनोफे़नीज का जन्म आयोनियन क्षेत्र में हुआ था। वैसे वह अधिकतर दक्षिण इटली में ही रहा। वह दार्शनिक होने के साथ-साथ, उच्च कोटि का कवि भी था।

यूनानी चिन्तन परम्परा में, जेनोफे़नीज़ पहला चिन्तक था जिसने संशयवादी (Scepticism) का सहारा लिया। ईश्वरवाद में आस्था रखते हुये भी वह संशयवादी था। उसने कहा कि वस्तुओ एवं देवों के यथार्थ स्वरूप को जानना संभव नहीं है, पर हम अपनी धर्मविद्या (theology) सम्बन्धी युक्तियों को प्रस्तुत करने में तो स्वतन्त्र हैं जो संभवतः सत्य के समीप हों। इस प्रकार जेनोफे़नीज़ एक दार्शनिक की बजाय मीमांसात्मक धर्मविज्ञानी कहीं अधिक था।

जेनोफे़नीज ने अपने समय में व्याप्त बहुदेववाद की विचारधारा का विरोध किया। उसने एक ही ईश्वर में आस्था प्रकट की। ईश्वर एक तथा अपरिवर्तनशील है। वह समस्त सत्ता का मूलाधार है। ईश्वर विश्व का नित्य सिद्धान्त है। वह निराकार तथा अन्तर्यामी है। वह सर्वत्र व्याप्त है और उसमें किसी प्रकार के मानव गुणों का आरोपण करना भूल है। वह सबका द्रष्टा, चिन्तक एवं श्रोता है। उसका कोई आदि तथा अन्त नहीं है। ईश्वर ही जगत् और समस्त जगत् ईश्वर है इस प्रकार जेनोफेनीज़ ने सर्वेश्वरवाद (Pantheism) को स्वीकार किया। ईश्वर विश्व का नित्य सिद्धान्त है, वह एक और अनेक दोनों हैं और सब कुछ उसमें ही व्याप्त है।

जेनोफेनीज़ का उन प्राचीन बुद्धिजीवियों में स्थान है जिन्होंने पाइथेगोरस की रहस्यवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया, हालांकि उसका ईश्वरवाद भी एक प्रकार के रहस्यवाद में विलीन हो गया जो समकालीन विचार से भिन्न कोई नवीन चीज नहीं थी। वह नित्य तथा अपरिणामी ईश्वर और निरन्तर परिवर्तनशील भौतिक जगत् के बीच विरोध का भी कोई संतोषजनक समाधान नहीं ढूँढ पाया।

पार्मेनाइडीज (Parmenides: 540-470 B.C.)

पार्मेनाइडीज ऐलीटिक मत का तत्त्वज्ञानी था । उसने हेरेक्लाइटस के इस सिद्धांत को कि 'प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है', स्वीकार नहीं किया और कहा कि एक वस्तु में दो विरोधी गुणों का होना असंभव है । एक गुण दूसरा गुण कैसे हो सकता है ? कोई वस्तु 'यह है' और 'वह' दोनों ही सही नहीं हो सकते । 'है' की उत्पत्ति 'है' से ही हो सकती है । जो 'वस्तु है वह वही है ।' वह अन्य नहीं हो सकती । इस प्रकार जो 'कुछ है' वह सदैव 'वही' रहता है । उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता । पार्मेनाइडीज केवल एक ही सत्ता (Being) को स्वीकार करता है । वह सत्ता अविभाज्य एवं अपरिवर्तनशील है । सत्ता में निरन्तरता होते हुए भी वह गतिहीन है क्योंकि जगत् में कोई रिक्त स्थान नहीं है ।

पार्मेनाइडीज ने सत् और विचार (बोध) में कोई भेद नहीं किया । दोनों एक ही हैं । जिसका बोध नहीं हो सकता उसकी सत्ता असंभव है । सत् में कोई परिणाम नहीं होता । वह क्रिया तथा प्रतिक्रिया से परे है । सत् पूर्ण नित्य और निरपेक्ष है । सत् सदैव समरस रहता है । गति या परिवर्तन भ्रांति है क्योंकि परिवर्तन का अर्थ है असत्, और सत् कभी असत् नहीं हो सकता है । सत् यदि सत् में परिणित होता है तो यह कोई परिवर्तन नहीं है और सत् का असत् में परिणित होना असंभव है । स्पष्टतः पार्मेनाइडीज गति या परिणाम को भ्रान्ति मानता है । इससे यह सिद्ध होता है कि जगत् की वास्तव में कोई उत्पत्ति नहीं होती ।

ग्रीक दर्शन में पार्मेनाइडीज को विज्ञानवाद (Idealism) का संस्थापक माना जाता है । वह सत् और चित् को एक ही कहता है । सत् विज्ञानरूप है । वह जड़ नहीं है क्योंकि जड़ता असत् की द्योतक है । इस दृष्टि से उसे अद्वैतवादी कहा जा सकता है । किन्तु कुछ विद्वानों का मत है वह सत् को अनन्त विज्ञान और अनन्त जड़ का सम्मिश्रण मानता है । पार्मेनाइडीज ने इन्द्रियानुभव को निम्न स्तर पर रखा और परमतत्त्व को विज्ञान (चित) के साथ जोड़ा । विज्ञानस्वरूप विशुद्ध सत्ता का ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है । वही जीवन को व्यवहार से परमार्थ की ओर ले जाता है ।

पार्मेनाइडीज तथा हेरेक्लाइटस दोनों ने परमतत्त्व को विज्ञानस्वरूप माना है हेरेक्लाइटस ने उसे 'सार्वभौम नियम' और पार्मेनाइडीज ने 'विशुद्ध सत्ता' की संज्ञा दी । दोनों में अन्तर यह नहीं है कि एक ने परमतत्त्व को गतिशील तथा परिणामी कहा और दूसरे ने अपरिवर्तनशील तथा नित्य माना । स्पष्टतः एक के लिए परमतत्त्व 'अनित्य' और दूसरे के लिए 'नित्य' है ।

हेरेक्लाइटस के समान, पार्मेनाइडीज का भी आगामी दार्शनिक चिंतन पर प्रभाव पड़ा । विद्वानों ने उससे यह नहीं ग्रहण किया कि परिवर्तन असंभव है, वल्कि यह स्वीकार किया कि परम द्रव्य अविनाशी है । स्पष्ट रूप से द्रव्य का विश्लेपण नहीं किया । किन्तु द्रव्य की धारणा उसके दर्शन में सन्निहित है । इस परम द्रव्य की

परिकल्पना हमें ऐसे नित्य ध्येय (Subject) के रूप में मिलती है जिसमें अनेक विधेयों (Predicates) की विविधता है। यही उसके दर्शन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

जेनो (Zeno: 490–430)

वह ऐली शहर का एक राजनीतिज्ञ और पार्मेनाइडीज का प्रिय शिष्य था। जेनो ने भी गति और परिवर्तन को अस्वीकार किया। वह 'बहुत्ववाद' (Pluralism) का विरोधी था। एक ही सम्पूर्ण तत्त्व को विभिन्न संख्याओं में नहीं बाँटा जा सकता। यदि उसे बांटा जाता है तो एक ही सत्ता को ससीम और असीम कहना पड़ेगा जो आत्म-विरोधी होगा। यदि यह कहा जाये कि सत्ता आकाश में गतिशील है तो आकाश को भी किसी के अन्तर्गत मानना पड़ेगा और इस तरह सत्ता का अन्त न मिलने पायेगा। संक्षेप में, सत्ता में गति नहीं होती, क्योंकि सत्ता वास्तव में कहीं जाती नहीं। गति का न आरम्भ है, न मध्य और न अन्त। अत: गति असंभव है।

मेलिसस (Melissus: 500–440B.C.)

वह भी ऐलीटिक मत का दार्शनिक था। सामोस नगर में उसका जन्म हुआ। उसने पार्मेनाइडीज की इस बात को स्वीकार किया कि सत्ता (Being) एक है। सत्ता की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उत्पत्ति की स्वीकारोक्ति का अर्थ होगा अ-सत्ता (Non-being) की मान्यता। अ-सत्ता से सत्ता की उत्पत्ति होना असंभव है। अत: नित्य है। कोई आकाश (रिक्त स्थान) नहीं है, क्योंकि अ-सत्ता नहीं है। चूँकि आकाश न-ीं है इसलिये गति नहीं है। गति न होने के कारण, न संयोग है और न वियोग। अत: परिवर्तन भी नहीं है। गति या परिवर्नन एक भ्रान्ति है। इन्द्रिया गति और परिवर्तन की स्थिति के सम्बन्ध मे भ्रम उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार मेलिसस ने पार्मेनाइडीज के तर्कों को और अधिक पुष्ट किया। 'सत्ता शून्य आकाश' का खण्डन करते हुए, उसने सत् को अनन्त विज्ञान के रूप में रखा जो एक प्रकार से भौतिक अनन्तता का विरोध है। वस्तुत: भौतिकता भी तो एक सत् है।

बहुतत्त्ववादी मत (Pluralistic School)

ऐलीटिक मत के दार्शनिकों ने गति तथा बहुतत्त्ववाद की कड़ी आलोचना की। लेकिन उनके विचार एम्पेडोक्लीज, अनेक्जेगोरस, ल्यूसीपस और डेमॉक्रीट्स को मान्य नहीं हुए। इन विद्वानों ने अपने दार्शनिक विचारो को अपने ही ढंग से प्रस्तुत किया जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया है।

एम्पेडोक्लीज (Empedocles: 495–435 B.C.)

वह पश्चिमी सिसली के एक्रेग्रास नामक शहर में पैदा हुआ था। उसका पिता बहुत धनी तथा सामाजिक प्रेरणा देने वाला व्यक्ति था। उसका परिवार जनतंत्र का समर्थक था। एम्पेडोक्लीज धार्मिक स्वभाव का व्यक्ति था। जिसके उपदेश सुनने के लिए हजारों नर-नारियाँ तत्पर रहते थे। वह वक्ता, राजनीतिज्ञ और दार्शनिक होने के साथ-साथ कवि और वैद्य भी था।

एम्पेडोक्लीज के अनुसार, इस जगत् की न उत्पत्ति होती है और न विनाश। जगत् के विभिन्न तत्त्वों में संयोग तथा वियोग चलता रहता है। तत्त्व चार होते हैं– पृथ्वी, अग्नि, जल, और वायु। यह चार महाभूत ही सत् हैं। वे स्वतः अविनाशी तथा अपरिवर्तनशील हैं, किन्तु जगत् की समस्त वस्तुओं के मूल कारण हैं। इनके संयोग से शरीर बनता है और उनके वियोग से शरीर का विनाश होता है। जहाँ तक संयोग तथा वियोग के कारणों का प्रश्न है, वह, एम्पेडोक्लीज के अनुसार, प्रेम और संघर्ष में सन्निहित है जिन्हें आज क्रमशः आकर्पण तथा विरोध कहा जाता है। प्रेम संयोग का जनक है और विरोध वियोग का। मनुष्य इन्हीं चार तत्त्वों का एक संघात है। उसमें उन तत्त्वों को जानने की क्षमता होती है।

प्रारम्भ में, ये चारों महाभूत दिव्यलोक में संयुक्त थे। जब विरोध का प्रभुत्व हुआ और जब उसने प्रेम पर विजय प्राप्त करली, तब इन महाभूतों का वियोग हो गया। उसी क्षण से सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ हुई। प्रलय की अवस्था में, ये चारों महाभूत दिव्यलोक में चले जाते हैं। इस प्रकार प्रलय और सृष्टि का क्रम चलता रहता है। यह स्मरण रहे कि आत्मा, परमात्मा और अदृष्ट का इस क्रम में कोई स्थान नहीं है। चारों महाभूत परमाणु रूप हैं। वे नित्य अविकारी तथा मौलिक हैं। जगत् के परिवर्तनों में कोई उद्देश्य निहित नहीं है। केवल आकस्मिकता और अनिवार्यता के कारण ये परिवर्तन संभव हैं। प्रलय और सृष्टि का एक अनन्त क्रम चलता रहता है। जब प्रेम के कारण विभिन्न तत्त्व संगठित हो जाते हैं, संघर्ष धीरे-धीरे उन्हें पृथक कर देता है। लेकिन जब संघर्प उन्हें पृथक कर देता है तब प्रेम उन्हें एकत्रित कर देता है। अतएव प्रत्येक द्रव्यों का प्रत्येक संघात अस्थाई है। प्रेम और संघर्ष, सहित केवल तत्त्व ही नित्य है।

स्पष्टतः एम्पेडोक्लीज ने नित्य और अनित्य, स्थायित्व तथा परिवर्तन, के समन्वित रूप को दार्शनिक क्षेत्र में रखने का प्रयास किया। उसके दर्शन में चार तत्त्वों का विश्लेषण कोई नवीनता नहीं है। उनके विपय में पहले से ही कुछ न कुछ कहा जा चुका है। लेकिन उसकी मौलिकता इस बात में है कि उसने प्रेम और संघर्प के सिद्धांतों के आधार पर 'परिवर्तन' की व्याख्या प्रस्तुत की। उसने एकत्ववाद (Monism) का खण्डन किया और प्रकृति के क्रम में, प्रयोजन के स्थान में, आकस्मिकता तथा अनिवार्यता को प्रमुख स्थान दिया। इस अर्थ में एम्पेडोक्लीज का दर्शन पार्मेनाइडीज की तुलना में अधिक वैज्ञानिक है।

अनेक्जगोरस (Anaxagoras: 500–428 B.C.)

वह आयोनिया के क्लेजोमेनी नामक शहर में पैदा हुआ था। बाद में, वह एथेन्स में आकर बस गया था जहां पेरीक्लीज जैसे राजनीतिज्ञों के साथ उसकी मित्रता हो गई। कुछ समय पश्चात् अनेक्जगोरस पर नास्तिकता का आरोप लगा दिया गया जिसके कारण उसे एथेन्स छोड़ना पड़ा और वह लैम्पसाकस में जाकर बस

गया। वह दार्शनिक तथा गणितज्ञ दोनों ही था। अनेक्जगोरस को पाइथेगोरस, हेरेक्लाइटस या पार्मेनाइडीज की कोटि में तो नहीं रखा जा सकता, पर उसका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं है। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने एथेन्स निवासियों का दर्शन से परिचय कराया। यह कहने में भी वह प्रथम था कि मन शारीरिक परिवर्तनों का कारण है।

अनेक्जगोरस ने यह स्वीकार किया कि निरपेक्ष (पूर्ण) परिवर्तन असंभव है। एक गुण दूसरा गुण नहीं बन सकता। उसने केवल सापेक्ष परिवर्तन को स्वीकार किया उसने यह भी माना कि विभिन्न प्रकार के तत्त्वों में संयोग तथा वियोग होता रहता है। लेकिन एम्पेडोक्लीज के चार महाभूतों को ही उसने अन्तिम तत्त्व नहीं कहा। अनेक्जगोरस की दृष्टि में, द्रव्य ही नहीं हैं। ये चारों तत्त्व असंख्य द्रव्यों के मिश्रण मात्र हैं। ये द्रव्य मौलिक और अनन्त हैं। यह विविध गुण सम्पन्न जगत् केवल चार तत्त्वों के आधार पर विश्लेषित नहीं किया जा सकता। हर एक द्रव्य के असंख्य परमाणु (Atoms) हैं जिनके आधार पर जगत् की समस्त वस्तुओं, रंगों, गुणों, आदि की अभिव्यक्ति होती है। इन परमाणुओं में गुणात्मक भेद होता है।

सापेक्ष गति (परिवर्तन) के सम्बन्ध में अनेक्जगोरस ने स्वयं यह प्रश्न किया कि वह उत्पन्न कैसे होती है? उसकी यह मान्यता है कि जड़ तत्त्वों में स्वतः गति उत्पन्न नहीं होती। गति का कारण कोई ऐसा चेतन तत्त्व ही हो सकता है जो सर्वशक्तिमान हो। इसी चेतन-युक्त तत्त्व को उसने 'परम विज्ञान' (Nous) कहा। यह परम विज्ञान समस्त जगत् का अधिष्ठाता तथा तत्त्वों में गति उत्पन्न करने वाला है। वह समस्त जगत् का मूलाधार है। यही परम विज्ञान विश्व में सामंजस्य और एकरूपता उत्पन्न करता है।

परम विज्ञान का दूसरा नाम 'मन' (Mind) है। मन का आधिपत्य उन समस्त वस्तुओं पर है जिनमें जीव हैं। मन असीम और आत्म-शासित है। वह विशुद्ध चेतन है। मन ही समस्त गति का कारण है। मन सर्वत्र एकरूप है। जिस प्रकार वह मनुष्यों में है उसी प्रकार पशुओं में है। अन्य सभी अन्तर शारीरिक बनावटों का कारण है। कुछ विद्वानों की यह राय है कि अनेक्जगोरस ने 'मन' को दर्शन के क्षेत्र में प्रस्तुत अवश्य किया। किन्तु उसने उसे अधिक उपयोगी नहीं बनाया। उसने एक प्रकार की यांत्रिक व्याख्या दी और जिन कारणों को वह न जान पाया, उनके स्थान पर मन का सहारा ले लिया, उसने किसी प्रकार के दैवी हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं किया। संभवतः नीति एवं धर्म के विषय में उसने विचार ही नहीं किया। जैसा कि उसके विरोधियों का कहना है, वह निरीश्वरवादी था। फिर भी वह जगत् की व्यवस्था में प्रयोजनवादी स्वरूप को मानता है। मन उद्देश्यमूलक सिद्धान्त है जिसके कारण जगत् पूर्णतः व्यवस्थित है। मन ने ही जगत्-व्यवस्था का प्रारम्भ किया। मन जगत् में व्याप्त है। आधुनिक दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि मन जगत् से परे

होते हुए भी उसमें व्याप्त है। एनेक्जगोरस भले अपनी यांत्रिक व्याख्या में सफल नहीं हो पाया, पर वह ग्रीक दर्शन में 'दार्शनिक विज्ञानवाद' के प्रमुख चिंतकों में से एक है, हालांकि यह विज्ञानवाद भी एक खोखले चिंतन का प्रतीक है। उसमें भौतिक सत् की उपेक्षा की गई है जो जगत् का मौलिक आधार है।

डेमॉक्रीटस (Democritus: 460–370)

एम्पेडोक्लीज तथा अनेक्जगोरस के विचारों ने डेमॉक्रीटस के परमाणुवाद (Atomism) के लिए मार्ग प्रशस्त किया। परमाणुवाद के सिद्धान्त की स्थापना ल्यूसिपस और डेमॉक्रीटस ने की पर ल्यूसिपस के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। संभवतः उसका समय 440 ई. पू. रहा होगा। कहा जाता है कि वह पार्मेनाइडीज और जे.नो से अधिक प्रभावित था। डेमॉक्रीटस अबदेरा नामक औद्योगिक नगर में पैदा हुआ था। इसी शहर में ल्यूसिपस ने अपने स्कूल की स्थापना की थी। डेमॉक्रीटस ल्यूसिपस का ही शिष्य था। डेमॉक्रीटस ने अपने जीवन काल में अधिक भ्रमण किया। भौतिक-शास्त्र तथा गणित से लेकर तत्वज्ञान और नीतिशास्त्र के क्षेत्र में उसने बहुत कुछ लिखा। वह उच्चकोटि का गणितज्ञ था।

डेमॉक्रीटस ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की इस बात को स्वीकार किया कि सत्ता में छोटे-छोटे परमाणु होते हैं जो अपरिवर्तनशील हैं। किन्तु उसने उनमें गुणात्मक भेदों को न मानकर, परिणामात्मक भेदों को स्वीकार किया। उसने कहा कि इन परमाणुओं में गति, संयोग तथा वियोग, प्रेम और सघर्ष के कारण नहीं होते। ये परमाणु विभिन्न गुणों के केन्द्र भी नहीं हैं। परमाणु अति सूक्ष्म होते हैं जो एक दूसरे से आकर, वजन, रूप आदि में भिन्न होते हैं। इन परमाणुओं (भौतिक इकाइयों) में गति स्वतः निहित होती है। गति उनका धर्म है। परमाणु और गति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

ऐलीटिक दार्शनिकों की भांति, डेमॉक्रीटस यह मानता है कि पूर्ण परिवर्तन असंभव है। सत्ता मूलतः स्थाई एवं अविनाशी है, पर साथ-साथ यह भी सही है कि वस्तुएँ गतिशील हैं। गति या परिवर्तन के लिए रिक्त स्थान (आकाश) की आवश्यकता है, परमाणु तथा आकाश दोनों ही मूल सत्ताएँ हैं। परमाणुओं की कोई निश्चित संख्या नहीं है। वे आकाश में असीम संख्याओं में गतिशील हैं। इस प्रकार परमाणुवादी आकाश (Spacc) की स्थिति को भी स्वीकार करते हैं।

प्रत्येक परमाणु अति सूक्ष्म अविभाज्य इकाई (Indivisible unit) है। सरल एवं अविनाशी है। उसमें विस्तार तो अवश्य होता है, पर वह एक भौतिक अविभाज्य परमाणु है अर्थात् भौतिक दृष्टि से, परमाणु को अलग-अलग विभाजित नहीं किया जा सकता। परमाणु गणित का विन्दु नहीं है। सभी परमाणु गुण में समान होते हैं। वे जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि आदि नहीं हैं लेकिन सरल, सूक्ष्म,

भौतिक इकाइयाँ हैं जो परस्पर आकार, रूप, भार, व्यवस्था और स्थिति में भिन्न हैं। उनकी कहीं से उत्पत्ति नहीं हुई और न किसी ने उन्हें निर्मित किया है। इसलिए वे अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी होते हैं। वे अतीन्द्रिय, नित्य जड़ तत्त्व हैं। जो कुछ वे हैं, वही हैं, वही रहे हैं और सदैव वैसे ही रहेंगे, हालांकि वैज्ञानिक दृष्टि से, ऐसा निष्कर्ष खरा नहीं उतर सकता। आज का भौतिक विज्ञान बहुत कुछ आगे बढ़ चुका है जिसने क्रांतिकारी गवेषणात्मक दृष्टि से, समस्त पूर्व विचारों को झकझोर दिया है।

विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ भौतिक परमाणुओं से ही उत्पन्न होती हैं। समस्त वस्तुएँ (Bodies) परमाणु और आकाश के संघात हैं। उत्पत्ति का अर्थ 'संयोग' और विनाश का अर्थ 'वियोग' है। संघातों में मौलिक भिन्नता पाई जाती, क्योंकि उनका निर्माण विभिन्न परमाणुओं से होता है। वे एक दूसरे पर सीधे क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं। यहां प्रश्न यह है कि उनमें संयोग तथा वियोग क्यों होता है ? क्या कारण है ? डेमॉक्रीटस के अनुसार, उनमें स्वभावतः गति होती है अर्थात् उनमें यांत्रिक नियम होते हैं जिनके कारण उनमें गतिशीलता है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु या घटना का कोई न कोई न कोई आधार अवश्य होता है। लेकिन गति का स्वतः कोई कारण नहीं होता उसी भांति जिस भांति परमाणुओं का कोई कारण नहीं होता। अतएव परमाणु तथा गति का कोई अन्तिम कारण नहीं है। उनका कोई प्रयोजन भी नहीं है।

जगत् के विकास को डेमॉक्रीटस ने इस प्रकार विश्लेपित किया है कि परमाणु भारी होते हैं और नीचे की ओर गिरते हैं। बड़े परमाणु अधिक वेग से गिरते हैं और हल्के परमाणुओं को ऊपर की ओर गतिशील होने को बाध्य कर देते हैं। इस क्रिया से तीव्र गति उत्पन्न होती है जो दूर-दूर तक जाती है। फलतः समान आकार और भार के परमाणु संगठित हो जाते हैं और जो अधिक भारी परमाणु होते हैं वे केन्द्र में रहते हैं जिनसे वायु उत्पन्न होती है। फिर जल पैदा होता है। तब ठोस पृथ्वी आती है। हल्के परमाणुओं से अन्य नक्षत्र बनते हैं। इस प्रकार अनेक रूप जगत् उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक जगत् का अपना एक केन्द्र होता है। उसकी अपनी परिधि भी होती है। कुछेक जगतों (व्यवस्थाओं = System) में सूर्य या चांद नहीं होता। कुछ नक्षत्र हमारी पृथ्वी से अधिक बड़े होते हैं। पृथ्वी भी इन्हीं नक्षत्रों में से एक है। गीली पृथ्वी से जीव उत्पन्न होता है। अग्नि के पर-माणु जो समस्त जीवों में संगठित हैं जीवित शरीरों को ताप प्रदान करते हैं। मानव आत्माओं में भी उनका आधिक्य पाया जाता है।

ज्ञान और मनोविज्ञान (Knowledge and Psychology)

डेमॉक्रीटस के अनुसार, आत्मा भौतिक परमाणुओं से अलग तत्व नहीं है। आत्मा परमाणुओं के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होती है। आत्मा प्रत्यक्ष एवं बुद्धि के

द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है। विभिन्न प्रकार के गुण जो वस्तुओं में प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में वस्तुओं में नहीं होते। वे उन परमाणुओं के संयोग के परिणाम हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों में ही होते हैं। परमाणुओं में स्वतः आकार, संख्या तथा परिमाण के अतिरिक्त अन्य गुण-भेद नहीं होते। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हमें अच्छा ज्ञान नहीं मिल पाता है। प्रत्यक्ष से केवल इतना ज्ञान होता है कि वस्तुएँ हमें कैसे प्रभावित करती हैं। प्रत्यक्ष के द्वारा हम परमाणुओं को–जैसे वे हैं वैसे–देख नहीं सकते। उनके विषय में चिंतन किया जा सकता है। अतः डेमॉक्रीटस के अनुसार, इन्द्रिय प्रत्यक्ष 'अस्पष्ट ज्ञान' है, चिंतन, जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आगे बढ़ जाता है और परमाणुओं तक पहुँचता है, 'स्पष्ट ज्ञान' है।

स्पष्टतः डेमॉक्रीटस उसी तरह बुद्धिवादी था जिस प्रकार अन्य ग्रीक दार्शनिक थे। उसने बौद्धिक चिन्तन को स्पष्ट ज्ञान कहा। लेकिन यह चिंतन इन्द्रिय प्रत्यक्ष से स्वतन्त्र नही है क्योंकि जहाँ इन्द्रिय प्रत्यक्ष समाप्त होता है वहां से बौद्धिक चितन प्रारम्भ होता है। बुद्धि आत्मा की सर्वोत्तम क्रिया है। आत्मा और बुद्धि एक ही हैं। बुद्धि की सर्वोत्तमता का प्रभाव डेमॉक्रीटस के नैतिक विचारों पर भी पड़ा। मानव आचरण का उद्देश्य कल्याण है। कल्याण से तात्पर्य इन्द्रिय सुख से नहीं है, वरन् बुद्धि के समस्त अधिकरणों (Faculties) की संतुष्टि से है। आंतरिक आनन्द आत्मा की शांति, सामंजस्यता एवं निडरता पर निर्भर है। जितनी ही इच्छाएँ कम होंगी उतनी ही निराशाएँ कम होंगी। सुखी होने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग अपनी आत्मिक शक्तियों को जानना है। सुन्दर क्रियाओं के चिंतन से सुख प्राप्त होता है। सभी सद्गुण अच्छे हैं क्योंकि उनसे आनन्द मिलता है। सद्गुणों में प्रमुख न्याय एवं कृपालुता है। मानव को सही काम करना चाहिये, भय के कारण नहीं, वरन् कर्त्तव्य की भावना से ओत–प्रोत होकर। राज्य के प्रति भी नागरिकों को आज्ञाकारिता दिखानी चाहिये, क्योंकि अच्छी तरह व्यवस्थित राज्य नागरिकों की भली-भांति सुरक्षा कर सकता है। डेमॉक्रीटस ने एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें सभी लोग संयम और सावधानी से जीवन-यापन करें। केवल इन्द्रिय सुखों में लिप्त न रहें और बौद्धिक चिंतन को अपना लक्ष्य बनायें। संक्षेप में, डेमॉक्रीटस ने अपने दर्शन में भौतिकवाद (परमाणुवाद) तथा सुखवाद (बौद्धिक आनन्द) के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया।

डेमॉक्रीटस ने अपनी परमाणुवादी व्यवस्था में देवों (Gods) की सत्ता भी स्वीकार की। लेकिन वे परमाणुओं के ही संघात हैं। मनुष्य के समान, देव भी मरणशील हैं। पर मनुष्य की तुलना में, देव अधिक शक्तिशाली होते हैं, क्योंकि उनकी आत्माओं में बुद्धि का आधिक्य होता है। आदमी देवों को स्वप्न आदि के माध्यम से जान पाता है। देव मानव व्यवस्थाओं में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते। अतः

उनसे किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए। अन्य वस्तुओं की भांति देव भी परमाणुओं की गति के नियमों के अधीन होते हैं।

डेमॉक्रीटस और अनेक्जगोरस दोनों ही यद्यपि परमाणुवादी हैं, पर दोनों के परमाणुवाद में मौलिक भिन्नताएं हैं जिन्हें यहां सरलता से समझा जा सकता है :—

1. अनेक्जगोरस ने उन असंख्य द्रव्यों को माना जिनमें गुणात्मक भेद होते हैं, लेकिन डेमॉक्रीटस ने परमाणुओं के परिमाणात्मक भेदों जैसे आकार, संख्या परिमाण, को ही स्वीकार किया।
2. अनेक्जगोरस के असंख्य द्रव्य छोटे से छोटे परमाणुओं में विभक्त हो सकते हैं, लेकिन डेमॉक्रीटस के परमाणु सरल भौतिक इकाइयाँ हैं जो अविभाज्य हैं।
3. अनेक्जगोरस रिक्त आकाश के विषय में कुछ नहीं कहता। वह मानता है कि यथार्थता प्रत्येक स्थान में गुणात्मक है; लेकिन डेमाक्रीटस परमाणुओं की गतिशीलता के कारण रिक्त आकाश की वास्तविकता को स्वीकार करता है।
4. अनेक्जगोरस ने गति को मन के सन्दर्भ में देखा, वह बात जो गतिशील द्रव्यों से अलग है, डेमॉक्रीटस ने परमाणुओं में ही गति को सन्निहित माना।
5. अनेक्जगोरस मन को उद्देश्य मूलक सिद्धांत कहता है, डेमॉक्रीटस परमाणुओं को यांत्रिक नियमों के अधीन मानता है।

सोफिस्ट्स (The Sophists)

एक अन्य नया दार्शनिक आंदोलन जिसे यूनानी दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है सोफीमत के नाम से प्रख्यात हुआ। यद्यपि 'सोफी' शब्द का अर्थ 'विद्वान तथा निपुण व्यक्ति' है, पर कालान्तर में व्यावसायिक अध्यापकों को सोफिस्ट्स कहा जाने लगा जिनका काम नवयुवकों से पैसे लेकर भाषण तथा चिन्तन की कला में योग्य बनाकर राजनीति के लिए तैयार करना था। सोफिस्ट्स ने अपने दर्शन की स्थापना व्यावहारिक उद्देश्यों को लेकर तो की ही, साथ ही सिद्धान्तों के क्षेत्र में भी उन्होंने नवीन विचार प्रस्तुत किये। इस प्रकार उन्होंने विचार स्वातंत्र्य का वातावरण उत्पन्न किया जो भावी दार्शनिक चिन्तन के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ।

ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge)

सोफिस्ट्स ने जब अपने पूर्ववर्ती सभी दार्शनिकों का अध्ययन किया तो उन्होंने यह निष्कर्ष अवतरित किया कि कोई दो दार्शनिक कहीं पर भी एक मत दिखाई नहीं दिये। उनमें मतैक्य का अभाव रहा। प्रत्येक ने अपने-अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया। एक ने जल को मूल द्रव्य माना तो दूसरे ने वायु को,

तीसरे ने अग्नि को, तो चौथे ने पृथ्वी को। फिर बहुतत्ववादियों ने इन चारों द्रव्यों को जगत् का मूल कारण स्वीकार किया। किसी ने परिवर्तन को सत्य कहा तो किसी ने स्थायित्व को उचित माना। कुछेक ने गुणात्मक भेद माने तो अन्यों ने परिमाणात्मक अन्तर स्वीकार किये। फलतः विश्व की उत्पत्ति एवं विकास की समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं मिल सका।

इन्हीं अन्तर्विरोधों ने सोफियों को नवीन चिन्तन के लिए उत्साहित किया। उन्होंने कहा कि यदि जगत् में कोई परिवर्तन नहीं होता तो ज्ञान भी संभव नहीं हो सकता, क्योंकि परिवर्तन के अभाव में हम किसी वस्तु के बारे में कुछ होने की बात नहीं कर सकते और एक वस्तु फिर दूसरी वस्तु भी नहीं बन सकेगी। यदि प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है तो भी ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि कुछ भी स्थाई नहीं है और स्थायित्व के अभाव में, कोई निश्चित बात कहना संभव न होगा। जिस सीमा तक इन्द्रियों को बाह्य वस्तुएं प्रभावित करती हैं उसी सीमा तक यदि हमारा ज्ञान सीमित हो तो उनके आन्तरिक स्वरूप को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि हम विश्व के स्वरूप की समस्या का समाधान खोज नहीं सकते। फिर सोफियों ने यह भी कहा कि यदि दार्शनिक समस्याओं का समाधान इन्द्रिय ज्ञान में नहीं मिल सकता तो बौद्धिक ज्ञान भी यह कार्य नहीं कर सकता। अतः इन्द्रिय ज्ञान की आलोचना के साथ-साथ बुद्धि-ज्ञान भी आलोच्य है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और बुद्धि दोनों ही 'सार्वभौमिक ज्ञान' देने में असमर्थ हैं।

स्पष्टतः सोफिस्ट्स ने सार्वभौमिक ज्ञान की प्राप्ति के प्रति सन्देह प्रकट किया जिसके कारण ग्रीस में 'सन्देहवाद' की विचारधारा तीव्र गति से बहने लगी। धार्मिक अन्धविश्वास उखड़ने लगे और सामाजिक तथा नैतिक जीवन की रूढ़ियों पर भी आंच आने लगी। सोफियों ने प्राप्त ज्ञान की ही आलोचना नहीं की, वरन् ज्ञाता को भी आलोच्य माना, हलाँकि ज्ञान-प्रक्रिया में मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने कहा कि ज्ञान ज्ञाता विशेष पर निर्भर होता है। जो उसे सही प्रतीत होता है, वह उसके लिए सही है। उनकी दृष्टि में सत्य वस्तुगत नहीं होता। सत्य आत्मगत (Subjective opinion) के सिवाय और कुछ नहीं है। इस सम्बन्ध में दो प्रमुख सोफी चिन्तकों के विचार यहाँ प्रस्तुत हैं :—

प्रोटागोरस (Protagoras : 481-411 B C)

इनका जन्म अबदेरा में हुआ बतलाते हैं। जहां डेमॉक्रीटस पैदा हुआ था। उसने दो बार एथेन्स की यात्रा की। कहा जाता है कि उस पर विधर्मी होने का आरोप लगाया गया, हालाकि उसने 'ऑन द् गॉड्स' नामक पुस्तक की रचना की जिसके प्रारम्भ में ही उसने लिखा है कि देवों के सम्बन्ध में, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे हैं या नहीं हैं और न यह कहा जा सकता है कि वे क्या हैं,

उनका रूप क्या है, क्योंकि अनेक बातें ऐसी हैं जो निश्चित ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं जैसे ज्ञाता की अस्पष्टता और मानव जीवन की क्षणिकता।

प्रोटागोरस का यह सिद्धांत बहुत ही प्रख्यात हुआ है कि "मनुष्य ही सब पदार्थों का मानदण्ड है, उन वस्तुओं का जो हैं और उनका भी जो नहीं हैं।" मनुष्य से प्रोटागोरस का तात्पर्य 'सामान्य मनुष्य' से नहीं है, बल्कि व्यक्ति-मनुष्य से है। ज्ञान के क्षेत्र में स्वयं व्यक्ति ही एक मात्र नियम है। इस सिद्धांत की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों में जो मत भिन्नताएँ मिलती हैं वे सही हैं। दोनों ही विरोधी मत सही हो सकते हैं क्योंकि दोनों मतों के अलग-अलग व्याख्याता हैं। दोनों ही मत समान रूप से सत्य हैं, लेकिन जैसा कि प्रोटागोरस ने कहा, उनमें से एक अधिक स्वाभाविक हो सकता है। उसका यह सिद्धांत निश्चय ही संशयवादी है। और संभवतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भ्रमोत्पादकता एवं अस्पष्टता पर आधारित है।

जॉर्जियस (Gorgias : 440–380 B. C.)

प्रोटागोरस के पश्चात् जॉर्जियस बहुत ही प्रसिद्ध सोफिस्ट माना जाता है। वह उग्र विचार वाला व्यक्ति था। उसने कहा कि सत्य सापेक्ष होता है। निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) असंभव है। अपने तीन कथनों द्वारा जॉर्जियस ने पूर्णतः नकारात्मक दर्शन की ओर संकेत किया। प्रथम, कोई सत्य ही नहीं है, द्वितीय, यदि कोई सत्य है भी तो हम उसे जान नहीं सकते, और तृतीय, यदि जान भी लें तो उसे दूसरों को समझा नहीं सकते।

यह स्पष्ट है कि सोफियों का ज्ञान-सिद्धांत नकारात्मक एवं संशयवादी है। लेकिन उसका भावात्मक पहलू भी है। प्रथम, उन्होंने प्लेटो के द्वन्द्वात्मक विचार और अरस्तू के तर्कशास्त्र का मार्ग प्रशस्त किया। द्वितीय, उन्होंने ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का स्पष्टीकरण किया। उनके अनुसार, निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। जो कुछ भी सापेक्ष ज्ञान व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जाता है वह उनके व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करता है। अन्य शब्दों में, सत्य की क्रियात्मकता तथा व्यावहारिकता जो व्यक्ति-सापेक्ष है, आज व्यावहारवादी दर्शन (Pragmatic Philosophy) में स्पष्टतया मिलती है।

नैतिक दर्शन (Moral Philosophy)

सोफिस्ट्स के उपरोक्त प्रमाण-विचार से यह स्पष्ट है कि सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। विश्व की उत्पत्ति और विकास का सही-सही विश्लेषण नहीं हो सकता। यही कारण है कि उन्होंने अपने आपको तत्वज्ञान के विवाद में न डालकर, व्यावहारिक जीवन को अधिक महत्त्व दिया, विशेषकर मनुष्य के आचरण पर, ताकि मानव समाज का कल्याण हो सके।

तीसरे ने अग्नि को, तो चौथे ने पृथ्वी को। फिर बहुतत्ववादियों ने इन चारों द्रव्यों को जगत् का मूल कारण स्वीकार किया। किसी ने परिवर्तन को सत्य कहा तो किसी ने स्थायित्व को उचित माना। कुछेक ने गुणात्मक भेद माने तो अन्यों ने परिमाणात्मक अन्तर स्वीकार किये। फलतः विश्व की उत्पत्ति एवं विकास की समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं मिल सका।

इन्हीं अन्तर्विरोधों ने सोफियों को नवीन चिन्तन के लिए उत्साहित किया। उन्होंने कहा कि यदि जगत् में कोई परिवर्तन नहीं होता तो ज्ञान भी संभव नहीं हो सकता, क्योंकि परिवर्तन के अभाव में हम किसी वस्तु के बारे में कुछ होने की बात नहीं कर सकते और एक वस्तु फिर दूसरी वस्तु भी नहीं बन सकेगी। यदि प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है तो भी ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि कुछ भी स्थाई नहीं है और स्थायित्व के अभाव में, कोई निश्चित बात कहना संभव न होगा। जिस सीमा तक इन्द्रियों को बाह्य वस्तुएं प्रभावित करती हैं उसी सीमा तक यदि हमारा ज्ञान सीमित हो तो उनके आन्तरिक स्वरूप को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि हम विश्व के स्वरूप की समस्या का समाधान खोज नहीं सकते। फिर सोफियों ने यह भी कहा कि यदि दार्शनिक समस्याओं का समाधान इन्द्रिय ज्ञान में नहीं मिल सकता तो बौद्धिक ज्ञान भी यह कार्य नहीं कर सकता। अतः इन्द्रिय ज्ञान की आलोचना के साथ-साथ बुद्धि-ज्ञान भी आलोच्य है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और बुद्धि दोनों ही 'सार्वभौमिक ज्ञान' देने में असमर्थ हैं।

स्पष्टतः सोफिस्ट्स ने सार्वभौमिक ज्ञान की प्राप्ति के प्रति सन्देह प्रकट किया जिसके कारण ग्रीस में 'सन्देहवाद' की विचारधारा तीव्र गति से बहने लगी। धार्मिक अन्धविश्वास उखड़ने लगे और सामाजिक तथा नैतिक जीवन की रूढ़ियों पर भी आंच आने लगी। सोफियों ने प्राप्त ज्ञान की ही आलोचना नहीं की, वरन् ज्ञाता को भी आलोच्य माना, हलाँकि ज्ञान-प्रक्रिया में मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने कहा कि ज्ञान ज्ञाता विशेष पर निर्भर होता है। जो उसे सही प्रतीत होता है, वह उसके लिए सही है। उनकी दृष्टि में सत्य वस्तुगत नहीं होता। सत्य आत्मगत (Subjective opinion) के सिवाय और कुछ नहीं है। इस सम्बन्ध में दो प्रमुख सोफी चिन्तकों के विचार यहाँ प्रस्तुत हैं :—

प्रोटागोरस (Protagoras : 481-411 B C)

इनका जन्म अवदेरा में हुआ बतलाते हैं। जहां डेमॉक्रीटस पैदा हुआ था। उसने दो बार एथेन्स की यात्रा की। कहा जाता है कि उस पर विधर्मी होने का आरोप लगाया गया, हालाकि उसने 'ऑन द् गॉड्स' नामक पुस्तक की रचना की जिसके प्रारम्भ में ही उसने लिखा है कि देवों के सम्बन्ध में, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे हैं या नहीं हैं और न यह कहा जा सकता है कि वे क्या हैं,

उनका रूप क्या है, क्योंकि अनेक बातें ऐसी हैं जो निश्चित ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं जैसे ज्ञाता की अस्पष्टता और मानव जीवन की क्षणिकता।

प्रोटागोरस का यह सिद्धांत बहुत ही प्रख्यात हुआ है कि "मनुष्य ही सब पदार्थों का मानदण्ड है, उन वस्तुओं का जो हैं और उनका भी जो नहीं हैं।" मनुष्य से प्रोटागोरस का तात्पर्य 'सामान्य मनुष्य' से नहीं है, बल्कि व्यक्ति-मनुष्य से है। ज्ञान के क्षेत्र में स्वयं व्यक्ति ही एक मात्र नियम है। इस सिद्धांत की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों में जो मत भिन्नताएँ मिलती हैं वे सही हैं। दोनों ही विरोधी मत सही हो सकते हैं क्योंकि दोनों मतों के अलग-अलग व्याख्याता हैं। दोनों ही मत समान रूप से सत्य हैं, लेकिन जैसा कि प्रोटोगोरस ने कहा, उनमें से एक अधिक स्वाभाविक हो सकता है। उसका यह सिद्धांत निश्चय ही संशयवादी है। और संभवतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भ्रमोत्पादकता एवं अस्पष्टता पर आधारित है।

जॉर्जियस (Gorgias : 440–380 B. C.)

प्रोटागोरस के पश्चात् जॉर्जियस बहुत ही प्रसिद्ध सोफिस्ट माना जाता है। वह उग्र विचार वाला व्यक्ति था। उसने कहा कि सत्य सापेक्ष होता है। निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) असंभव है। अपने तीन कथनों द्वारा जॉर्जियस ने पूर्णतः नकारात्मक दर्शन की ओर संकेत किया। प्रथम, कोई सत्य ही नहीं है, द्वितीय, यदि कोई सत्य है भी तो हम उसे जान नहीं सकते, और तृतीय, यदि जान भी लें तो उसे दूसरों को समझा नहीं सकते।

यह स्पष्ट है कि सोफियों का ज्ञान-सिद्धांत नकारात्मक एवं संशयवादी है। लेकिन उसका भावात्मक पहलू भी है। प्रथम, उन्होंने प्लेटो के द्वन्द्वात्मक विचार और अरस्तू के तर्कशास्त्र का मार्ग प्रशस्त किया। द्वितीय, उन्होंने ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का स्पष्टीकरण किया। उनके अनुसार, निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। जो कुछ भी सापेक्ष ज्ञान व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जाता है वह उनके व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करता है। अन्य शब्दों में, सत्य की क्रियात्मकता तथा व्यावहारिकता जो व्यक्ति-सापेक्ष है, आज व्यावहारवादी दर्शन (Pragmatic Philosophy) में स्पष्टतया मिलती है।

नैतिक दर्शन (Moral Philosophy)

सोफिस्ट्स के उपरोक्त प्रमाण-विचार से यह स्पष्ट है कि सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। विश्व की उत्पत्ति और विकास का सही-सही विश्लेषण नहीं हो सकता। यही कारण है कि उन्होंने अपने आपको तत्वज्ञान के विवाद में न डालकर, व्यावहारिक जीवन को अधिक महत्त्व दिया, विशेषकर मनुष्य के आचरण पर, ताकि मानव समाज का कल्याण हो सके।

सोफीवाद की आत्मपरता (Subjectivism) और सापेक्षता (Relativism), जो उसके ज्ञान सिद्धांत की मुख्य विशेषताएं हैं, सोफिस्ट्स के नीतिशास्त्र को भी प्रभावित करती हैं। उनके सैद्धान्तिक संशयवाद ने नैतिक संशयवाद को भी जन्म दिया। चूंकि सार्वभौम ज्ञान असम्भव है, शुभाशुभ का सार्वभौम ज्ञान भी सम्भव नहीं है। ज्ञान व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होता है। नैतिक अन्तर्रात्मा भी एक व्यक्तिगत विषय है। इस प्रकार सोफिस्ट्स के नैतिक विचार उनके ज्ञान-शास्त्र की युक्तियों के समानान्तर हैं। यदि ज्ञान इन्द्रियाश्रित है तो नैतिकता भी भावनाश्रित है।

सोफी दर्शन में अतिवादी नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन प्रोटागोरस तथा जर्जियस जैसे चिंतकों ने नहीं किया। प्रोटागोरस का सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन क्रांतिकारी नहीं था। उसने कहा कि सभी स्थापित संस्थाएं, कानून और नैतिकता, परम्परा मात्र हैं। सामाजिक तथा नैतिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए, कुछ कानूनों और नैतिक नियमों का मानना आवश्यक है। जर्जियस यद्यपि उग्र विचारों का व्यक्ति था, लेकिन वह प्रोटागोरस के पूर्व उल्लिखित विचारों से सहमत था। कुछ अन्य सोफियों ने जैसे पॉलस, थ्रेसीमेकस, कैलिडीज, यूथीडेमस ने नैतिकता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया, हालांकि वे नैतिक विनाशवाद के पक्ष में नहीं थे। उनके अनुसार, नैतिकता उन लोगों की इच्छा शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है जो अपने साथियों पर अपनी मांगों को बलपूर्वक थोप सकते हैं। नैतिक नियम प्रकृति के प्रतिकूल होते हैं। अतः उन्होंने 'प्रकृति' और 'परम्परा' में भेद स्थापित किया। प्रकृति बलवान के पक्ष में होती है, जबकि नैतिकता के नियमों का सहारा निर्बल ही लेता है। मूलतः अधिकार उन्हीं के हैं जो बलवान होते हैं। अन्य सोफी विद्वानों के अनुसार, नैतिक नियम वर्ग-विशेष द्वारा बनाये जाते हैं जो अपने हितों की रक्षा करता है। संक्षेप में, शक्तिशाली व्यक्ति या व्यक्तियों का गुट नैतिकता के नियमों का निर्धारण अपने हितों की दृष्टि से करता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी सोफी विद्वान ऐसा कहते हैं। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जिनका दृष्टिकोण पूर्णतः नकारात्मक नहीं हैं। अपने संशयवाद के बावजूद भी, उन्होंने एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनका कहना है कि यदि न्याय या नैतिक व्यवस्था शक्तिशाली व्यक्ति या व्यक्तियों के गुट का प्रतिनिधित्व करती है तो इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि न्याय की नैतिक धारणा का कोई मूल्य ही नहीं है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में न्याय का व्यावहारिक महत्त्व अधिक है जैसा कि सत्य का बौद्धिक क्षेत्र में होता है।

सोफीवाद का महत्त्व (Importance of Sophism)

यूनानी दर्शन के इतिहास में, सोफीवाद का अपना महत्त्व है। जैसा कि सिसरो ने कहा, सोफिस्ट्स दर्शन को कल्पनाओं की दुनिया से व्यावहारिक क्षेत्र में

उतार कर लाये। उन्होंने अपने ध्यान को मनुष्य पर केन्द्रित किया और यह माना कि मनुष्य का सही अध्ययन करना 'मनुष्यता' है। सोफियों ने मनुष्य की आवश्यकताओं का दार्शनिक विवेचन किया और मनुष्य ही को सब वस्तुओं का मानदण्ड स्वीकार किया। मानववादी दृष्टिकोण उनके दर्शन की प्रमुख विशेषता है, पर उनका चिन्तन व्यक्तिवादी भावना से दूषित प्रतीत होता है।

यह भी कहा जा सकता है कि सोफिस्ट्स ने मानवी बुद्धि के सिद्धान्त का सदुपयोग नहीं किया। मनुष्य मात्र में सार्वभौम तत्त्वों की गवेषणा करने में वे बिल्कुल असमर्थ रहे। उन्होंने व्यक्ति-मनुष्य को सम्पूर्ण मनुष्यता की दृष्टि से नहीं देखा। उन्होंने मनुष्यों में भिन्नताओं की खोज अधिक की। समानताओं की खोज का उन्होंने प्रयास नहीं किया। उन्होंने आत्मपरता को जितना महत्त्व दिया उतना वस्तुपरता को नहीं। फिर भी इस प्रकार के विचार प्रस्तुत करके उन्होंने नवीन दार्शनिक चिन्तन को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। सोफिस्ट्स द्वारा सार्वभौम ज्ञान एवं सार्वभौम नैतिकता की असंभावनाओं की मान्यता ने सुकरात जैसे व्यक्तियों को गम्भीर तथा व्यापक चिन्तन की ओर आकर्षित किया और उन्होंने ज्ञान, नैतिकता, धर्म, राजनीति आदि की अस्पष्ट धारणाओं की कड़ी आलोचना करके, समस्त यूनानी विद्वानों को सम्पूर्ण दर्शन के नवनिर्माण की ओर आमंत्रित किया। फलतः दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई।

☐

प्रथम भाग

महत्त्वपूर्ण यूनानी दार्शनिक

(MAHTVAPURNA UNANI DARSHNIK)

1. सुकरात (Socrates)
2. प्लेटो (Plato)
3. अरस्तू (Aristotle)
4. प्लॉटिनस (Plotinus)

1

सुकरात
(Socrates: 470-399 B.C.)

यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात का जन्म 470 ई. पू. एथेन्स के एक निर्धन परिवार में हुआ था। महत्त्वपूर्ण वाद-विवादों को लेकर विभिन्न प्रकार के विषयों युद्ध, राजनीति, विवाह, प्रेम, मित्रता, धर्म, विज्ञान, कला, कविता. नीति और दर्शन, में सुकरात की गम्भीर अभिरुचि थी। शारीरिक दृष्टि से वह बड़ा ही अनाकर्षक, पर विद्यानुरागी था। समाज में उसका सम्मान था। उसने धन एवं ऐश्वर्य की कभी परवाह नही की। वह सदैव सादा जीवन व्यतीत करता था। लेकिन बौद्धिक दृष्टि से, वह उच्चकोटि का विद्वान तथा वाक् पटु था।

अपने आचरण में, सुकरात ने उन्हीं सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति की जिनका वह प्रचार करता था। वह सत्यभाषी, निर्भय तथा आत्म-अनुशासित था। वह नवयुवकों को दार्शनिक विश्लेषण की शिक्षा देता था। धन अर्जित करने के लिए नहीं बल्कि ज्ञान के प्रसार हेतु वह ऐसा करता था। दुर्भाग्यवश उसके ही देशवासियों ने उस पर नास्तिकता तथा नवयुवकों को पथ-भ्रष्ट करने का आरोप लगाया। विधिवत् अभियोग चलाकर, उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। देश के कानूनों में अटूट विश्वास करते हुए सुकरात ने विषपान किया और इस प्रकार उस सच्चे दार्शनिक की जीवन-लीला का अन्त हो गया। सुकरात ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उसके समस्त विचारों का ज्ञान प्लेटो की रचनाओं में ही मिलता है।

दार्शनिक समस्या (Philosophical problem)

सुकरात के पूर्व सोफीवाद (Sohism) अपनी परकाष्ठा पर थी। सोफी मतावलम्बियों का कहना था कि कोई सार्वभौम (Universal) सत्य नहीं है अर्थात् सार्वभौम ज्ञान अप्राप्य है। मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। एक का एक मत है तो दूसरे का दूसरा। एक मत उतना ही सही लगता है जितना दूसरा। अन्तर केवल इतना ही है कि एक मत दूसरे की तुलना में अधिक स्वाभाविक हो सकता है, अधिक

सत्य नहीं। इस प्रकार सोफिस्टों ने ज्ञान तथा नैतिकता की व्यक्तिवादी परिभाषायें दीं और कहा कि इन दोनों ही क्षेत्रों में सार्वभौमिकता प्राप्त करना असंभव है। सुकरात ने इन विचारों को स्वीकार नहीं किया। यह ठीक है कि लोगों में वैचारिक भिन्नतायें मिलती हैं, पर उनमें ऐसे तत्त्वों का अन्वेषण किया जाना चाहिए जिन पर हम सब एक मत हो सकें। अतएव सार्वभौम निर्णय या धारणा (concept) प्राप्त करना, सुकरात की दृष्टि में, दर्शन की मूल समस्या थी। विचार भिन्नताओं में भी एकता ढूंढ़ना संभव है। सोफीमत में सन्निहित भ्रमों का निराकरण करना, सार्वभौम ज्ञान तथा सार्वभौम नैतिकता की संभावनाओं की खोज करना, सुकरात के दार्शनिक दृष्टिकोण का एकमात्र लक्ष्य था। वह सोफिस्टों के समान मानवतावादी तो अवश्य था, पर उसमें और सोफिस्टों में गहरा अन्तर था जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है :—

(1) सोफियों ने विश्व को यांत्रिक (Mechanical) माना, जबकि सुकरात ने उसे यंत्रवत् न मानकर प्रयोजनमय (Teleological) माना है।

(2) सोफियों की दृष्टि में, अच्छाई एक कला है जिसे ज्ञान-विशेष के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जबकि सुकरात ने उसे कला न मानकर मानव प्राणी की एक सामान्य शक्ति माना है।

(3) सोफियों के ज्ञान-सिद्धान्त का आधार व्यक्तिवादी है, जबकि सुकरात के अनुसार ज्ञान सार्वभौम होता है।

(4) सोफियों ने सभी वस्तुओं का मानदण्ड मनुष्य को माना है, जबकि सुकरात ने वस्तुओं के मानदण्ड का निश्चय उनके प्रयोजन की दृष्टि से किया।

(5) सोफियों के अनुसार नैतिकता व्यक्तिगत है, जबकि सुकरात उसे सार्वभौम मानता है।

(6) सोफियों ने सामाजिक नियमों को मानवकृत माना है, पर सुकरात परम्परागत कानून को मनुष्य से ऊपर मानता था। हर मनुष्य को राज्य के कानूनों का पालन करना चाहिए।

सुकराती-पद्धति (Socratic Method)

सामान्यतः सुकरात अपनी मित्र-मण्डली के सदस्यों के साधारण विचारों को किसी विषय के वाद-विवाद में लेकर चलता था। उन विचारों का दैनिक समस्याओं से सम्बन्ध होता था। उनकी भलीभाँति परीक्षा करने के पश्चात् सुकरात ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचता था जहाँ उनके सही-सही आधारों का पता लग जाये और यह भी ज्ञात हो जाये कि उनमें किस प्रकार के उपयुक्त सुधारों की आवश्यकता है। सुकरात अपने मित्रों को सही विचार ग्रहण करने में सहायता ही नहीं करता था बल्कि उन्हें नवीन चिन्तन की ओर प्रोत्साहित भी करता था। वह ऐसे उपयुक्त व्यावहारिक उदाहरण

देता था कि उसके विचारों को सरलता से समझा जा सकता था। सुकरात अपनी प्रश्नात्मक निपुणता के लिए बहुत ही प्रसिद्ध था। वह सम्बन्धित समस्या के विषय में लोगों के विचार पूछता था। उन्हें ध्यान से सुनता था और फिर विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछता था। प्रश्नों के माध्यम के द्वारा वह उपस्थित समस्या के पीछे निहित गहन तथ्यों तक पहुँच जाता था।

सुकराती-पद्धति के विभिन्न आयाम थे। वह निगमन पद्धति के आधार पर सामान्य परिभाषाओं का अवतरण करता था। एक अस्थाई परिभाषा के पश्चात् उसकी विशेष उदाहरणों की दृष्टि से परीक्षा की जाती थी। उस परिभाषा में उस समय तक सुधार एवं परिवर्तन होता रहता था जब तक कि वह संतोषजनक परिभाषा के रूप में स्पष्ट न हो जाये। सुकरात की पद्धति का एकमात्र उद्देश्य विभिन्न धारणाओं को स्पष्ट एवं विशिष्ट बनाना था। कभी-कभी सुकरात मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखकर विचाराधीन विषयों की आलोचना और उनमें सुधार करता था। सामान्य बातों के आधार पर विशेष की परीक्षा करता था। इस प्रकार सुकरात आगमन पद्धति का प्रयोग भी करता था। सभी प्रकार के पदों की स्पष्ट एवं विशिष्ट परिभाषायें होना आवश्यक है ताकि हम निश्चित रूप से कुछ कह सकें।

सुकरात ने यह स्पष्ट कहा कि ज्ञान का सम्बन्ध सामान्य तथा विलक्षण से है, न कि विशेष तथा आकस्मिक से। सोफी विद्वान यह बात समझाने में असमर्थ रहे। सुकरात के अनुसार, सार्वभौम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने सोफियों की इस बात को स्वीकार किया कि तात्विक कल्पनाओं में व्यस्त रहना समय नष्ट करना है। यह जगत् क्या है? उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? जगत् का अन्त कब होगा? इन प्रश्नों के समाधान की ओर सुकरात ने कोई ध्यान नहीं दिया। वह तो नैतिक एवं व्यावहारिक मानवी समस्याओं में ही लीन रहता था।

सुकरात का यह कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था कि समस्त दार्शनिक विचारों को एक ही सिद्धांत में आबद्ध किया जाये। इसका भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि वह दार्शनिक अन्वेषण की पद्धति की स्थापना करना चाहता था। वह स्वयं अपनी पद्धति के प्रति जागरूक नहीं था। लेकिन उसकी दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया में एक निश्चित पद्धति के लक्षण मिलते हैं जो यहाँ प्रस्तुत हैं :—

(1) संशय की पद्धति (Method of Doubt)

सुकरात की पद्धति में संशयवाद (Scepticism) की प्रारम्भिकता मिलती है। हर विषय के वाद-विवाद में वह अपनी अनभिज्ञता व्यक्त करता था। एक प्रकार से वह अपने निजी ज्ञान को छिपाकर रखता था। स्पष्टतः यह उसका व्यंग्यात्मक पग होता था, अन्त में वह अपनी बौद्धिक कुशाग्रता के आधार पर अपने को ही अधिक ज्ञानी सिद्ध कर देता था, यद्यपि यह उसका उद्देश्य नहीं होता था। उसकी यह व्यक्तिगत अभिलाषा नहीं थी कि वह अपने को सबसे अधिक ज्ञानी सिद्ध करे। यह तो उसकी

सत्य नहीं। इस प्रकार सोफिस्टों ने ज्ञान तथा नैतिकता की व्यक्तिवादी परिभाषायें दीं और कहा कि इन दोनों ही क्षेत्रों में सार्वभौमिकता प्राप्त करना असंभव है। सुकरात ने इन विचारों को स्वीकार नहीं किया। यह ठीक है कि लोगों में वैचारिक भिन्नतायें मिलती हैं, पर उनमें ऐसे तत्त्वों का अन्वेषण किया जाना चाहिए जिन पर हम सब एक मत हो सकें। अतएव सार्वभौम निर्णय या धारणा (concept) प्राप्त करना, सुकरात की दृष्टि में, दर्शन की मूल समस्या थी। विचार भिन्नताओं में भी एकता ढूंढ़ना संभव है। सोफीमत में सन्निहित भ्रमों का निराकरण करना, सार्वभौम ज्ञान तथा सार्वभौम नैतिकता की संभावनाओं की खोज करना, सुकरात के दार्शनिक दृष्टिकोण का एकमात्र लक्ष्य था। वह सोफिस्टों के समान मानवतावादी तो अवश्य था, पर उसमें और सोफिस्टों में गहरा अन्तर था जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है :—

(1) सोफियों ने विश्व को यांत्रिक (Mechanical) माना, जबकि सुकरात ने उसे यंत्रवत् न मानकर प्रयोजनमय (Teleological) माना है।

(2) सोफियों की दृष्टि में, अच्छाई एक कला है जिसे ज्ञान-विशेष के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जबकि सुकरात ने उसे कला न मानकर मानव प्राणी की एक सामान्य शक्ति माना है।

(3) सोफियों के ज्ञान-सिद्धान्त का आधार व्यक्तिवादी है, जबकि सुकरात के अनुसार ज्ञान सार्वभौम होता है।

(4) सोफियों ने सभी वस्तुओं का मानदण्ड मनुष्य को माना है, जबकि सुकरात ने वस्तुओं के मानदण्ड का निश्चय उनके प्रयोजन की दृष्टि से किया।

(5) सोफियों के अनुसार नैतिकता व्यक्तिगत है, जबकि सुकरात उसे सार्वभौम मानता है।

(6) सोफियों ने सामाजिक नियमों को मानवकृत माना है, पर सुकरात परम्परागत कानून को मनुष्य से ऊपर मानता था। हर मनुष्य को राज्य के कानूनों का पालन करना चाहिए।

सुकराती-पद्धति (Socratic Method)

सामान्यतः सुकरात अपनी मित्र-मण्डली के सदस्यों के साधारण विचारों को किसी विषय के वाद-विवाद में लेकर चलता था। उन विचारों का दैनिक समस्याओं से सम्बन्ध होता था। उनकी भलीभाँति परीक्षा करने के पश्चात् सुकरात ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचता था जहाँ उनके सही-सही आधारों का पता लग जाये और यह भी ज्ञात हो जाये कि उनमें किस प्रकार के उपयुक्त सुधारों की आवश्यकता है। सुकरात अपने मित्रों को सही विचार ग्रहण करने में सहायता ही नहीं करता था बल्कि उन्हें नवीन चिन्तन की ओर प्रोत्साहित भी करता था। वह ऐसे उपयुक्त व्यावहारिक उदाहरण

देता था कि उसके विचारों को सरलता से समझा जा सकता था। सुकरात अपनी प्रश्नात्मक निपुणता के लिए बहुत ही प्रसिद्ध था। वह सम्बन्धित समस्या के विषय में लोगों के विचार पूछता था। उन्हें ध्यान से सुनता था और फिर विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछता था। प्रश्नों के माध्यम के द्वारा वह उपस्थित समस्या के पीछे निहित गहन तथ्यों तक पहुँच जाता था।

सुकराती-पद्धति के विभिन्न आयाम थे। वह निगमन पद्धति के आधार पर सामान्य परिभाषाओं का अवतरण करता था। एक अस्थाई परिभाषा के पश्चात् उसकी विशेष उदाहरणों की दृष्टि से परीक्षा की जाती थी। उस परिभाषा में उस समय तक सुधार एवं परिवर्तन होता रहता था जब तक कि वह संतोषजनक परिभाषा के रूप में स्पष्ट न हो जाये। सुकरात की पद्धति का एकमात्र उद्देश्य विभिन्न धारणाओं को स्पष्ट एवं विशिष्ट बनाना था। कभी-कभी सुकरात मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखकर विचाराधीन विषयों की आलोचना और उनमें सुधार करता था। सामान्य बातों के आधार पर विशेष की परीक्षा करता था। इस प्रकार सुकरात आगमन पद्धति का प्रयोग भी करता था। सभी प्रकार के पदों की स्पष्ट एवं विशिष्ट परिभाषायें होना आवश्यक है ताकि हम निश्चित रूप से कुछ कह सकें।

सुकरात ने यह स्पष्ट कहा कि ज्ञान का सम्बन्ध सामान्य तथा विलक्षण से है, न कि विशेष तथा आकस्मिक से। सोफी विद्वान यह बात समझाने में असमर्थ रहे। सुकरात के अनुसार, सार्वभौम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने सोफियों की इस बात को स्वीकार किया कि तात्विक कल्पनाओं में व्यस्त रहना समय नष्ट करना है। यह जगत् क्या है ? उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? जगत् का अन्त कब होगा ? इन प्रश्नों के समाधान की ओर सुकरात ने कोई ध्यान नहीं दिया। वह तो नैतिक एवं व्यावहारिक मानवी समस्याओं में ही लीन रहता था।

सुकरात का यह कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था कि समस्त दार्शनिक विचारों को एक ही सिद्धांत में आबद्ध किया जाये। इसका भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि वह दार्शनिक अन्वेषण की पद्धति की स्थापना करना चाहता था। वह स्वयं अपनी पद्धति के प्रति जागरूक नहीं था। लेकिन उसकी दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया में एक निश्चित पद्धति के लक्षण मिलते हैं जो यहाँ प्रस्तुत हैं :—

(1) संशय की पद्धति (Method of Doubt)

सुकरात की पद्धति में संशयवाद (Scepticism) की प्रारम्भिकला मिलती है। हर विषय के वाद-विवाद में वह अपनी अनभिज्ञता व्यक्त करता था। एक प्रकार से वह अपने निजी ज्ञान को छिपाकर रखता था। स्पष्टतः यह उसका व्यंग्यात्मक पग होता था, अन्त में वह अपनी बौद्धिक कुशाग्रता के आधार पर अपने को ही अधिक ज्ञानी सिद्ध कर देता था, यद्यपि यह उसका उद्देश्य नहीं होता था। उसकी यह व्यक्तिगत अभिलाषा नहीं थी कि वह अपने को सबसे अधिक ज्ञानी सिद्ध करे। यह तो उसकी

सत्य नहीं। इस प्रकार सोफिस्टों ने ज्ञान तथा नैतिकता की व्यक्तिवादी परिभाषायें दीं और कहा कि इन दोनों ही क्षेत्रों में सार्वभौमिकता प्राप्त करना असंभव है। सुकरात ने इन विचारों को स्वीकार नहीं किया। यह ठीक है कि लोगों में वैचारिक भिन्नतायें मिलती हैं, पर उनमें ऐसे तत्त्वों का अन्वेषण किया जाना चाहिए जिन पर हम सब एक मत हो सकें। अतएव सार्वभौम निर्णय या धारणा (concept) प्राप्त करना, सुकरात की दृष्टि में, दर्शन की मूल समस्या थी। विचार भिन्नताओं में भी एकता ढूंढ़ना संभव है। सोफीमत में सन्निहित भ्रमों का निराकरण करना, सार्वभौम ज्ञान तथा सार्वभौम नैतिकता की संभावनाओं की खोज करना, सुकरात के दार्शनिक दृष्टिकोण का एकमात्र लक्ष्य था। वह सोफिस्टों के समान मानवतावादी तो अवश्य था, पर उसमें और सोफिस्टों में गहरा अन्तर था जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है :—

(1) सोफियों ने विश्व को यांत्रिक (Mechanical) माना, जबकि सुकरात ने उसे यंत्रवत् न मानकर प्रयोजनमय (Teleological) माना है।

(2) सोफियों की दृष्टि में, अच्छाई एक कला है जिसे ज्ञान-विशेष के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जबकि सुकरात ने उसे कला न मानकर मानव प्राणी की एक सामान्य शक्ति माना है।

(3) सोफियों के ज्ञान-सिद्धान्त का आधार व्यक्तिवादी है, जबकि सुकरात के अनुसार ज्ञान सार्वभौम होता है।

(4) सोफियों ने सभी वस्तुओं का मानदण्ड मनुष्य को माना है, जबकि सुकरात ने वस्तुओं के मानदण्ड का निश्चय उनके प्रयोजन की दृष्टि से किया।

(5) सोफियों के अनुसार नैतिकता व्यक्तिगत है, जबकि सुकरात उसे सार्वभौम मानता है।

(6) सोफियों ने सामाजिक नियमों को मानवकृत माना है, पर सुकरात परम्परागत कानून को मनुष्य से ऊपर मानता था। हर मनुष्य को राज्य के कानूनों का पालन करना चाहिए।

सुकराती-पद्धति (Socratic Method)

सामान्यतः सुकरात अपनी मित्र-मण्डली के सदस्यों के साधारण विचारों को किसी विषय के वाद-विवाद में लेकर चलता था। उन विचारों का दैनिक समस्याओं से सम्बन्ध होता था। उनकी भलीभाँति परीक्षा करने के पश्चात् सुकरात ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचता था जहाँ उनके सही-सही आधारों का पता लग जाये और यह भी ज्ञात हो जाये कि उनमें किस प्रकार के उपयुक्त सुधारों की आवश्यकता है। सुकरात अपने मित्रों को सही विचार ग्रहण करने में सहायता ही नहीं करता था वल्कि उन्हें नवीन चिन्तन की ओर प्रोत्साहित भी करता था। वह ऐसे उपयुक्त व्यावहारिक उदाहरण

देता था कि उसके विचारों को सरलता से समझा जा सकता था। सुकरात अपनी प्रश्नात्मक निपुणता के लिए बहुत ही प्रसिद्ध था। वह सम्बन्धित समस्या के विषय में लोगों के विचार पूछता था। उन्हें ध्यान से सुनता था और फिर विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछता था। प्रश्नों के माध्यम के द्वारा वह उपस्थित समस्या के पीछे निहित गहन तथ्यों तक पहुँच जाता था।

सुकराती-पद्धति के विभिन्न आयाम थे। वह निगमन पद्धति के आधार पर सामान्य परिभाषाओं का अवतरण करता था। एक अस्थाई परिभाषा के पश्चात् उसकी विशेष उदाहरणों की दृष्टि से परीक्षा की जाती थी। उस परिभाषा में उस समय तक सुधार एवं परिवर्तन होता रहता था जब तक कि वह संतोषजनक परिभाषा के रूप में स्पष्ट न हो जाये। सुकरात की पद्धति का एकमात्र उद्देश्य विभिन्न धारणाओं को स्पष्ट एवं विशिष्ट बनाना था। कभी-कभी सुकरात मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखकर विचाराधीन विषयों की आलोचना और उनमें सुधार करता था। सामान्य बातों के आधार पर विशेष की परीक्षा करता था। इस प्रकार सुकरात आगमन पद्धति का प्रयोग भी करता था। सभी प्रकार के पदों की स्पष्ट एवं विशिष्ट परिभाषायें होना आवश्यक है ताकि हम निश्चित रूप से कुछ कह सकें।

सुकरात ने यह स्पष्ट कहा कि ज्ञान का सम्बन्ध सामान्य तथा विलक्षण से है, न कि विशेष तथा आकस्मिक से। सोफी विद्वान यह बात समझाने में असमर्थ रहे। सुकरात के अनुसार, सार्वभौम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने सोफियों की इस बात को स्वीकार किया कि तात्विक कल्पनाओं में व्यस्त रहना समय नष्ट करना है। यह जगत् क्या है ? उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? जगत् का अन्त कब होगा ? इन प्रश्नों के समाधान की ओर सुकरात ने कोई ध्यान नहीं दिया। वह तो नैतिक एवं व्यावहारिक मानवी समस्याओं में ही लीन रहता था।

सुकरात का यह कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था कि समस्त दार्शनिक विचारों को एक ही सिद्धांत में आबद्ध किया जाये। इसका भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि वह दार्शनिक अन्वेषण की पद्धति की स्थापना करना चाहता था। वह स्वयं अपनी पद्धति के प्रति जागरूक नहीं था। लेकिन उसकी दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया में एक निश्चित पद्धति के लक्षण मिलते हैं जो यहाँ प्रस्तुत हैं :—

(1) संशय की पद्धति (Method of Doubt)

सुकरात की पद्धति में संशयवाद (Scepticism) की प्रारम्भिकला मिलती है। हर विषय के वाद-विवाद में वह अपनी अनभिज्ञता व्यक्त करता था। एक प्रकार से वह अपने निजी ज्ञान को छिपाकर रखता था। स्पष्टतः यह उसका व्यंग्यात्मक पग होता था, अन्त में वह अपनी बौद्धिक कुशाग्रता के आधार पर अपने को ही अधिक ज्ञानी सिद्ध कर देता था, यद्यपि यह उसका उद्देश्य नहीं होता था। उसकी यह व्यक्तिगत अभिलाषा नहीं थी कि वह अपने को सबसे अधिक ज्ञानी सिद्ध करे। यह तो उसकी

अनेक घटनाओं और तथ्यों को संकलित करता, तब उनमें से सामान्य विशेषताओं वाले तथ्यों को पृथक कर लेता था अर्थात् विशेष तथ्यों के आधार पर वह सामान्य परिभाषाओं की परीक्षा करता था। सुकरात उन्हें व्यवहार एवं अनुभव की दृष्टि से भी जांचता था। विशेष तथ्यों की सामान्य अभिव्यक्ति को वह आवश्यक मानता था इस प्रकार सुकरात ने आगमनात्मक पद्धति का अनुसरण भी किया।

(5) निगमनात्मक (Deductive)

सुकरात के दार्शनिक चिन्तन में निगमनात्मक विधि भी मिलती है। जो परिभाषाएँ बनाई जाती थीं, उनके निष्कर्षों तथा परिणामों को घटाकर भी निरीक्षण किया जाता था। सामान्य की पुष्टि के लिये, विशेष तथ्यों का होना आवश्यक समझा जाता था ताकि सामान्य परिभाषाओं या अवधारणाओं को निराधार तथा खोखला न कहा जा सके। सुकरात का विचार था कि पूर्ण संतोष के लिए, किसी भी परिभाषा का आगमन एवं निगमन दोनों प्रकार से सत्यापन करना अति आवश्यक है। सुकरात ने ज्ञान प्राप्ति में दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया। 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'—इस तथ्य की परीक्षा दोनों विधियों के आधार पर की जाती ताकि अनुभव एवं चिन्तन दोनों के द्वारा सही-सही सत्यापन सम्भव हो सके और सभी प्रकार का संशय समाप्त हो जाये।

दर्शन के इतिहास में, सुकरात की पद्धति गवेषणात्मक प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। उसके पश्चात् आने वाले अनेक विचारकों ने उससे लाभ उठाया। प्लेटो की 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' सुकरात के चिन्तन का ही एक परिणाम था और अरस्तू को भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं को निर्धारित करने में सुकराती-पद्धति से प्रेरणा मिली। आधुनिक युग में, सम्भवतः देकार्त ने भी सुकरात की सन्देहात्मक विधि से बहुत कुछ सीखा। इस प्रकार सुकरात का दार्शनिक प्रभाव भावी चिन्तन पर पड़ा जो व्यवस्थित ज्ञान के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ।

ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge)

सुकरात का ज्ञान सम्बन्धी सिद्धांत सोफियों की ज्ञान मीमांसा के प्रति एक प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया। सोफियों के अनुसार, ज्ञान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी ज्ञान होता है और ज्ञान का निर्धारण वस्तु से नहीं बल्कि व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। सोफियों की दृष्टि से ज्ञान सार्वभौम नहीं होता, व्यक्तिगत एवं विशेष होता है। सुकरात इस मत से सहमत नहीं हुआ। वह वस्तुनिष्ठ तथा सार्वभौम (Objective and Universal) ज्ञान की स्थापना में व्यस्त रहा। उसका ज्ञान का सिद्धान्त तर्क एवं विश्लेषण पर आधारित है। उसके अनुसार, समस्त ज्ञान प्रयत्नों द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है। सुकरात ने इन्द्रियानुभव (Sense experience) को नकारा नहीं, बल्कि यह कहा कि प्रत्यक्ष सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

पद्धति का परिणाम होता था। अन्य विद्वानों की बातों को भी वह सुनता और स्वीकार करता था। सुकरात की पद्धति को सन्देहात्मक कहा जाता है, किन्तु उसकी पद्धति सोफिस्टों की संशयात्मक पद्धति से भिन्न है। सोफियों का संशय निश्चित एवं स्थाई था, जबकि सुकरात का संशय प्रयोजनमय एवं अस्थाई था। वह अपने विवेचन को सन्देह से प्रारम्भ अवश्य करता था, पर वह अपने विश्लेपण के अन्त में उसका ही निवारण करता था। सुकरात का प्रारम्भिक संशयवाद ज्ञान के अनुसरण में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस प्रकार सन्देह सुकरात के लिये, एक साधन मात्र था।

(2) संवादात्मक या वाद-विवादात्मक (Conversational)

सुकरात की पद्धति में संवादात्मक पक्ष व्यापक रूप से मिलता है। वह पारस्परिक संवादों को बहुत उपयुक्त समझता था। सामान्य बातचीत द्वारा सत्यान्वेपण करना वह अधिक सुविधाजनक मानता था। सुकरात का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्यों में विचार भिन्नतायें होते हुये भी उनमें ऐसी सामान्य बातों को ढूँढ़ा जा सकता है जिन पर सब एकमत हो सकें। मित्रमण्डली के सदस्यों की बातें, विशेषकर प्रश्न-उत्तर के रूप में, बड़ी रोचक होती थीं। साथ-साथ उनसे धारणाओं का अवतरण भी संभव हो जाता था। प्रस्तुत विषय पर विद्वान मण्डली में से कोई एक सदस्य अपनी धारणा बनाकर संवाद प्रारम्भ करता था। सुकरात उसकी गम्भीर आलोचना करता और करवाता था। फलतः एक स्पष्ट धारणा की स्थापना संभव हो जाती थी। इस प्रकार सुकरात विवादों एवं प्रश्नोत्तरों द्वारा अभीष्ट निष्कर्ष पर पहुँच जाता था। निश्चय ही यह एक ऐसी बौद्धिक कला थी जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार के दार्शनिक विचारों की उत्पत्ति होती थी। संवादात्मक पद्धति द्वारा ज्ञान की रचना नहीं होती, केवल अस्पष्ट एवं अविकसित ज्ञान को स्पष्ट एवं विशिष्ट बनाती है।

(3) अवधारणात्मक एवं परिभाषात्मक (Conceptual and Definitive)

सुकरात की पद्धति अवधारणात्मक तथा परिभाषात्मक भी है। वह वाद-विवाद के समय धारणाओं का सृजन करता था और विभिन्न पदों जैसे न्याय, साहस, ईमानदारी, दया, की परिभाषाएं निश्चित करता था। परिभाषाओं से ही यद्यपि ज्ञान नहीं बनता, लेकिन सुकरात का यह दृढ़ विश्वास था कि सूक्ष्म तथा सही परिभाषाएं ज्ञान के लिए आवश्यक हैं। ये परिभाषाएँ ही अवधारणाओं का दूसरा नाम हैं। परिभाषाओं से ही सार्वभौम ज्ञान प्रारम्भ होता है जिसे अवधारणाओं में आबद्ध किया जाता है। वस्तु या विषय के सामान्य गुणों के आधार पर अवधारणाओं को निर्मित किया जाता है। ये अवधारणाएँ सार्वभौम, निश्चित एवं विशिष्ट होती हैं।

(4) अनुभवात्मक या आगमनात्मक (Empirical or Inductive)

सुकरात की पद्धति व्यावहारिक या आगमनात्मक है। उसकी पद्धति का सीधा सम्बन्ध दैनिक जीवन के अनुभवों से होता था। वह समस्या से सम्बन्धित

अनेक घटनाओं और तथ्यों को संकलित करता, तब उनमें से सामान्य विशेषताओं वाले तथ्यों को पृथक कर लेता था अर्थात् विशेष तथ्यों के आधार पर वह सामान्य परि-भाषाओं की परीक्षा करता था। सुकरात उन्हें व्यवहार एवं अनुभव की दृष्टि से भी जांचता था। विशेष तथ्यों की सामान्य अभिव्यक्ति को वह आवश्यक मानता था इस प्रकार सुकरात ने आगमनात्मक पद्धति का अनुसरण भी किया।

(5) निगमनात्मक (Deductive)

सुकरात के दार्शनिक चिन्तन में निगमनात्मक विधि भी मिलती है। जो परिभाषाएँ बनाई जाती थीं, उनके निष्कर्षों तथा परिणामों को घटाकर भी निरीक्षण किया जाता था। सामान्य की पुष्टि के लिये, विशेष तथ्यों का होना आवश्यक समझा जाता था ताकि सामान्य परिभाषाओं या अवधारणाओं को निराधार तथा खोखला न कहा जा सके। सुकरात का विचार था कि पूर्ण संतोष के लिए, किसी भी परि-भाषा का आगमन एवं निगमन दोनों प्रकार से सत्यापन करना अति आवश्यक है। सुकरात ने ज्ञान प्राप्ति में दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया। 'सभी मनुष्य मरणशील हैं—इस तथ्य की परीक्षा दोनों विधियों के आधार पर की जाती ताकि अनुभव एवं चिन्तन दोनों के द्वारा सही-सही सत्यापन सम्भव हो सके और सभी प्रकार का संशय समाप्त हो जाये।

दर्शन के इतिहास में, सुकरात की पद्धति गवेषणात्मक प्रगति के लिए महत्त्व-पूर्ण सिद्ध हुई। उसके पश्चात् आने वाले अनेक विचारकों ने उससे लाभ उठाया। प्लेटो की 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' सुकरात के चिन्तन का ही एक परिणाम था और अरस्तू को भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं को निर्धारित करने में सुकराती-पद्धति से प्रेरणा मिली। आधुनिक युग में, सम्भवतः देकार्त ने भी सुकरात की सन्देहात्मक विधि से बहुत कुछ सीखा। इस प्रकार सुकरात का दार्शनिक प्रभाव भावी चिन्तन पर पड़ा जो व्यवस्थित ज्ञान के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ।

ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge)

सुकरात का ज्ञान सम्बन्धी सिद्धांत सोफियों की ज्ञान मीमांसा के प्रति एक प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया। सोफियों के अनुसार, ज्ञान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी ज्ञान होता है और ज्ञान का निर्धारण वस्तु से नहीं बल्कि व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। सोफियों की दृष्टि से ज्ञान सार्व-भौम नहीं होता, व्यक्तिगत एवं विशेष होता है। सुकरात इस मत से सहमत नहीं हुआ। वह वस्तुनिष्ठ तथा सार्वभौम (Objective and Universal) ज्ञान की स्था-पना में व्यस्त रहा। उसका ज्ञान का सिद्धान्त तर्क एवं विश्लेषण पर आधारित है। उसके अनुसार, समस्त ज्ञान प्रयत्नों द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है। सुकरात ने इन्द्रिया-नुभव (Sense experience) को नकारा नहीं, बल्कि यह कहा कि प्रत्यक्ष सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

सुकरात का सार्वभौम ज्ञान का सिद्धान्त मात्र वस्तु-ज्ञान विषयक नहीं है। उसने अपने नैतिक सिद्धांत को भी ज्ञान पर आधारित वतलाया। ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष को भी उसने सामने रखा। ज्ञान तथा व्यावहारिक जीवन में एकरूपता होनी चाहिये अन्यथा किसी ज्ञान के आधार पर आचरण करना सम्भव नहीं हो पायेगा। साथ ही सुकरात ने सही-सही ज्ञान के लिए परिभाषाओं को आवश्यक वतलाया जिनका सीधा सम्बन्ध प्रयत्नों से होता है। प्रत्ययों का निर्माण वह चिन्तन की आगमन पद्धति द्वारा करता था। एक प्रकार की अनेक वस्तुओं के अवलोकन द्वारा उनके सामान्य गुणों को ज्ञात करना और उन्हीं सामान्य गुणों के समन्वित अमूर्त रूप को प्रत्यय की संज्ञा वह दिया करता था। इस प्रकार सुकरात ने जीवन भर विभिन्न प्रत्ययों को निर्मित करने का कार्य किया ताकि सार्वभौम ज्ञान स्पष्ट एवं विशिष्ट वन सके। संक्षेप में, सुकरात के अनुसार, ज्ञान सार्वभौम होता है, न कि विशेष तथा आकस्मिक।

सुकरात के ज्ञान सिद्धात में तर्क और परिभापा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सोफियों के मतानुसार, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (Sense perception) ही ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र साधन है। लेकिन सुकरात को दृष्टि से, वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तर्क अत्यावश्यक है। वह ज्ञान की सार्वभौम मानता है। इसलिये सार्वभौमिकता के गुण को प्राप्त करने के लिये सुकरात ने ज्ञान को तर्क पर आधारित बनाया। तर्क से उसका तात्पर्य बुद्धि से था। बुद्धि द्वारा विभिन्न व्यक्ति सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं। विचार भिन्नताओं में भी एकता सम्भव है। अतः ज्ञान की वस्तुनिष्ठता एवं सार्वभौमिकता प्रमाणित करने के लिये तर्क-बुद्धि अनिवार्य है। सामान्यतः सभी मानव प्राणियों में वुद्धि परिभाषाओं को सम्भव बनाने में सक्षम है और ज्ञान की सार्वभौमिकता एवं प्रामाणिकता की प्रक्रिया में सुकरात ने परिभाषाओं को बड़ा महत्त्व दिया। परिभाषाओं के आधार पर ही निश्चित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। परिभाषाएँ वास्तव में प्रयत्नों का प्रारम्भिक रूप हैं। ये सत्य एवं यथार्थ हैं जिनके विना सार्वभौम ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता।

सुकरात के ज्ञान सिद्धांत की एक और विशेषता यह है कि ज्ञान और सद्गुण (Knowledge and Virtue) में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सुकरात ज्ञान को जीवन के लिये उपयोगी बनाने के पक्ष में था। उसके अनुसार मानव-जीवन का परम उद्देश्य सद्गुणी होना अर्थात् नैतिक जीवन व्यतीत करना है, सुकरात ने ज्ञान को ही सद्गुण माना। अतः उसकी दृष्टि से, केवल ज्ञानी व्यक्ति का जीवन श्रेष्ठ जीवन होता है। ज्ञान और सद्गुण एक दूसरे से अपृथक् हैं। इसलिए केवल ज्ञानी व्यक्ति ही उचित, अच्छा या शुभ कार्य कर सकता है। जिस व्यक्ति को उचित-अनुचित, अच्छा बुरा या शुभाशुभ का ज्ञान ही न हो, वह नैतिक कार्य कैसे कर सकता है? अज्ञान अनुचित कार्यों की ओर ले जाने वाला होता है। सुकरात के अनुसार, अशुभ कार्यों

का कारण सदैव ही अज्ञान होता है। व्यक्ति यह जानते हुए कि यह कार्य बुरा है, उसे नहीं करेगा। प्रत्येक मनुष्य आनन्द चाहता है और आनन्द सदैव शुभ कर्मों से ही मिलता है। अतः यदि मनुष्य को उचित या शुभ का ज्ञान है तो वह निश्चित रूप से उचित कार्य ही करेगा। शुभ कर्म करने के पूर्व शुभ का ज्ञान अत्यावश्यक है। इस प्रकार सुकरात ने अपने ज्ञान-सिद्धान्त को न केवल तर्क से जोड़ा, बल्कि उसे शुभ कार्य की अनिवार्य शर्त बतलाया। न्यायप्रिय समाज ज्ञान एवं सद्‌गुण का ही परिणाम होता है। सद्-कर्म करने की दिशा में, ज्ञान एकमात्र पथ-प्रदर्शक है।

नैतिक दर्शन (Moral Philosophy)

सोफिस्टों की गम्भीर आलोचना के पश्चात् सुकरात को यह विश्वास हो गया कि युक्ति-युक्त चिन्तन तथा सार्वभौम ज्ञान सम्भव है। उसने नैतिक समस्या के निराकरण हेतु बौद्धिक आधार को ढूँढने का प्रयास किया। कुछ विद्वानों ने नैतिकता को परम्परा या लोकचलन कहा। अन्यों ने यह मान लिया कि, नैतिकता जिसकी लाठी उसकी भैंस कहावत के समान है अर्थात् शक्तिशाली व्यक्ति या व्यक्तियों के गुट द्वारा निर्धारित नियम ही नैतिकता के आधार हैं। सुकरात ने इन विचारों को स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार, नैतिकता का कोई बौद्धिक आधार होना चाहिए। सुकरात ने सोफियों के इस कथन को स्वीकार नहीं किया कि "जो कुछ व्यक्ति को संतुष्ट करे वह उसके लिए नैतिक है।" व्यक्ति समस्त वस्तुओं का मान-दण्ड नहीं हो सकता। अतएव सुकरात ने उनके इस निष्कर्ष को भी नहीं माना कि सार्वभौम नैतिकता असम्भव है। सार्वभौम ज्ञान जब सम्भव है तो सार्वभौम नैतिकता भी सम्भव है, क्योंकि ज्ञान और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए उसकी नैतिक मान्यताओं को ज्ञान-मूलक नैतिक मान्यतायें कहा जाता है। सुकरात के नैतिक दर्शन की निम्नलिखित मान्यतायें हैं :—

(1) ज्ञान सर्वोत्तम शुभ है (Knowledge is the highest Good)

वह परम शुभ क्या है जिनके आधार पर सब कुछ शुभ होता है? सुकरात के अनुसार, "ज्ञान ही सर्वोत्तम शुभ है।' उसके नैतिक दर्शन का मूल मन्त्र इस कथन में निहित है कि 'ज्ञान ही सद्‌गुण है', (Knowlefge is Virtue) स्पष्ट तथा युक्ति-युक्त चिन्तन द्वारा प्राप्त ज्ञान समस्त बुराइयों का एक मात्र उपचार है। किसी वायुयान को संचालित करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी यांत्रिक व्यवस्था का ज्ञान संचालक को हो, अथवा राज्य का शासन चलाने के लिए राजनेता को राज्य के कार्यो एवं उद्देश्यों का ज्ञान होना आवश्यक है। इस तरह जब तक व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं है कि सद्‌गुण क्या है? वह सद्‌गुणी नहीं हो सकता। आत्म-संयमी, साहसी, न्यायी तथा दयावान बनने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को आत्म-संयम, साहस, न्याय तथा दया की सही-सही अवधारणाओं का ज्ञान हो। सद्‌गुण का ही ज्ञान व्यक्ति को सद्‌गुणी बनाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। सुकरात ने यह स्पष्ट रूप में कहा कि "ठीक करने के लिए ठीक सोचना जरूरी है।" अतएव

सुकरात की दृष्टि में, ज्ञान के बिना सद्गुण की प्राप्ति असम्भव है। ज्ञान सद्गुण की अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्त है। कोई भी मनुष्य बुराई को जानते हुए उसका अनुसरण नहीं करेगा, अर्थात् शुभ या सद्गुण का ज्ञान होते हुए कोई भी व्यक्ति उसकी प्राप्ति से इन्कार नहीं करेगा। यहाँ यह स्मरण रहे कि शुभाशुभ का ज्ञान सिद्धान्त मात्र नहीं हैं, बल्कि एक दृढ़ व्यावहारिक विश्वास है। वह बुद्धि का ही विषय नहीं है, वरन् संकल्प का भी है। सुकरात का यह स्पष्ट विचार है कि सही एवं सार्वभौम ज्ञान के विना सत्कर्म सम्भव नहीं है। इस प्रकार ज्ञान शुभ कर्मों का मुख्य आधार है। अतः ज्ञान ही सद्गुण है। गीता के इस वाक्य में कि "ज्ञान के समान पवित्रतम कोई चीज नहीं है", सुकरात की ज्ञान-विषयक धारणा की ध्वनि स्पष्टतः मिलती है।

(2) सद्गुण एक ही है (Virtue is One)

सुकरात के अनुसार, ज्ञान और सद्गुण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों समरस हैं। उनमें ऐक्य है। इसी ऐक्य को ध्यान में रखते हुए, सुकरात ने कुछ और निष्कर्षों का अवतरण किया—

(i) सद्गुण ज्ञान है, इसलिए सद्गुण एक है। ज्ञान एकता है। ज्ञान सत्य का एक सुव्यवस्थित रूप है जिसमें अनेक सद्गुणों का समावेश एक ही मूल सद्गुण के पक्ष हैं।

(ii) सद्गुण स्वयं में शुभ नहीं होता। वह मनुष्य के हित की दृष्टि से शुभ होता है। सभी उपयोगी तथा सम्मानयुक्त क्रियाओं का अभिप्राय जीवन को कम दुःखी और अधिक सुखी बनाना होता है। अतः जो सम्मानयुक्त है, वह उपयोगी तथा शुभ भी है।

(iii) सद्गुण और आनन्द (Virtue and Happiness) एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। कोई भी मनुष्य उस समय तक आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता जब तक उसमें सहनशीलता, साहस, बुद्धिमानी, न्याय-प्रियता, दया जैसे सद्गुण न हों। अतः जहाँ सद्गुण होगा वहीं आनन्द होगा।

(iv) सद्गुण या आनन्द ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है, न कि धन तथा बल से। सुकरात ने यह स्पष्ट कहा कि सद्गुण धन से खरीदा नहीं जा सकता वरन् सद्गुण से ही धन, आदमी का समस्त शुभ, व्यक्तिगत तथा सार्व-जनिक कल्याण सम्भव होता है।

(v) सद्गुण सिखाया जा सकता है। सद्गुण और ज्ञान में तादात्म्य है। सद्गुणी बनने के लिए ज्ञानी बनना ही पर्याप्त है। इसी दृष्टि से कहा जा सकता है कि सद्गुण की शिक्षा दी जा सकती है, क्योंकि ज्ञान की शिक्षा दिया जाना सम्भव है। इस प्रकार सद्गुण को सिखाया जा सकता हैं, उसे धन द्वारा खरीदा नहीं जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से सुकरात के नैतिक-दर्शन सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं। सुकरात की अभिरुचि इस बात में अधिक थी कि मनुष्यों का जीवन व्यवहार में अच्छा हो और इसी कारण उसने नैतिक नियमों का प्रतिपादन वास्तविक जीवन की दृष्टि से ही किया। उसने कोरे उपदेश नहीं दिए, बल्कि अपने जीवन को पूर्ण नैतिक बनाया और अन्य लोगों को भी नैतिक एवं सद्गुणी बनने की प्रेरणा दी। मानव जीवन के इतिहास में सुकरात का अपना विशिष्ट स्थान है। उसने अनेक दार्शनिक समस्याओं को जन्म दिया जिनके निराकरण हेतु भावी चिन्तकों को व्यस्त रहना पड़ा जिन्होंने सुकरात की मूल चिन्तन-प्रक्रिया को स्वीकार ही नहीं किया अपितु उसकी प्रशंसा भी की।

□

2

प्लेटो

(Plato : 427–347 B. C.)

ऐथेन्स के ईजना क्षेत्र में प्लेटो का जन्म एक उदार सामन्त परिवार में हुआ था। वह सुकरात के जीवन के अन्तिम क्षणों तक उसका प्रिय शिष्य बना रहा और उसके निर्देशन में अनेक प्रकार की शिक्षायें ग्रहण कीं। दस वर्ष विभिन्न देशों के भ्रमण के पश्चात्, प्लेटो ने स्वयं ऐथेन्स में एक प्रसिद्ध संस्था 'एकेडेमी' (Academy) की स्थापना की जहाँ वह गणित तथा दर्शन की विभिन्न शाखाओं पर शिक्षा देता था। संस्था के सदस्य परस्पर गम्भीर दार्शनिक विचार-विमर्श करते थे। वैसे प्लेटो का चरित्र आदर्शमान था, पर जन्म से ही वह कुलीनतन्त्रीय था। स्वभाव से वह असमझौतावादी तथा चिन्तन में आदर्शवादी था। प्लेटो ने अपने ही दर्शन की प्रतिष्ठापना नहीं की, वल्कि सुकरात के दर्शन को भी व्यवस्थित किया। प्लेटो ने वहुत सी रचनाएँ लिखीं। उसकी महान् कृतियाँ संवादों के रूप में मिलती हैं जिनमें–एपॉलाजी, क्रीटान, प्रोटागोरस, जॉर्जियस, मेनो, फीडो, सिम्पोजिया, रिपब्लिक, फीड्रस, पार्मेनाइडीज, थीटीटस, सोफिस्ट, फाइलेबस तथा लॉज–मुख्य हैं। कहा जाता है कि ग्रीक दर्शन प्लेटो में ही अपने चरम-उत्कर्ष पर पहुँचा और इसलिए उसको 'पूर्ण ग्रीक' की उपाधि से विभूषित किया गया।

द्वन्द्व और ज्ञान (Dialectic and Knowledge)

सुकरात ने यह शिक्षा दी कि वौद्धिक तथा शुभ जीवन व्यतीत करने के लिये, शुभ का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। उसका दृढ़ विश्वास था कि ऐसा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और सत्यानुसंधान की कला का उसने संवादों के रूप में पर्याप्त अभ्यास किया। प्लेटो ने अपने गुरु के इस अभ्यास से वहुत लाभ उठाया। उसने एक ऐसी पद्धति अपनायी जिसे वह तार्किक या द्वन्द्वात्मक कहता था। इसी पद्धति द्वारा प्लेटो ने 'धारणाओं के निर्माण' की कला का सृजन किया। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि सत्य के विभिन्न पक्षों को जाने विना, ज्ञान का सिद्धांत विकसित नही किया जा सकता।

प्लेटो ने अपने ज्ञान के सिद्धांत को अच्छी तरह विकसित किया। उसने यह युक्ति दी कि यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष (Sense Perception) तथा मत या अनुमानित विचार ((Opinion) पर विश्वास किया जाए तो सोफिस्ट्स यह कहने में ठीक दिखते हैं कि प्रामाणिक तथा विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष हमें वस्तुओं की वास्तविकता की ओर नहीं ले जा सकता। वह केवल वस्तुओं की प्रतीति (Apperance) प्रस्तुत करता है। अनुमानित विचार सही एवं गलत दोनों हो सकता है। यदि वह सही भी हो तो भावना पर आधारित होता है। उसका कोई स्थाई मूल्य नहीं है। अतः मत या अनुमानित विचार को ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सोफियों ने प्रतीति और यथार्थता, सुख एवं शुभ, के भेद को भली-भांति स्पष्ट नहीं किया। यही कारण है कि वे एक सुसंगठित बुद्धिवादी दर्शन देने में असमर्थ रहे।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा अनुमानित विचार सच्चा ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते। इसलिए प्लेटो विशुद्ध ज्ञान (Genuine Knowledge) की ओर बढ़ा। उसने बताया कि विशुद्ध ज्ञान सत्यानुराग (Love of Truth) के बिना, संभव नहीं हो सकता। सत्यानुराग सुन्दर प्रत्ययों के चिन्तन द्वारा होता है। वही विशुद्ध ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। सत्यानुराग ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष से धारणात्मक ज्ञान (Conceptual Knowledge) और विशेष से सार्वभौम की ओर ले जाता है। धारणात्मक या सार्वभौम ज्ञान ही द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) का मूल उद्देश्य है। एकेडेमी में इसी प्रकार के द्वन्द्व का अभ्यास कराया जाता था। देखें यह द्वन्द्वात्मक पद्धति क्या है?

प्लेटो के अनुसार, द्वन्द्वात्मक पद्धति में अव्यवस्थित तथा असंगठित विशेष विचारों को किसी एक प्रत्यय (Idea) में आबद्ध किया जाता है। फिर वर्गीकरण तथा सामान्यीकरण के दृष्टिकोण से उस प्रत्यय की परीक्षा की जाती है अर्थात् उस प्रत्यय को उसके विभिन्न अंगों के रूप में विभाजित किया जाता है। इसी ढंग से स्पष्ट तथा सुसंगठित चिन्तन संभव हो सकता है। सामान्यीकरण तथा विशेषीकरण, संयोग और विभाजन, विश्लेषण एवं संश्लेषण के द्वारा ही एक धारणा से दूसरी धारणा तक पहुंचना संभव हो सकता है। यह कार्य उसी तरह का है जिस तरह एक शिल्पकार अव्यवस्थित सामग्री में से सुन्दर कृति तैयार कर देता है। अतः धारणाओं के रूप में चिन्तन की कला को ही प्लेटो द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic is an art of thinking in concepts) कहता है। ये धारणाएँ ही हमारे चिंतन के मूल विषय हैं। किसी व्यक्ति को न्यायी कहने के लिए यह ज्ञान होना आवश्यक है कि 'न्याय की धारणा' क्या है। न्याय की धारणा का ज्ञान ही हमें यह निर्णय करने में सहायक सिद्ध होगा कि अमुक आदमी न्यायी है अथवा अन्यायी है।

यह ज्ञात रहे कि प्लेटो के अनुसार, धारणा अथवा प्रत्यय का जन्म अनुभव में नहीं होता। विशेप उदाहरणों के संकलन मात्र से धारणा का निर्माण नहीं किया जा सकता, हालांकि इन उदाहरणों के द्वारा धारणाओं का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। प्लेटो ने धारणाओं को सार्वभौम प्रत्यय भी कहा जो आदमी की आत्मा में निहित होते हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति इन्हीं धारणाओं के चिन्तन की ओर ले जाती है। मानवी अनुभव हमारी धारणाओं या प्रत्ययों का स्रोत नहीं है क्योंकि सत्यं (True), शिवं (Good), और सुन्दरम् (Beautiful) की धारणाओं के समकक्ष अनुभव में कुछ मिलता नहीं। अतः धारणात्मक ज्ञान ही विशुद्ध ज्ञान है। सुकरात ने यही सिखाया जिसे प्लेटो ने अपनी दार्शनिक जिज्ञासा का केन्द्र-बिन्दु बना लिया और ज्ञान का एक व्यवस्थित सिद्धांत प्रस्तुत किया जो आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

प्लेटो ने इस वात पर वल दिया कि ज्ञान का कोई ठोस विपय होना आवश्यक है। धारणाओं का महत्त्व इसलिये है कि वे वास्तविकता के अनुरूप हैं और होनी भी चाहिये। धारणाओं को ऐसे अस्थायी विचार नहीं कहा जा सकता जो यों ही किसी के मन में विद्यमान हों। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आदि की धारणाएँ ज्ञान से स्वतन्त्र हैं। धारणायें ही ज्ञान का विषय हैं। वे यथार्थ हैं। यदि ज्ञान का विपय ही यथार्थ न होगा तो वह ज्ञान विशुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। अतः धारणात्मक ज्ञान अपने अनुरूप यथार्थ प्रत्ययों की परिकल्पना पर आधारित है।

यह स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार, धारणाओं का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है जो बौद्धिक चिन्तन के द्वारा प्राप्त होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा दृश्य जगत् के बारे में प्राप्त ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है क्योंकि यह जगत् परिवर्तित होता रहता है। यह दृश्य जगत् आज कुछ है तो कल कुछ और। प्लेटो कहता है कि हेरेक्लाइटस ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष जगत् की व्याख्या सही रूप में दी कि वह अनित्य तथा परिवर्तनशील है। लेकिन प्लेटो की दृष्टि से, इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित इस जगत् का ज्ञान एक प्रतीति है, वह भ्रम मात्र है। वस्तुतः सत्ता अपरिवर्तनशील, स्थाई तथा नित्य है। विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिये, वस्तुओं के स्थाई तथा नित्य सार का हमें अन्वेषण करना चाहिये। धारणात्मक ज्ञान ही नित्य एवं अपरिवर्तनीय सत्ता की ओर ले जा सकता है। उसके द्वारा ही वस्तुओं के यथार्थ स्वरूपों (Essential Forms of Things) को ग्रहण किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, इन्द्रिय जगत् में हमें केवल अनित्य संवेदन प्राप्त होते हैं जो हमारे ज्ञान के विषय कदापि नहीं बन सकते। सत्य धारणायें या प्रत्यय ही ज्ञान का विपय हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय जगत् हमारे ज्ञान के लिये, सर्वथा अनावश्यक है। इन्द्रियानुभव के बिना हमें प्रत्ययों अथवा धारणाओं का संस्मरण नहीं हो सकता। प्लेटो इन्द्रिय जगत् को असत् नहीं कहता। वह उसे प्रतीति का विषय मानता है। उसका तात्पर्य यही है

कि प्रत्ययों के बिना हमें जगत् का इन्द्रियानुभव भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान का वास्तविक आधार ये प्रत्यय ही हैं।

प्लेटो ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की तुलना में ज्ञान के सिद्धांत को भली-भांति विकसित करने का प्रयास किया। उसके अनुसार, चार प्रकार का ज्ञान होता है। प्रत्येक ज्ञान की विषयवस्तु तथा पद्धति अलग-अलग है। इनका क्रम इस प्रकार है—

(1) सबसे निम्न स्तर का ज्ञान एक प्रकार से कल्पित विचार (Conjecture) होता है अर्थात् वह इन्द्रिय ज्ञान जिसकी अभिव्यक्ति कल्पनाओं, स्वप्नों, प्रतिबिम्बों आदि के रूप में होती है। दूर कहीं मरुस्थल में जल का विचार बना लेना कल्पित ज्ञान का एक उपयुक्त उदाहरण है। कल्पित ज्ञान वास्तव में एक कल्पना ही है। फिर भी वह ज्ञान के एक पक्ष को स्पष्ट अवश्य करता है क्योंकि उसके माध्यम से भौतिक वस्तुओं का विकृत रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

(2) ज्ञान का दूसरा स्तर हमें विश्वास (Belief) में मिलता है। इसके अन्तर्गत अनुभव के वे समस्त विषय आते हैं जो भौतिक पदार्थ जैसे पेड़, पहाड़, नदियाँ आदि के साथ जुड़े हैं अथवा जो मनुष्य द्वारा निर्मित तथ्य हैं जैसे मकान, टेबल, कपड़ा, बर्तन आदि। विश्वास पर आधारित ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होता है। यद्यपि वह कल्पित ज्ञान से अधिक प्रामाणिक है, फिर उसे सम्भाव्य ज्ञान ही कहा जायेगा। कल्पित विचार तथा विश्वास दोनों के संगठित रूप को प्लेटो 'मत' (Opinion) कहता है। इसी के अन्तर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान सम्मिलित है।

(3) ज्ञान का तीसरा स्तर हमारी तार्किक बुद्धि (Discursive Intellect) में निहित है। यह वह बुद्धि है जो इन्द्रियजन्य वस्तुओं को ध्यान में रखकर, गणित, की इकाइयों जैसे संख्या, रेखा, कोण, त्रिकोण का अध्ययन करती है। इसके अन्तर्गत अंक गणित तथा रेखा गणित के समस्त विषय आ जाते हैं। यह ज्ञान परिकल्पनात्मक (Hypothetical) होता है क्योंकि उसे मान्य परिभाषाओं से ही अवतरित किया जाता है। प्लेटो के अनुसार, गणित के सिद्धांत स्वतः सिद्ध नहीं होते। वे मान्यतायें हैं जो विभिन्न चिन्तन क्रियाओं में सहायक होती है।

(4) ज्ञान का सर्वोच्च स्तर बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (Rational Insight) में होता है। धारणाएं अथवा प्रत्यय इस ज्ञान के मूल विषय हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा ही ऐसा ज्ञान संभव होता है। द्वन्द्वात्मक चिन्तन में प्रत्ययों को अलग-अलग रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उन्हें व्यवस्थित एकता के रूप में जाना जाता है जिनका सीधा सम्बन्ध निरपेक्ष शिवतत्व से होता है। द्वन्द्वात्मक ज्ञान मूल सिद्धान्तों पर आधारित है। यह ज्ञान परिकल्पनाओं से दूर है। यह यथार्थ प्रत्ययों का ज्ञान है अर्थात् द्वन्द्वात्मक ज्ञान सत्य का ज्ञान है। इन्द्रियानुभव से नहीं, केवल बौद्धिक अन्तर्दृष्टि से ही से प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार प्लेटो ने अपने ज्ञान-सिद्धांत को स्पष्ट करने का प्रयास किया। ज्ञान के प्रत्येक स्तर की पद्धति ही विशेष नहीं है, बल्कि प्रत्येक स्तर के ज्ञान का विषय भी अलग-अलग है। द्वन्द्वात्मक चिन्तन तक पहुंचने के लिए, सभी स्तरों का ज्ञान आवश्यक है।

प्रत्यय-सिद्धान्त (Doctrine of Ideas)

प्लेटो ने ज्ञान और तत्वज्ञान में अपृथक् सम्बन्ध बतलाया। अपने ज्ञान-सिद्धांत को प्रामाणिक बनाने के लिये उसने विशेष प्रकार का विश्व दृष्टिकोण अपनाया। प्लेटो ने सोफिस्ट्स की यह बात स्वीकार की कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। उसके अनुसार केवल धारणात्मक ज्ञान ही यथार्थ का ज्ञान करवा सकता है। तत्त्व-दर्शन उन यथार्थ प्रत्ययों के ज्ञान की ओर ले जाता है जो सार्वभौम, नित्य तथा अपरिवर्तनशील हैं, न कि उन विषयों की ओर जो भ्रमात्मक, परिवर्तनशील, अनित्य, तथा विशेष इन्द्रियजनित हैं। तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में प्लेटो का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उसका 'विज्ञानवाद' है जिसे प्रत्ययों का सिद्धांत (Doctrine of Ideas) भी कहते हैं। प्रत्ययों या धारणाओं का दूसरा नाम 'विज्ञान' ही है। यह विज्ञानवाद (Idealism) जगत् की सत्ता के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण है। प्लेटो ने अपने इस दृष्टिकोण के अनुसार, सम्पूर्ण जगत को दो भागों में बांटा है। एक व्यावहारिक जगत जिसमें गति एव परिवर्तन होते रहते हैं और दूसरा पारमार्थिक जगत् जिसमें किसी प्रकार की गति या परिणाम संभव नहीं होता। व्यावहारिक जगत् भौतिक वस्तुओं तथा पारमार्थिक जगत् प्रत्ययों का संसार होता है।

प्रत्यय विशेष वस्तुओं के सामान्य गुणों का एक संगणित रूप है। प्रत्यय अनेक विशेषों में अनुगत एकता है। प्रत्यय वस्तुओं का वह सार (Essence) है जो सार्वभौम है। वस्तुओं का सार उनके सार्वभौम रूपों में ही मिलता है। प्रत्ययों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उनकी मनुष्य तथा ईश्वर के मन से भी स्वतंत्र सत्ता है। वे स्वतः स्थित मूल-द्रव्य (Real Substances) हैं। प्रत्ययों को यथार्थ-स्वरूप (Real Forms) तथा धारणा (Concepts) भी कहा जाता है। वे समस्त वस्तुओं के अनुभवातीत मौलिक एवं प्रारम्भिक नित्य स्वरूप हैं। उनका अस्तित्व भौतिक वस्तुओं के पूर्व था। वस्तुओं के परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

विशेष भौतिक वस्तुएँ जिनको हम अपने अनुभव में देखते हैं नित्य सार्वभौम प्रत्ययों के प्रतिरूप हैं। भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। उनका विकास होता है और अन्त में उनका विनाश हो जाता है। विशेष व्यक्तियों के रूप में अनेक मनुष्य पैदा होते हैं और मर जाते हैं, पर 'मनुष्य प्रत्यय' नित्य और अमर है। वह कभी नष्ट नहीं होता। यद्यपि प्रत्यय असंख्य हैं। किन्तु वे अव्यवस्थित तथा विक्षिप्त नहीं हैं। उनमें सुव्यवस्था है। उनमें संगठन तथा आंगिक एकता है जिसका ज्ञान बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही हो सकता है।

प्लेटो के अनुसार, समस्त प्रत्ययों में एक तार्किक व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था में सर्वोच्च प्रत्यय 'शिव' (Good) है। सभी प्रत्यय इसी के अन्तर्गत आते हैं। शिव और यथार्थता दोनों एक ही हैं। अतः एकता में अनेकता निहित है। दृश्य-जगत् में एकता के बिना अनेकता और अनेकता के बिना एकता असम्भव है। यह विश्व तार्किक एकता में आबद्ध है और उसमें आंगिक एकता है। वह सार्वभौम उद्देश्य अर्थात् शिव से परिपूर्ण है। यह विश्व एक महत्वपूर्ण बौद्धिक सम्पूर्णता है। सर्वोच्च शिव का अर्थ इन्द्रियों को ग्राह्य नहीं हो सकता। द्वन्द्वात्मक चिन्तन के द्वारा ही उसकी अनुभूति की जा सकती है। विश्व के आन्तरिक स्वरूप का ज्ञान केवल तत्व-दर्शन तथा बुद्धि द्वारा ही संभव है।

'प्रत्यय सिद्धान्त' प्लेटो के दार्शनिक चिन्तन की बहुत ही मौलिक देन है। यद्यपि इस आदर्श सिद्धान्त (विज्ञानवाद) के लिए, पाइथेगोरस के संख्या-रहस्यवाद पार्मेनाइडीज के नित्य सत्ता सिद्धान्त, हेरेक्लाइटस के लागोस सिद्धान्त, अनेक्जेगोरस के गुणात्मक परमाणुवाद और सबसे अधिक सुकरात के धारणाओं के विचार ने मार्ग प्रशस्त कर दिया था, पर सार्वभौम (Universals) के सिद्धान्त को तत्वज्ञान के रूप में प्रतिपादित करना, प्लेटो का ही काम था। उसके प्रत्यय-सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

(1) प्रत्यय मूल द्रव्य हैं। द्रव्य उसे कहते हैं जिसकी सत्ता स्वयं उसी पर आश्रित रहती हो। द्रव्य किसी अन्य पर निर्भर नहीं होता। वह आत्म-नियन्त्रित (Self-determined) होता है। अन्य वस्तुएँ या गुण द्रव्यों पर ही निर्भर रहते हैं। परन्तु वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं। प्रत्यय यथार्थ इकाइयां है जिन्हें वस्तुओं की अमूर्त धारणाएँ भी कहा गया है।

(2) प्रत्यय असीम (Infinite) संख्या में विद्यमान हैं। उनमें विभिन्न वर्ग होते हैं जैसे वस्तुएँ—घर, कुर्सी, टेबल, व्यक्ति आदि; गुण—सफेद, पीला, लाल, काला आदि; सम्बन्ध—समानता, एकरूपता, भिन्नता आदि; मूल्य—सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आदि।

(3) प्रत्ययों का सम्बन्ध अमूर्त (Abstract) इकाइयों के क्षेत्र से होता है। उनका अपना एक क्षेत्र है जिसे 'प्रत्ययों का स्वर्ग' कहते हैं। दृश्य जगत् विशेष मूर्त वस्तुओं का जगत् है जो प्रत्ययों के स्वर्ग से पृथक है। इस प्रकार के पृथकत्व या विभाजन को सामान्यतः प्लेटो का द्वैतवाद कहा जाता है।

(4) प्रत्यय सार्वभौम (Universal) होते हैं। विशेष भौतिक वस्तुओं की तुलना में प्रत्यय बहुत उच्च हैं। प्रत्यय यथार्थ इकाइयां हैं जिनकी वस्तुएँ प्रतीति मात्र होती हैं। प्रत्यय प्रारम्भिक रूप हैं। वे मौलिक द्रव्य हैं और अन्य वस्तुएँ उनकी प्रतियां हैं।

(5) प्रत्यय मानसिक (Mental) नहीं होते। उनकी सत्ता बिल्कुल स्वतंत्र है। वे आदमी तथा ईश्वर के मन से भी स्वतन्त्र हैं। प्रत्ययों की स्थिति विलक्षण है। वे न तो मानसिक हैं और न भौतिक। फिर भी वे यथार्थ हैं। मानसिक या भौतिक कहने से उनका स्वतंत्र यथार्थ स्वरूप नष्ट हो जाता है।

(6) समस्त प्रत्यय दिक् (Space) और काल (Time) से परे हैं। दृश्य जगत् की सभी वस्तुएँ अनित्य तथा परिवर्तनशील होती हैं। प्रत्यय नित्य हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। विशेष भौतिक वस्तुएँ ही बदलती रहती हैं। इनका कोई स्थाई रूप नहीं होता।

(7) सत् और मूल्य की दृष्टि से, प्रत्यय विशेषों से श्रेष्ठ (Excellent) हैं और समस्त विशेष इन विचारों के आभास हैं। प्रत्ययों की सत्ता पूर्ण एवं शुद्ध है। व्यावहारिक जगत् के विशेष इनकी मात्र अनुकृति हैं। विशेषों का रूप सार्वभौम प्रत्ययों या विज्ञानों का विवर्त है।

(8) समस्त प्रत्ययों में तार्किक (Logical) संगति होती है। इसलिए उनमें विभिन्न स्तर मिलते हैं। कुछ प्रत्यय उच्च स्तर के होते हैं और कुछ निम्न स्तर के। सबसे सर्वोच्च प्रत्यय शिव है। उसी के कारण समस्त प्रत्ययों में एक-रूपता, सामंजस्य और समन्वय संभव है। उच्च प्रत्यय उप-प्रत्ययों से संज्ञापन स्थापित रखते हैं।

(9) समस्त प्रत्ययों का ज्ञान-बुद्धि (Intellect) से होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा उनका ज्ञान संभव नहीं है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय यद्यपि संवेदन है, पर वह सार्वभौम प्रत्ययों की ज्ञान प्राप्ति में सहायक है। वह उन्हें जानने के लिए प्रोत्साहित करता है। मूलतः प्रत्यय अतीन्द्रिय जगत् में रहते हैं।

(10) विशेष और सार्वभौम प्रत्यय के सम्बन्ध को प्लेटो 'सहभागिता' (Participation) कहता है। समस्त विशेष वस्तुएँ एक सामान्य उद्देश्य के आधीन अपने अनुकूल प्रत्यय में भाग लेती हैं। यह सहभागिता ही उनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती है।

दार्शनिक दृष्टि से, यह प्रत्यय-सिद्धान्त, प्लेटो का यथार्थवाद (Platonic Realism) कहलाता है क्योंकि सार्वभौम प्रत्यय उत्पत्ति-विनाश रहित, अपरिणामी तथा नित्य हैं। प्रत्यय मानव बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं है, बल्कि प्लेटो के अनुसार उनकी वास्तविक सत्ता है। इस सिद्धान्त का मध्ययुगीन चिन्तन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, हालांकि उसके ही समकालीन दार्शनिक अरस्तू ने उसका खण्डन भी किया।

सृष्टि विज्ञान (Cosmology)

प्लेटो के सृष्टि-विज्ञान में पुद्गल का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि समस्त दृष्ट जगत् का आधार ही पुद्गल है। अतः पुद्गल (Matter) क्या है? उसका प्रत्ययों से क्या सम्बन्ध है? यह सब जान लेना आवश्यक है। भौतिक जगत् उस कच्चे माल की पूर्ति करता है जिस पर किसी प्रकार मूल प्रत्ययों की छाप अंकित होती

है। पुद्गल विनाशयुक्त तथा अपूर्ण होता है। प्लेटो ने पुद्गल के लिए, अ-यथार्थ, अ-सत्ता अनित्य आदि नाम भी दिये। दृश्य जगत् में जो कुछ अस्तित्व, यथार्थता, दिखाई देती है, वह प्रत्ययों के कारण ही है। पुद्गल वह सामग्री है जिससे भौतिक वस्तुओं का विकास होता है। प्रकृति यथार्थ और पुद्गल सत्ता और अ-सत्ता के अन्तर-खेल का परिणाम है। मूल प्रत्यय पुद्गल की परिवर्तित स्थिति के आधार पर अनेक वस्तुओं में विभाजित दिखाई देता है। वस्तुओं की स्थिति उनमें निहित प्रत्ययों के कारण होती है। इस कारण प्लेटो ने प्रत्यय जगत् तथा वस्तु जगत् में भेद स्थापित किया। यद्यपि दोनों में सम्बन्ध है, लेकिन वे एक दूसरे से मूलतः पृथक तथा स्वतन्त्र हैं। प्रत्यय जगत का मूलाधार शिवतत्व है। शिवतत्व नित्य, अविनाशी शाश्वत, सत् और सार्वभौम है। वस्तु-जगत अशुभ, अनित्य तथा विनाशी है। चूंकि प्रत्यय-जगत समस्त शुभ का स्रोत है, वस्तु-जगत समस्त अशुभ के लिये उत्तरदायी है। प्रत्यय-जगत मौलिक सिद्धान्त है, जबकि वस्तु-जगत समस्त गौण तथा निम्न कोटि का सिद्धान्त है। प्रत्यय-जगत पारमार्थिक है जिसमें किसी प्रकार का परिणाम एवं गति सम्भव नहीं होती और वस्तु-जगत व्यावहारिक जगत है। इसमें गति एवं परिवर्तन होते रहते हैं। संक्षेप में यह प्लेटो का द्वैतवाद (Dualism) है। वस्तुओं का मूल श्रोत वस्तुओं में मिलता है और पुद्गल गौण तथा अनित्य है। दोनों एक दूसरे से बिल्कुल पृथक हैं।

प्लेटो विश्व-कर्मा (Demiurge) नाम के ईश्वर में आस्था रखता है। ईश्वर ने संसार की रचना नहीं की, वरन् पूर्व स्थित सर्वोच्च शिव की दृष्टि से पुद्गल को व्यवस्थित किया। पुद्गल भी पहले से ही विद्यमान था। ईश्वर ने जगत् का इतना पूर्ण प्रबन्ध किया है जितना वास्तव में संभव था। वस्तुतः ईश्वर जगत् की सृष्टि नहीं करता। वह वस्तुशास्त्री है और नित्य प्रत्ययों के अनुरूप पुद्गल से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करता है। वह उनको पैदा नहीं करता। उसका काम पूर्व-विद्यमान पुद्गल पर नित्य स्वरूपों का अंकन करना है। इस प्रकार से निर्मित जगत् में चार भौतिक तत्वों का सम्मिश्रण है—पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल। विश्व के समस्त भौतिक पदार्थ अपूर्ण और अनित्य हैं। जगत् की उत्पत्ति इसलिए हुई है कि इसके अपूर्ण और अनित्य पदार्थ पूर्ण आदर्शों को प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर विकसित हों।

प्लेटो के अनुसार, विश्व में एक सजीव आत्मा अर्थात जगत्-आत्मा भी होती है। यह विश्व-आत्मा विभाज्यता तथा अविभाज्यता, स्थायित्व तथा परिवर्तन, का एक मिश्रित रूप है। वह व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दोनों जगत् को जान सकती है। विश्व-आत्मा समस्त गति का मूल कारण है। स्वतः गतिमान होने के साथ-साथ वह अन्य वस्तुओं को भी गतिशील करती है। गति नियमानुसार संचालित होती है। गति आकस्मिक नहीं है। विश्व-आत्मा के अतिरिक्त, ईश्वर ने अन्य आत्माओं तथा देवों की रचना भी की जिन्होंने अपने से निम्न स्तर की आत्माओं का निर्माण किया।

जगत् का विकास यंत्रवत नहीं है, सोद्देश्य है। सार्वभौम प्रत्यय विश्व के पदार्थों के वास्तविक 'स्वरूप' हैं और समस्त सृष्टि अपने स्वरूप का लाभ करने के लिए विकसित हो रही है। ईश्वर द्वारा व्यवस्था विभिन्न प्रकार के उद्देश्यों से प्रभावित होती है। जगत् की व्यवस्था में सामंजस्य तथा समन्वय है। उसमें एक-रूपता है। प्रत्येक पदार्थ, भिन्न होते हुए भी, इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। उद्देश्य ही जगत् का यथार्थ कारण है। भौतिक कारण सहयोग मात्र है।

ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण है और सार्वभौम प्रत्यय इस जगत् के स्वरूप कारण हैं। वैसे ईश्वर किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करता, पर वह मन एवं प्रकृति की समस्त शक्ति, क्रिया आदि, का मूलाधार है। विज्ञान-रूपी नित्य प्रत्ययों को आदर्श मानकर ईश्वर उनके अनुरूप जगत् के पदार्थों का निर्माण करता है। लेकिन यह स्मरण रहे कि प्लेटो ईश्वर को ही सर्वोच्च नहीं मानता। शिवतत्व परमतत्व है। प्लेटो ने शिवतत्व तथा ईश्वर में भेद स्थापित किया है। ईश्वर सगुण है, जबकि शिवतत्व निर्गुण है। ईश्वर अपर है और शिवतत्व पर। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, जबकि शिवतत्व ईश्वर का भी पिता है। इस प्रकार शिव-तत्व (Idea of the Good) अन्तर्यामी है। वह ईश्वर का ईश्वर तथा विज्ञानों का विज्ञान है। संक्षेप में, ईश्वर तथा विज्ञान (प्रत्यय) दोनों ही शिवतत्व की अभि-व्यक्ति हैं। शिवतत्व विशुद्ध विज्ञान स्वरूप है। विज्ञान तथा ईश्वर एक ही स्तर में आते हैं। सांसारिक पदार्थों का निर्माण ईश्वर ने नित्य प्रत्ययों के अनुरूप किया है। किन्तु भौतिक पदार्थ इन नित्य प्रत्ययों को सीमित नहीं कर सकते क्योंकि उनकी सत्ता सांसारिक पदार्थों से स्वतन्त्र है।

अमरता का सिद्धान्त (*Doctrine of Immortality*)

प्लेटो की ज्ञानमीमांसा मूलतः मत तथा विशुद्ध ज्ञान पर आधारित है। मत इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर निर्भर है और विशुद्ध ज्ञान बुद्धि पर। इस सिद्धान्त का प्लेटो के मनोविज्ञान पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह आत्मा को अमर तथा दिव्य मानता है। लेकिन आत्मा को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए शरीर पर निर्भर रहना पड़ता है। आत्मा में नित्य विज्ञानों (प्रत्ययों) को जानने की योग्यता भी होती है। इसीलिए वह विशुद्ध बुद्धि भी है। शरीर इन्द्रिय प्रत्यक्ष की ओर प्रेरित करता है अर्थात सांसा-रिक पदार्थों की ओर ले जाता है। इस दृष्टि से, शरीर विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में एक बाधा है। अतः सत्य की प्राप्ति के लिए, यह आवश्यक है कि आत्मा शरीर से, इन्द्रिय जगत् से, आगे बढ़े और अपने लक्ष्य: विशुद्ध विज्ञान स्वरूप शिवतत्व से साक्षात्कार, की प्राप्ति करे। यही उसका मूल उद्देश्य है।

प्लेटो के अनुसार, जीव के शरीर के समाप्त होने के बाद अर्थात मृत्यु होने के पश्चात् जो कुछ शेष रहता है वही आत्मा है। आत्मा अमर है। प्लेटो मानता

है कि जीवात्मा तथा विश्वात्मा में पर्याप्त समानता है। उनमें अन्तर केवल इतना है कि जीवात्मा अपूर्ण तथा ससीम है। विश्वात्मा पूर्ण तथा असीम है। समस्त शारीरिक प्रक्रियाओं का परिचालन आत्मा द्वारा ही होता है। जीवात्मा का सम्वन्ध केवल व्यावहारिक जगत् से ही नहीं वल्कि विज्ञान-जगत् या पारमार्थिक जगत् से भी है।

प्लेटो ने आत्मा को एक समग्र माना है जो शरीर के पूर्व विद्यमान होती है। जब वह शरीर में प्रवेश करती है तव शरीर के दो प्रमुख भाग अभिव्यक्त होते हैं—बौद्धिक तथा अबौद्धिक। अबौद्धिक भाग में दो उपविभाग हो जाते हैं। भावनात्मक तथा वासनात्मक। इस प्रकार आत्मा तीन भागों में विभक्त हो जाती है :—

(1) बौद्धिक प्रभाग (Rational Faculty)—जीवात्मा का सर्वोच्च भाग बौद्धिक है। यह विशुद्ध बुद्धि है। इसका सम्वन्ध विज्ञान या प्रत्यय-जगत् से है। इसी के द्वारा आत्मा प्रत्ययों का साक्षात्कार कर सकती है। आत्मा का वौद्धिक अंग सरल एवं अविभाज्य होता है। अतः यह अनादि तथा अविनाशी है। बौद्धिक आत्मा की मृत्यु नहीं होती। इसके सभी कार्य चयनात्मक और विशेप होते हैं। इसमें चरित्र के विशेष गुण आदर, सहनशीलता; चिन्तन, आदि होते हैं।

(2) भावनात्मक प्रभाग (Spirited Faculty)—आत्मा का यह सजीव, तेजस्वी तथा ओजस्वी भाग है। यह बौद्धिक प्रभाग से निम्न स्तर का है। यह क्रियात्मक आत्मा है। विभिन्न प्रकार के साहसपूर्ण तथा उत्साहयुक्त कार्य इसी के प्रभाव से होते हैं। लेकिन इसके सभी कार्य प्रवृत्यात्मक होते हैं। इसमें चरित्र की वे विशेपताएँ आती हैं जिन्हे आकांक्षा, क्रोध, शक्ति-प्रेम आदि कहते हैं।

(3) वासनात्मक प्रभाग (Appetitive Faculty)—आत्मा का यह निम्न स्तर का भाग है। यह वासनात्मक अंग है। इसमें बौद्धिक गुणों का प्रायः पूर्ण अभाव होता है। इसमें तमोगुण का प्रधान्य है। आत्मा का यह भाग इच्छा, भूख, प्यास, भय, काम आदि की ओर उन्मुख होता है। यह अंश शारीरिक संतुष्टियों की ओर प्रेरित होता है।

इन तीनों भागों में परस्पर सम्बन्ध होता है। लेकिन बुद्धि ही उन सव पर नियन्त्रण करती है। जिस व्यक्ति में जिस भाग का आधिक्य होता है उसकी चारित्रिक विशेषताएँ वैसी ही वनती हैं। पशुओं की आत्मा में बौद्धिक भाग का अभाव होता है। उनके केवल दो निम्न भाग ही होते हैं। वनस्पतियों में केवल वासनात्मक अंश ही होता है।

प्लेटो के अनुसार, आत्मा सरल, अविभाज्य एवं चेतन है। यह आत्मा अमर। आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए, प्लेटो ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। न सब युक्तियों को यहाँ तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(1) ज्ञानात्मक युक्ति (Epistemological Argument)

सार्वभौम प्रत्ययों का ज्ञान केवल आत्मा को ही हो सकता है। आत्मा नित्य विज्ञानों का चिन्तन करती है। अतः उसे नित्य विज्ञान स्वरूप होना चाहिए क्योंकि समान ही समान को जान सकता है। आत्मा उसी तरह अमर है जिस तरह सार्वभौम प्रत्यय अथवा विज्ञान है। आत्मा ज्ञाता-रूप है।

आत्मा की अमरता के लिए, संस्मरण-सिद्धान्तों का प्रयोग भी किया गया है। आत्मा को विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों तथा प्रामाणिक सत्यों की पूर्व-स्मृति होती है। उनका ज्ञान केवल इसी जन्म में प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्योमेट्री का समस्त ज्ञान जन्म के समय सुषुप्त अवस्था में विद्यमान होता है। अतः आत्मा का पूर्व-अस्तित्व ही नहीं होता, बल्कि उसकी निरन्तरता भी बनी रहती है। शरीर नष्ट हो जाता है, आत्मा नहीं। अतः स्मृति के आधार पर आत्मा की अमरता सिद्ध होती है।

(2) तत्व-मीमांसात्मक युक्ति (Metaphysical Argument)

प्लेटो ने आत्मा की अमरता सिद्ध करने के लिए ज्ञानात्मक युक्तियों के अतिरिक्त, कुछ तत्वमीमांसात्मक सम्बन्धी युक्तियाँ भी दी हैं जो इस प्रकार हैं :—

(i) आत्मा की प्रकृति सरल एवं अविभाज्य है। आत्मा में एकता है। इसलिए मिश्रण द्वारा आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती और विघटन द्वारा उसका विनाश भी नहीं हो सकता। सरल तत्व का स्वभाव ही अविभाज्य होता है। अतः आत्मा अमर है। शरीर मिश्रित है। इसलिए उसका विनाश होता है।

(ii) आत्मा प्राण-शक्ति या सजीवता का सिद्धान्त है। यदि यह कहा जाये कि प्राण-शक्ति अथवा जीवन के आधार की मृत्यु होती है तो यह बात आत्म-विरोधी होगी। जीवन तो जीवन ही रहेगा चाहे वह कहीं भी हो। वह कभी भी मृत्यु नहीं बन सकता। अतः आत्मा अमर है।

(iii) समस्त शारीरिक गति का कारण आत्मा होती है। आत्मा गति का मूल स्रोत है और जो गतिदाता है वह स्थाई तथा अमर होना चाहिये। अतः आत्मा अमर तथा अनादि है। आत्मा शाश्वत, निरन्तर रहने वाली सत्ता है।

(3) मूल्यात्मक एवं नैतिक युक्ति (Axiological and Moral Argument)

नैतिकता के आधार पर प्लेटो ने एक और युक्ति प्रस्तुत की। समाज में सदैव न्याय की मांग की जाती है। वर्तमान जगत् नैतिक, बौद्धिक तथा न्याय की व्यवस्था के रूप में भविष्य जीवन की परिकल्पना भी करता है ताकि कर्मानुसार, दण्ड और पारितोषक मिल सके। ऐसा तभी सम्भव है जब आत्मा अमर हो। आगामी जीवन में शुभ कार्यों के लिए पुरस्कार तथा अशुभ कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था आत्मा की अमरता पर आधारित है। अतः आत्मा अमर है। अन्याय, अशुभ, अज्ञान, क्रोध,

आदि आत्मा की विलक्षण बुराइयाँ हैं, परन्तु उनसे आत्मा का विनाश नहीं होता। आत्मा अमर तथा दिव्य है।

नीति विज्ञान (Ethics)

प्लेटो का नीतिविज्ञान, उसके ज्ञान-सिद्धान्त के समान, तत्वविज्ञान पर ही आधारित है। यह विश्व मूलतः एक बौद्धिक जगत् है, एक सुन्दर विज्ञानात्मक व्यवस्था है। भौतिक वस्तुएँ इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय हैं जो परिवर्तनशील तथा अनित्य हैं, हालाँकि वे नित्य प्रत्ययों के प्रतिरूप मात्र हैं। विनाशशील तथा परिणामी भौतिक वस्तुओं का कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं है। बुद्धि सन्मार्ग की ओर ले जाती है। सर्वोच्च शुभ का ज्ञान बुद्धि के द्वारा ही होता है, और बुद्धि का ही निरपेक्ष मूल्य है। अतः मनुष्य का बौद्धिक अंग ही सच्चा अंग है। बुद्धि का विकास हो, उसकी प्रखरता में वृद्धि हो, यही आदमी का उद्देश्य होना चाहिए। बुद्धि ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। शरीर तथा इन्द्रियानुभव इस स्वरूप को आवृत करते हैं : अतः प्लेटो के अनुसार इन्द्रियों का दास होना उचित नहीं है। दुष्ट इन्द्रियां उस अड़ियल घोड़े के समान हैं जो रथ को गर्त में ले जाकर डाल देता है। इन्द्रिय जगत् से आगे बढ़ना, प्रत्ययों या विज्ञानों का चिन्तन करना, जीवन के उद्देश्यात्मक पक्ष हैं।

यद्यपि जीवन का उद्देश्य शरीर के बन्धनों से मुक्त होना है, पर आत्मा के समक्ष और भी समस्याएँ हैं जिनके समाधान में वह प्रयत्नशील रहती है। बुद्धि समस्त क्रियाओं के नियन्त्रण में संलग्न रहती है। वही व्यक्ति बुद्धिमान है जिसमें विभिन्न प्रकार की प्रेरणाओं तथा प्रवृत्तियों पर बुद्धि का नियन्त्रण रहता है। भावनात्मक भाग का काम बुद्धि का साथ देना है ताकि जीवन के क्षुधावर्धक भाग की क्रियाओं को नियन्त्रित किया जा सके। बुद्धि भावनात्मक भाग का मार्ग प्रदर्शन करती है। जिसमें भावनात्मक भाग अधिक होता है वह साहसी तथा बहादुर होता है। वह व्यक्ति संयमी होता है जिसमें भावनात्मक तथा वासनात्मक भाग मिलकर कार्य करते हैं। संयम तथा आत्म-नियन्त्रण कुछ विशेष प्रकार के सुख-दुःख पर नियन्त्रण का अभ्यास है। जब आत्मा के तीनों अंग—बुद्धि, भावना और वासना, किसी व्यक्ति में सामंजस्यपूर्वक कार्य करते हैं तो वह ईमानदार, न्यायप्रिय, होता है। ऐसा व्यक्ति चोरी, व्यभिचार, अशुभ, आदि बुराइयाँ नहीं करता। न्याय नैतिक जीवन का सर्वोच्च सद्गुण है और जिस आदमी के व्यक्तित्व में यह सद्गुण है, वह कभी भी अशुभ, अनैतिक, कार्य नहीं करेगा। इस प्रकार मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है कि वह आत्मा के विभिन्न अंगों में समन्वय एवं सामंजस्य बनाये रखे।

प्लेटो के अनुसार, जीवन का नैतिक आदर्श सुव्यवस्थित आत्मा (Well-ordered-soul) की प्राप्ति है अर्थात् वह आत्मा जिसमें बुद्धि का प्राधान्य हो तथा सुव्यवस्थित आत्मा में ही बुद्धिमानी, साहस, आत्म-नियन्त्रण तथा न्याय के सद्गुण विद्यमान होते हैं ऐसा बौद्धिक जीवन ही सर्वोच्च शुभ है। बुद्धि द्वारा नियंत्रित

जीवन में आनन्द (Happiness) ही आनन्द होता है। न्यायप्रिय व्यक्ति ही आनन्द प्राप्त कर सकता है। सुख आनन्द से भिन्न है। सुख इच्छाओं की संतुष्टि से मिलता है, जबकि आनन्द की प्राप्ति नित्य प्रत्ययों के चिन्तन द्वारा होती है। व्यक्ति जितना ही बौद्धिक चिन्तन की ओर बढ़ेगा उसे उतना ही आनन्द मिलेगा। जो स्थाई है, वह आनन्दमय है। जो परिवर्तनशील है, वह अशुभ हैं। प्लेटो के अनुसार, भौतिक जीवन में आनन्द नहीं मिल सकता क्योंकि वह अनित्य है। अत: जीवन का मूल उद्देश्य बुद्धिशील आत्मा की प्राप्ति है जो नित्य विज्ञानों की ओर ले जाती है।

भौतिक सुख नैतिक जीवन का आदर्श नहीं है। नैतिक जीवन में न्याय का प्रमुख स्थान है। न्याय का अर्थ तारतम्य एवं समन्वय अर्थात् आत्मा के विभिन्न पक्षों का समन्वय है। नित्य प्रत्ययों का चिन्तन इस प्रकार के जीवन की ओर ले जाता है और इन निन्य प्रत्ययों में विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप शिवतत्व (Idea of the Good) ही सर्वोच्च है। वही जगत् का परम आदर्श है। समस्त विश्व उसी की ओर विकसित हो रहा है। शिवतत्व का निर्विकल्प साक्षात्कार ही, प्लेटो के नैतिक दर्शन की दृष्टि से, नैतिक मानव जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है।

प्लेटो का समाज तथा राजनीति दर्शन, उसके मनोविज्ञान तथा नीतिविज्ञान पर आधारित है। उनका विशेष विवरण उसके 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में दिया गया है। अपने गुरू सुकरात के समान, प्लेटो यह मानता है कि सद्गुण सर्वोच्च शुभ है जिसे व्यक्ति समाज के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। समाज में ही सद्गुण की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। राज्य समाज का ही अंग है। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह उन स्थितियों, संविधान तथा कानूनों को उत्पन्न करे जिनके सह-योग से व्यक्ति अधिक से अधिक नैतिक जीवन व्यतीत कर सके। अत: जन-कल्याण के लिए एक उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना राज्य का परम कर्तव्य है। प्लेटो का कहना है कि राज्य-व्यवस्था इस प्रकार हो कि जहां बुद्धि का शासन हो ताकि व्यक्ति अपनी अपूर्णताओं को दूर कर सके। प्लेटो ने आत्मा के तीन अंगों के अनुरूप समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया—शासक वर्ग, सैनिक तथा श्रमिक वर्ग। जिनमें बौद्धिक प्रधानता है वे शासक-वर्ग में आते हैं। यह दार्शनिकों का वर्ग है क्योंकि उनमें बौद्धिक चिन्तन होता है। जिनमें भावनात्मक उत्तेजना होती है वे सैनिक वर्ग में और जिनमें वासनात्मक प्रवृत्तियां हैं वे श्रमिक वर्ग में आते हैं। समस्त शासन दार्शनिकों के सुपुर्द होना चाहिए क्योंकि वे बौद्धिक चिन्तक होते हैं और उनमें ही विवेक बुद्धि की प्रधानता होती है।

ऐतिहासिक महत्त्व

प्लेटो ने अपने गुरू सुकरात के विभिन्न विचारों को विश्लेपित कर, दार्शनिक व्यवस्था में आबद्ध किया। साथ-साथ अपने व्यक्तिगत दर्शन की नींव की स्थापना

की। प्लेटो के दर्शन का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि उसके विचारों ने यूरोप के समस्त दार्शनिक चिन्तन को प्रभावित किया। कुछ प्रमुख सारांश इस प्रकार हैं—

(1) प्लेटो का दर्शन बुद्धिवादी है। उसके अनुसार विश्व का बौद्धिक ज्ञान सम्भव है। ज्ञान का स्रोत इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होकर, बुद्धि है और बुद्धि ही नित्य प्रत्ययों के ज्ञान की ओर ले जाती है। परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में अनुभव का अपना महत्त्व है। यह अनुभव ही नित्य एवं अपरिणामी प्रत्ययों के चिन्तन के विषय में प्रोत्साहित करता है।

(1) प्लेटो का दर्शन यथार्थवादी है। वह मन के अतिरिक्त यथार्थ इकाइयों को भी मानता है। इन इकाइयों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वे किसी अन्य पर निर्भर नहीं हैं। ये आत्म-नियन्त्रित होती हैं। इस प्रकार, ये यथार्थ इकाइयां, प्रत्यय या विज्ञान, पूर्ण स्वतन्त्र, आत्म-निर्भर और मूलभूत तत्त्व हैं। उसका दर्शन यथार्थवादी होते हुए भी भौतिकवादी नहीं है।

(3) प्लेटो का दर्शन आदर्शवादी भी है। प्रत्यय-जगत् वस्तु-जगत् से भिन्न है। प्रत्यय-जगत् वस्तु-जगत् की तुलना में आदर्श रूप है। मानव जीवन का लक्ष्य है कि प्रत्यय-जगत् का चिन्तन कर सर्वोत्तम शुभ शिव-तत्त्व की प्राप्ति करे। उसका दर्शन विश्वदेववाद में आस्था रखता है जिसके अनुसार समस्त जगत् विश्वात्मा की झलक मात्र है।

(4) प्लेटो का दर्शन ईश्वरवादी है। वह 'डेमिअर्ज' नामक ईश्वर को जगत् का निर्माता मानता है। यद्यपि वह जगत् की उत्पत्ति नहीं करता, पर विश्व की समस्त व्यवस्था उसी के कारण है। उसका दर्शन यन्त्रवादी न होकर, प्रयोजनवादी है। विज्ञान-स्वरूप शिवतत्त्व का साक्षात्कार मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

(5) प्लेटो का दर्शन एक प्रकार से द्वैतवादी है। जगत् की व्याख्या में, वह दो सिद्धान्तों—आदर्श एवं भौतिक का प्रयोग करता है। प्रत्यय-जगत् आदर्श रूप है, जबकि भौतिक जगत् इन्द्रियाधारित है। दोनों जगत् एक दूसरे से पृथक् हैं। यही द्वैतवाद, उसके समस्त दार्शनिक चिन्तन का मूलाधार है जिसने समस्त आगामी दर्शन को प्रभावित किया।

सारांशत: प्लेटो का दर्शन विचार-जगत् में एक खजाना बन गया। उसका प्रत्ययवाद एवं प्रयोजनशास्त्र, मूल-प्रकारों के रूप में उसके प्रत्ययों की व्यवस्था तथा वास्तविक जगत् की स्थिति; उसका द्वैतवाद और रहस्यवाद, उसके द्वारा बुद्धि की बढ़ाई तथा इंद्रिय-जगत् के प्रति उपेक्षा, आत्मा की अमरता के पक्ष में युक्तियाँ तथा मनुष्य के पतन का सिद्धान्त; नैतिकता पर आधारित उसकी राज्य की अवधारणायें सभी शिक्षाएँ, उन सभी विद्वानों के लिए, प्रेरणा-स्रोत बन गये जो बुद्धि (Reason) में आस्था रखते थे।

□

3

अरस्तू

(Aristotle : 348-322 B.C.)

अरस्तू का जन्म यूनान के स्टैगिर नगर में हुआ था। वह मैसीडोन के राजा फिलिप के शाही वैद्य निकोमैकस का पुत्र था। 17 वर्ष की उम्र में उसने प्लेटो की एकेडेमी में प्रवेश किया। 20 वर्ष तक अपने गुरू प्लेटो के साक्षात् सम्पर्क में वह रहा। प्लेटो की मृत्यु के पश्चात् उसने कई देशों का भ्रमण किया। मैसीडोन नरेश फिलिप के राजकुमार सिकन्दर का वह तीन वर्ष तक शिक्षक रहा। एथेन्स लौटकर, अरस्तू ने अपनी 'लायसियम' नामक शिक्षा संस्था की स्थापना की। उसे टहलते-टहलते शिक्षा देने की आदत थी। भाषण तथा संवादों द्वारा वह शिक्षा देता था। कुछ समय पश्चात् एथेन्स की एन्टी-मैसीडौनियन पार्टी ने उस पर धर्मोल्लंघन का आरोप लगाया। अतः अरस्तू एथेन्स छोड़कर यूवोई आ गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। प्रभावशाली चिन्तक अरस्तू ने विभिन्न विषयों—दर्शन, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राणि विज्ञान, नीतिशास्त्र, राजनीति तथा साहित्य पर गम्भीर विचार प्रकट किये। अरस्तू के प्रमुख ग्रन्थ हैं—फिजिक्स, मैटाफिजिक्स, एथिक्स, पोइटिक्स, ऑर्गना, पॉलिटिक्स आदि। उसकी सभी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन कहा जाता है कि उसने 400 ग्रन्थों की रचना की थी।

विज्ञान और दर्शन (Science and Philosophy)—

अरस्तू ने प्लेटो की इस मान्यता को स्वीकार किया कि यह विश्व विभिन्न अंगों की एक सजीव (Organic) उद्देश्यमूलक व्यवस्था है। यह विश्व एक आदर्श जगत् है जिसमें नित्य प्रत्ययों का स्वतंत्र अस्तित्व है। ये नित्य प्रत्यय ही विभिन्न वस्तुओं के सार अथवा मूल कारण हैं। वस्तु-जगत् (Material World) प्रत्यय-जगत से बिल्कुल भिन्न है। प्लेटो के इन विचारों से अरस्तू सहमत है। लेकिन अरस्तू अपने दार्शनिक दृष्टिकोण में भिन्न होने के कारण, प्लेटो की आधारभूत दार्शनिक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता।

अरस्तू के अनुसार, नित्य-प्रत्ययों को वस्तु-जगत् से पृथक् नहीं किया जा सकता। वे वस्तु-जगत् के अनिवार्य अंग हैं। वे वस्तु-जगत् में व्याप्त हैं। नित्य-प्रत्यय वस्तु-जगत् को रूप और जीवन प्रदान करते हैं। अनुभव जगत् अविश्वसनीय प्रतीति मात्र नहीं है वह वास्तविकता है। उसे उपेक्षित करना भूल है। अरस्तू ने अनुभव को ज्ञान का आधार बतलाया। अनुभव से ही प्रारम्भ होकर हम प्रथम सिद्धान्तों के विज्ञान तक पहुँचते हैं। दर्शन ही प्रथम सिद्धान्तों का दूसरा नाम है।

अपने दृष्टिकोण के अनुरूप, अरस्तू ने वास्तविकता तथा विशेष का विश्लेषण किया। विशुद्ध ज्ञान तथ्यों की पहिचान मात्र में ही नहीं है, बल्कि उनके कारणों को जानने में निहित है। यह जानना भी आवश्यक है कि तथ्य जैसे हैं वैसे ही क्यों हैं, और कुछ क्यों नहीं हैं ? अरस्तू ने ज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया—

(1) मानव जीवन में प्रथम इन्द्रियानुभव आता है। इसके द्वारा हमें केवल विशेषों का ज्ञान होता है। विशेषों का एक साथ ज्ञान नहीं होता, बल्कि पृथक्-पृथक् रूप में हमें उनका ज्ञान होता है। प्रत्येक विशेष अपने में विलक्षण होता है। इसलिये उनका अलग-अलग ज्ञान सम्भव है।

(2) इन्द्रियानुभव के पश्चात् पदार्थ-ज्ञान आता है जिसके अन्तर्गत हम विशेषों में सामान्य की खोज करते हैं। उनके कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध को जानने का प्रयत्न करते हैं ताकि उस ज्ञान से अपने जीवन को सार्थक बनाया जा सके। सामान्य विशेषों में ही अनुगत होता है। उसे विशेषों से पृथक् नहीं किया जा सकता।

(3) दर्शन या तत्त्वज्ञान (Metaphysics) सर्वोच्च ज्ञान है। दर्शन में समस्त बौद्धिक ज्ञान सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत गणित तथा विशेष विज्ञान भी आते हैं। वह विज्ञान या दर्शन जो वस्तुओं के प्रथम कारणों के ज्ञान की ओर ले जाता है, अरस्तू उसे प्रथम दर्शन (First Philosophy) कहता है और जिसे आज हम तत्त्वज्ञान भी कहते हैं। तत्त्व-दर्शन ही सर्वोत्तम ज्ञान है। तत्वज्ञान सत् (अस्तित्व) का अध्ययन करता है। सभी विज्ञान अस्तित्व के किसी न किसी अंग का अध्ययन करते हैं। भौतिकशास्त्र सत् का अध्ययन गति और परिवर्तन की दृष्टि से करता है। इस प्रकार की सभी विशेष विज्ञानों को अरस्तू द्वितीय दर्शन (Second Philosophy) मानता है। अतः विभिन्न विज्ञान सत्ता के आंशिक रूपों को अपना क्षेत्र बनाकर विचार करते हैं।

अरस्तू के अनुसार विभिन्न विज्ञानों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(i) तर्कशास्त्र (Logic)—इसमें उस अन्वेषण पद्धति का विस्तार किया जाता है जो अन्य सभी विज्ञानों में काम आती है। (ii) सैद्धांतिक विज्ञान (Theoretical Sciences)—इनका सम्बन्ध विशुद्ध अमूर्त ज्ञान से होता है जैसे गणित, भौतिक

विज्ञान, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान तथा तत्वविज्ञान (iii) व्यावहारिक विज्ञान (Practical Sciences)–नीति तथा राजनीति विज्ञान व्यावहारिक विज्ञान हैं। इनके अन्तर्गत ज्ञान की प्राप्ति आचरण के साधन के रूप में की जाती है, न कि साध्य के रूप में। (iv) उत्पादक विज्ञान (Productive Sciences)–इनमें ज्ञान को सौन्दर्य के उत्पादन के लिए साधन समझा जाता है। अरस्तू की रचना 'पोइटिक्स' (Poetics) इसी क्षेत्र की गवेषणा करती है। आज उसे सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत माना जाता है।

तत्त्वविज्ञान (Metaphysics)

अरस्तू के प्रथम दर्शन में द्रव्य (Substance) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्व-दर्शन वह विज्ञान है जिसमें 'सत्' (परम द्रव्य) का अध्ययन किया जाता है। अरस्तू के अनुसार, द्रव्य एक वास्तविक इकाई है। वह प्लेटो के द्रव्य-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। प्लेटो द्रव्य को सार्वभौम, जगत् से पृथक् मानता है, समस्त प्रत्यय-जगत् द्रव्य-जगत् है जो वस्तु-जगत् से बिल्कुल भिन्न है और द्रव्य-जगत् नित्य तथा अनुभवातीत है। अरस्तू द्रव्य का बिल्कुल विपरीत अर्थ मानता है। वह उसे सार्वभौम न मानकर, विशेष वास्तविक इकाई कहता है। उसने कहा कि प्लेटो ने यह भूल की कि प्रत्यय-जगत् को वस्तु-जगत् से नितान्त भिन्न असम्बद्ध मान लिया। फलत: प्रत्यय-जगत् ही एकमात्र सत् और वस्तु-जगत् सर्वथा असत् बन गया। अरस्तू भी प्रत्यय या विज्ञान-जगत् को मानता है, किन्तु उसके अनुसार, प्रत्यय-जगत् वस्तु-जगत् से भिन्न न होकर, उसी में अनुस्यूत है। उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

स्पष्टत: अरस्तू की द्रव्य परिभाषा प्लेटो की द्रव्य धारणा से भिन्न ही नहीं बल्कि विपरीत भी है। अरस्तू ने प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की जिसे यहाँ भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है।

प्लेटो का यह कहना तो सही है कि प्रत्यय या विज्ञान (Ideas or Forms) सार्वभौम हैं, यथार्थ पदार्थ हैं, जिन्हें बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह कहना कि प्रत्ययों का एक अलग ही संसार है, प्रत्यय नित्य तथा अपरिणामी हैं और वस्तुएँ अनित्य तथा असत् हैं, एक भूल है। ऐसा अरस्तू मानता है। उसके अनुसार, प्रत्यय सार्वभौम, नित्य तथा सत्य होते हुए भी वस्तु-जगत् से पृथक् नहीं हैं। सार्वभौम प्रत्यय विशेष वस्तुओं में ही अनुगत रहते हैं। अरस्तू ने प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त के विरुद्ध युक्तियां दीं जिन्हें यहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि वे मूलत: दो प्रकार की आलोचनाएँ रह जाती हैं—

(1) प्रत्ययों के द्वारा वस्तुओं के स्वभाव का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया, पर उनमें यह क्षमता है नहीं। अरस्तू ने इस आलोचना की पुष्टि चार मुख्य युक्तियों के आधार पर की है—

(i) प्रत्यय मात्र अमूर्त सार्वभौम हैं जो विशेष वास्तविक वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। अमूर्त के आधार पर वस्तु-जगत् का विश्लेषण सम्भव नहीं है।

(ii) प्रत्यय स्थायी तथा नित्य हैं। इसलिये उनके आधार पर विशेष वास्तविक वस्तुओं की गति और परिवर्तन की व्याख्या भी नहीं की जा सकती।

(iii) प्रत्यय वस्तुओं के पूर्वगामी न होकर, उत्तरकालीन अधिक दिखाई पड़ते हैं अर्थात् प्रत्यय वस्तुओं के कारण नहीं हैं वल्कि उनकी प्रतियाँ मात्र हैं।

(iv) प्रत्यय अनावश्यक रूप से वस्तुओं की पुनरावृत्ति हैं, न कि उनकी व्याख्या।

(2) अरस्तू द्वारा की गई दूसरी मुख्य आलोचना यह है कि प्रत्ययों और वस्तुओं का सम्बन्ध अस्पष्ट है। इस आलोचना के पक्ष में तीन युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—

(i) यह कहने मात्र से कि 'वस्तुएँ प्रत्ययों की प्रतिरूप हैं अथवा वे नित्य प्रत्ययों में भाग लेती हैं' कोई बात स्पष्ट नहीं होती। यह कहना कि 'व्यक्ति मनुष्य' 'आदर्श मनुष्य' में भाग लेता है, व्यक्ति के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि नहीं करता। दोनों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व का ज्ञान भी सम्भव नहीं है।

(ii) प्रत्यय और उनके अनुरूप वस्तुओं के बीच सम्भावित सम्बन्ध अनन्त प्रतिगमन के दोष से दूषित हैं क्योंकि वस्तु विशेष का सार्वभौम प्रत्यय के साथ सम्बन्ध को समझाने के लिए सदैव दूसरे, तीसरे, चौथे, उदाहरण की आवश्यकता होगी। उदाहरणार्थः—सुकरात इस लोक का 'व्यक्ति' है जिसका 'सामान्य मनुष्य' नामक एक 'दिव्य-व्यक्ति' विज्ञान-लोक में है। उसका सुकरात से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु दोनों मनुष्य हैं: एक वस्तु-जगत् में और दूसरा विज्ञान-जगत् में। इन दोनों को मनुष्यत्व का धर्म देने वाले एक 'तृतीय मनुष्य' की कल्पना करनी पड़ेगी जो वस्तुतः इन दोनों का सामान्य हो। युक्ति को निरन्तर रखने के लिये चौथे तथा पांचवें 'मनुष्य' की आवश्यकता भी होगी। इस प्रकार अनावस्था दोष आ जायेगा।

(iii) प्रत्यय-सिद्धान्त स्वरूप (Form) तथा वस्तु (Thing) दोनों को विल्कुल पृथक् कर देता है। अतः उनका सम्बन्ध होगा भी असम्भव है। यदि प्रत्यय-जगत् को वस्तु-जगत् से विल्कुल भिन्न माना जाये तो ऐसी स्थिति में प्रत्ययों के माध्यम से वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना कठिन होगा।

अरस्तू ने डिमॉक्रिटस तथा प्लेटो के बीच का मार्ग अपनाया। डिमॉक्रिटस ने सत् के रूप को गतिशील भौतिक परमाणुओं के रूप में रखा और प्लेटो ने अनुभवा-

तीत (Transcendental) प्रत्ययों के आधार पर सत् का स्वरूप बतलाया। अरस्तू की दृष्टि में, सार्वभौम प्रत्यय विभिन्न वस्तुओं में अनुगत हैं। सार्वभौम की सत्ता वास्तविक होते हुए भी, विशेषों या वास्तविक व्यक्तियों से पृथक् नहीं है। सार्वभौम अनित्य वस्तुओं का नित्य स्वरूप है। सभी सांसारिक पदार्थ वस्तुतः सत्य हैं। वे द्रव्य हैं। इन्हीं को अरस्तू ने तत्त्व या द्रव्य (Substance) कहा है।

पुद्‌गल एवं आकार (Matter and Form)

यह स्पष्ट है कि अरस्तू सार्वभौम प्रत्ययों तथा विशेष वस्तुओं दोनों को वास्तविक सत्ता मानता है। उसका तत्त्वज्ञान बहुतत्त्ववादी है क्योंकि वह विशेष द्रव्यों की अनेकता को एक-तत्त्व की अपेक्षा अधिक स्वीकार करता है। द्रव्यों की व्यवस्था में, विभिन्न प्रकार के स्तर पाये जाते हैं। सबसे निम्न स्तर पर अनिश्चित पदार्थ हैं और सबसे उच्च स्तर पर विशुद्ध रूप ईश्वर है। अन्य सभी द्रव्य-पदार्थ इन्हीं के बीच आते हैं। अरस्तू के अनुसार, वस्तु-जगत् के प्रत्येक तत्त्व में दो पक्ष होते हैं—पुद्‌गल (Matter) और रूप (Form)। रूप तो सामान्य है जो एक वर्ग (जाति) के सभी सदस्यों में समान है। एक ही जाति की समस्त इकाइयों के सार्वभौम पक्ष को रूप कहते हैं। पुद्‌गल वह है जो विशेषता और विलक्षणता प्रदान करता है। पुद्‌गल ही वस्तु को जैसी है, वैसी बनाता है। अतः वस्तु विशेष में पुद्‌गल और रूप दो अपृथक् अंग होते हैं।

वैयक्तिक वस्तु परिवर्तित तथा विकसित होती है। सब कुछ जिसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, वह परिवर्तनशील होता है। वह वस्तु-विशेष कभी कुछ गुणों को, कभी अन्य को ग्रहण कर लेती है। कभी बीज, तो कभी पौधा और कभी फल। परिवर्तन की इस प्रक्रिया के पार्श्व में कोई निहित आधार होना चाहिये। वह आधार, जो परिवर्तन के बावजूद बना रहता है और उसी में सभी गुणों की निरन्तरता भी बनी रहती है, पुद्‌गल है। पुद्‌गल समस्त विशेषीकरण तथा वैयक्तिकीकरण का सिद्धांत है। जैसाकि अरस्तू मानता है, यह पुद्‌गल प्राचीन भौतिकवादी दार्शनिकों का स्वतः पर्याप्त द्रव्य नहीं है। यह वह पुद्‌गल है जो अपने रूप (Form) से अपृथक् है; दोनों (पुद्‌गल एवं रूप) का सह-अस्तित्व है। इस प्रकार जब यह कहा जाये कि एक वस्तु अपना रूप बदलती है तो इसका मतलब यह नहीं है कि रूप स्वतः बदलता है अथवा वह भिन्न बन जाता है। कोई भी रूप, जैसा कि वह है, किसी अन्य रूप में परिणित नहीं होता। पुद्‌गल भिन्न-भिन्न रूपों को ग्रहण करता रहता है, और रूपों की एक शृंखला, एक के बाद एक, बनी रहती है। कोई रूप वही रहता है जो वह होता है; किन्तु नया रूप पुद्‌गल का निर्धारण करता है। भिन्न-भिन्न रूपों का सदैव अस्तित्व रहा है। वे अचानक अस्तित्व में नहीं आते। न तो पुद्‌गल और न ही रूप पैदा अथवा नष्ट होते हैं। वे वस्तुओं के नित्य सिद्धान्त हैं। परिवर्तन या विकास

की व्याख्या करने के लिए, हमें एक ऐसे आधार (पुद्गल) को मानना ही पड़ेगा जो निरन्तर बना रहे और परिवर्तित भी हो, और उन गुणों (रूपों) को भी मानना पड़ेगा जो, यद्यपि कभी परिवर्तित नहीं होते, पर हमारे चारों-ओर वैभव-पूर्ण एवं विकसित जगत् के लिए, उत्तरदायी हों।

अरस्तू के अनुसार, सामान्य विज्ञान-रूप (Ideas) हैं। वे चेतन हैं, जड़ नहीं है। सामान्य या सार्वभौम रूप नित्य, अपरिणामी तथा अविनाशी हैं। पुद्गल गति और परिणाम का आधार है। इसके कारण प्रत्येक तत्व, वस्तु या व्यक्ति, परिवर्तित तथा गतिशील होते हुए भी बना रहता है। पुद्गल जड़ता का प्रतीक है। इस ससार की प्रत्येक वस्तु पुद्गल और रूप का सम्मिश्रण है। स्पष्टतः अरस्तू ने प्लेटो के प्रति-कूल तत्वज्ञान की स्थापना की। प्लेटो ने रूप और पुद्गल दोनों को पृथक् रखा, जबकि अरस्तू ने उन्हें एक दूसरे से अपृथक् माना। जगत् में पुद्गल तथा रूप को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। पुद्गल और रूप वस्तु विशेष की पूर्ण एकता में सन्निहित हैं। पुद्गल वह है जिसका प्रत्यक्ष हो सकता है और जो प्रत्यक्ष करने योग्य है वह परिवर्तनशील है। पुद्गल विभिन्न प्रकार के रूप धारण करता है, हालांकि एक रूप दूसरा रूप नहीं बन सकता। पुद्गल विभिन्न रूपों में परिवर्तित होता है, पर रूप स्वयं अपरिवर्तनशील है। जो रूप है वह कभी नष्ट नहीं होता है। पुद्गल भी अपने अस्तित्व में कभी नष्ट नहीं होता है। उसमें केवल परिवर्तन होते रहते हैं।

उपरोक्त दृष्टि से, कोई भी वस्तु विशुद्ध पुद्गल या विशुद्ध रूप नहीं कही जा सकती। प्रत्येक वस्तु में दोनों का मिश्रण होता है। मूल प्रकृति (Materia Prima) ही विशुद्ध पुद्गल है और ईश्वर विशुद्ध रूप (Pure Form) है। प्रकृति पूर्ण जड़ता है और ईश्वर पूर्ण चैतन्य है। एक शुद्ध कर्म है, दूसरा शुद्ध ज्ञान। प्रकृति गतिशील तथा परिवर्तित होती रहती है। ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति तथा ईश्वर दोनों ही इस जगत् के जनक हैं। संक्षेप में, जगत् की प्रत्येक वस्तु में इन दोनों के गुणों का सम्मिश्रण मिलता है।

पुद्गल और रूप को अरस्तू क्रमशः 'साध्य' (Potentiality) और 'सिद्ध' (Actuality) कहता है। वस्तु विशेष में पुद्गल और रूप दोनों ही अपृथक हैं, पर उन्हें अलग-अलग दृष्टि से समझा जा सकता है। साध्य और सिद्ध किसी वस्तु विशेष की दो अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था साध्य है और दूसरी सिद्ध। साध्य अवस्था में सुप्त शक्ति होती है अर्थात् उनमें कुछ बनने की सामर्थ्य होती है। वह शक्ति या सामर्थ्य वस्तु में निहित है। उसमें सामर्थ्य की निहितता है। साध्य में विकास की क्षमता होती है, पर वह अभी विकसित नहीं हुआ है। जब साध्य किसी रूप को धारण कर लेता है तो वह 'सिद्ध' बन जाता है क्योंकि उसने अपने रूप को सिद्ध कर

लिया है। दोनों ही अवस्थाएँ एक नहीं हैं। फिर भी उनका सम्वन्ध घनिष्ठ होता है। मूल प्रकृति शुद्ध साध्य है। उसका कोई रूप नहीं है। वह पूर्ण जड़ता का सिद्धांत है। ईश्वर शुभ सिद्ध है जो पूर्ण चैतन्य है। प्रत्येक रूप नित्य है। पुद्गल से भिन्न होते हुए भी, रूप उससे अपृथक् है। पुद्गल तथा रूप दोनों की सत्ता नित्य है। दोनों ही वस्तुओं के सह-स्थित मौलिक सिद्धांत हैं। रूप अपने को पुद्गल के द्वारा अभिव्यक्त करता है। वही वस्तु को गतिशील वनाकर लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उन्मुख करता है। संक्षेप में, जगत् की प्रत्येक वस्तु साध्य और सिद्ध, जड़ता एवं चैतन्य, पुद्गल एवं रूप का मिश्रण है।

इस प्रकार आकार एवं पुद्गल, सिद्ध तथा साध्य, के ये दो भेद, यद्यपि तादात्म्यात्मक नहीं है, फिर भी घनिष्टतः समानान्तर हैं। जब कोई वस्तु अपनी विकसित अवस्था में पहुँच जाती है, वह अपने अर्थ, लक्ष्य अथवा रूप (आकार) की अनुभूति कर लेती है। रूप ही उसका सच्चा अस्तित्व, अनुभूति तथा पूर्णता है। उसकी संभावनाएँ स्पष्ट (अनुभूत) हो जाती हैं अर्थात् जो उसमें साध्य था वह सिद्ध बन जाता है। पुद्गल रूप ग्रहण कर लेता है। एक बीज जो साध्य होता है, वह अंकुरित होने तथा पूर्णतः विकसित पेड़ बनने पर अपनी सिद्ध-स्थिति को प्राप्त कर लेता है। बीज में अन्तर्निहित साध्य अभिव्यक्त, यथार्थ या सिद्ध में परिणित हो जाता है। इसलिये अरस्तू पुद्गल को 'साध्य का सिद्धांत' और रूप को 'यथार्थता या सिद्ध का सिद्धांत' कहता है। रूप-रहित पुद्गल के बारे में हम सोच सकते हैं परन्तु मूलरूप में उसका अस्तित्व नहीं है। वह तो मात्र साध्य है। मूर्त पुद्गल सदैव रूपयुक्त होता है। इसी अर्थ में वह सिद्ध है। किन्तु एक अन्य रूप की दृष्टि से पुद्गल मात्र साध्य ही रहता है। बीज पेड़ के लिये मार्बल मूर्ति के लिए पुद्गल ही है।

समस्त परिवर्तनशील जगत् की व्याख्या करने के लिए, जैसाकि अरस्तू कहता है, आकार एवं पुद्गल को मानना पड़ेगा। प्लेटोनिक प्रत्यय के समान, प्रत्येक आकार (रूप) नित्य है; किन्तु वह पुद्गल के अस्तित्व के वाहर नहीं है, वह पुद्गल में ही है। आकार एवं पुद्गल सदैव एक साथ, सह-अस्तित्व की स्थिति में, रहे हैं। वे वस्तुओं के सह-नित्य सिद्धांत हैं। आकार अपनी अनुभूति स्वतः किसी वस्तु में करता है; आकार ही वस्तु को गतिशील करता है ताकि वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सके। आकार एवं पुद्गल के बीच जो सहयोग है प्रकृति की प्रक्रियाओं में विल्कुल स्पष्ट मिलता है। यह सहयोग मनुष्य की रचनात्मक क्रिया में यहीं अधिक स्पष्टतः अभिव्यक्त होता है। एक कलाकार के मन में, अपनी कला-कृति के निर्माण के समय एक प्रत्यय (या प्लॉन) होता है। वह अपने हाथों की गति द्वारा पुद्गल पर कार्य करता है। वह अपनी योजनानुसार आगे बढ़ता है, और इस प्रकार एक लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है, संक्षेप में, जगत् की समस्त विकासात्मक प्रक्रिया, जिसे साध्य तथा सिद्ध, आकार एवं पुद्गल के प्रतिवादों के रूप में, यहाँ वर्णित किया गया है, विविध कारणों के अधीन अग्रसर होती है। अतः अरस्तू का कारणता सिद्धांत भी यहाँ प्रस्तुत है।

कारणता का सिद्धान्त (Theory of Causation)

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित कारणता का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक है। कारणता का अर्थ पर्याप्त तथा विस्तृत है। जगत् में परिणाम एवं गति उद्देश्यात्मक है। यहाँ भेद में अभेद अनुगत है। जगत् की प्रत्येक वस्तु इस अभेद की प्राप्ति के लिए उन्मुख है। इसलिए वस्तुओं में गतिशीलता है। वस्तुतः यह जगत् पुद्गल का रूप अथवा साध्य का सिद्ध की ओर विकास है। इसी तथ्य से अरस्तू ने अपने कारण सिद्धान्त का अवतरण किया है। कारणता का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है क्योंकि प्रत्येक घटना, गति या परिणाम के पीछे चार कारण होते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(1) उपादान कारण (Material Cause)—

यह किसी वस्तु का भौतिक कारण होता है। यह वह अव्यवस्थित, अनिश्चित विषय सामग्री है जिसमें से वस्तु का निर्माण होता है। रूपहीन मिट्टी किसी घट के निर्माण में उपादान कारण है। मिट्टी घट का भौतिक कारण है।

(2) निमित्त कारण (Efficient Cause)—

किसी घटना के घटित होने में अथवा किसी वस्तु के निर्माण में जो गति देने वाला होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। निमित्त कारण द्वारा ही परिवर्तन संभव होता है। यह वह कारण है जो कलाकार के रूप में काम करता है अर्थात् कुम्हार या मूर्ति बनाने वाला कार्य-साधक कारण है। इस कारण के अन्तर्गत वे सभी उपकरण भी सम्मिलित हैं जिनका वस्तु निर्माण में प्रयोग किया जाता है।

(3) स्वरूप कारण (Formal Cause)—

जब घट विशेष का निर्माण हो जाता है तो उसका रूप प्रकट हो जाता है। स्वरूप कारण का सम्बन्ध वस्तु के सार या मूल तत्व से है। वस्तु का यथार्थ पक्ष वास्तव में यही है। अमूर्त प्रत्यय के अनुसार वस्तु का निर्माण पुद्गल से होता है। उसे ही स्वरूप कारण कहा जाता है। कुम्हार के मस्तिष्क में घड़े का प्रत्यय ही घड़े का स्वरूप कारण है।

(4) लक्ष्य कारण (Final Cause)—

यह वह कारण (उद्देश्य) है जिसकी सम्पूर्ति के लिए कार्य सम्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई लक्ष्य कारण अवश्य होता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वस्तु विशेष का निर्माण किया जाता है।

अरस्तू के कारणता-सिद्धांत की दृष्टि से, समस्त वस्तुओं की व्याख्या, चाहे वे मनुष्य-निर्मित हों अथवा प्राकृतिक, उपरोक्त चार कारणों के आधार पर की जा सकती है। मानवी तथा प्राकृतिक घटनाओं में अन्तर केवल इतना होता है कि प्राकृतिक कलाकार और उसकी कृति अलग-अलग नहीं होते। वे एक ही हैं। मानव जगत् में दोनों को पृथक्-पृथक् देखा जा सकता है। स्वरूप तथा उद्देश्यमूलक कारण परस्पर मिलते-जुलते हैं। उधर उपादान तथा निमित्त–कारण भी मिलते–जुलते हैं। इस

दृष्टि से अरस्तू के दर्शन में, दो ही मूल कारण रह जाते हैं, रूप और पुद्गल (Form and Matter)। इनको भी वैचारिक क्षेत्र के अलावा अलग-अलग नहीं रखा जा सकता क्योंकि दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। फिर भी व्यावहारिक जगत् में प्रत्येक घटना के लिए एक साथ चार कारणों का उपस्थित होना आवश्यक है।

अरस्तू के अनुसार, यह जगत् चार कारणों की प्रक्रिया के माध्यम से ही गतिशील रहता है। प्रत्येक कार्य इन चार कारणों द्वारा विश्लेषित किया जा सकता है। लेकिन ये सभी कारण आकार एवं पुद्गल, साध्य एवं सिद्ध, के ही विभिन्न पक्ष हैं। आकार एवं लक्ष्य परस्पर सम्बन्धित हैं। अवयव (Organism) का लक्ष्य अपने रूप (Form) की अनुभूति है, और वह रूप (आकार) गति का कारण होता है। सभी आकार उद्देश्य-मूलक शक्तियाँ हैं जो पुद्गल-जगत् में अपनी अनुभूति करते हैं। प्रत्येक अवयव जो कुछ है वह उद्देश्य द्वारा ही निर्धारित है। बीज में स्पष्ट निर्देशात्मक सिद्धान्त होता है जो पेड़ के अतिरिक्त उसे अन्य कुछ नहीं बना सकता। इस दृष्टि से, आकार पुद्गल को नियंत्रित करता है। किन्तु संसार में अपूर्णताएँ क्यों रह जाती हैं ? अरस्तू के अनुसार, प्रकृति की असफलताएँ पुद्गल की अपूर्णताओं के कारण हैं अर्थात् पुद्गल मात्र संभावना ही नहीं रह जाता है, वह कुछ ऐसा हो जाता है जो आकार का प्रतिरोध करता है क्योंकि उसकी अपनी शक्ति भी है। पुद्गल की हठीली प्रवृत्ति विशेषों (Individuals) की अनेकता एवं विविधता के कारण होती है जो अपने-अपने को स्त्री-पुरुष तथा जगत् की कुरूपताओं एवं क्रूरताओं के रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

गति या परिवर्तन को आकार एवं पुद्गल की एकता के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। कोई प्रत्यय या आकार वह है जो पुद्गल में गति पैदा करता है। प्रत्यय गतिदाता है, जबकि पुद्गल गतियुक्त है। गति किसी वस्तु की साध्यता या संभावना की अनुभूति है। किन्तु गति मात्र प्रत्यय (आकार) की उपस्थिति से कैसे संभव होती है ? अरस्तू के अनुसार, पुद्गल अपने आकार की अनुभूति के लिए, सम्प्रेरित हो जाता है। पुद्गल में आकार की प्राप्ति के लिए इच्छा (प्रवृत्ति) होती है, और चूँकि आकार एवं पुद्गल नित्य हैं, इसलिए गति भी नित्य है। किन्तु गति का प्रथम तथा अन्तिम गतिदाता ईश्वर है जो गतिहीन होते हुए संसार में समस्त गति का गतिदाता (Unmoved Mover) है।

ईश्वर की धारणा (Concept of God)

अरस्तू का तत्वज्ञान अन्ततः अध्यात्म-विद्या या धर्म-शास्त्र की पराकाष्ठा में पहुँच जाता है। भौतिक वस्तुओं में विद्यमान गति से यह अनुमान अवतरित होता है कि कोई ऐसा आधार है जो समस्त गति का कारण है, पर स्वतः गतिहीन है। अरस्तू के अनुसार, यह मूलाधार ईश्वर ही है। उसकी ईश्वर की धारणा निम्न प्रकार है:—

(1) ईश्वर गतिदाता है—

एक गति दूसरी, दूसरी-तीसरी गति का कारण है। लेकिन समस्त गतियों का प्रथम कारण ईश्वर है। वह गति प्रदान करता है। स्वयं गतिहीन है। इसलिए ईश्वर को 'अगतिशील गतिदाता' (Unmoved Mover) कहा जाता है। ईश्वर नित्य है। वह अपरिणामी है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। ईश्वर केवल शुद्ध सत्ता मात्र है।

(2) ईश्वर परम-लक्ष्य है—

जगत् का समस्त विकास किसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। विकास-प्रक्रिया में परम आदर्श ही लक्ष्य होता है। अतः ईश्वर ही जगत् का सर्वोत्तम लक्ष्य है। सृष्टि का आदि निमित्त कारण ईश्वर है जो स्वयं अगतिशील और अपरिणामी होते हुए भी समस्त गति तथा परिणाम का जनक है। वही सृष्टि का लक्ष्य-कारण है जिसकी प्राप्ति के लिए समस्त सृष्टि गतिशील है। जगत् में जो भी एकता तथा व्यवस्था है ईश्वर उसका मूलाधार है। वास्तव में ईश्वर वह परम आदर्श है जिसमें जगत् की समस्त गुणों और विशेषताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

(3) ईश्वर विशुद्ध-रूप है—

ईश्वर स्वरूप का स्वरूप है अर्थात् ईश्वर विज्ञान का विज्ञान है। ईश्वर विशुद्ध रूप (Pure Form) है और पुद्गल से किसी भी तरह दूषित नहीं है। स्वयं गतिहीन ईश्वर सभी वस्तुओं की गति का कारण है। इसलिए वह विशुद्ध रूप के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। जहाँ पुद्गल है वहाँ गति है। परिवर्तन जड़ता में ही होता है, चैतन्य में नहीं। जगत् की वस्तुओं का निर्माण जड़ तत्व से हुआ है, परन्तु उनका निर्माण ईश्वर को आदर्श या स्वरूप मानकर होता है। अरस्तू के दर्शन में ईश्वर ही एक ऐसा अपवाद है जिसमें रूप और पदार्थ अलग-अलग हैं जो उसके ही मूल दार्शनिक विचार का खण्डन करता है।

(4) ईश्वर पूर्ण-सिद्ध है—

अरस्तू ने ईश्वर को एक विशेष तथा विलक्षण स्थान देकर उपर्युक्त अपवाद से आगे बढ़ने का प्रयास किया। ईश्वर पूर्ण सिद्ध (Actuality) है अर्थात् वही एक लक्ष्य है जिसकी ओर समस्त वस्तुएँ गतिशील हैं। लेकिन ईश्वर साध्य (Potentiality) नहीं है। ईश्वर ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो साध्यहीन है। वह विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है। ईश्वर विचार-चिन्तन युक्त द्रव्य है जिसे केवल बौद्धिक चिन्तन द्वारा ही जाना जा सकता है। लेकिन मानवी तथा ईश्वरी चिन्तन में भेद होता है। मानवी चिन्तन बौद्धिक (तार्किक) होता है जिसका विकास धीरे-धीरे ही सम्भव है। ईश्वरीय चिन्तन अन्तर्दृष्टिपूर्ण है। जिसे ईश्वर जानना चाहता है उसे वह शीघ्र अचानक सम्पूर्णतः जान लेता है।

(5) ईश्वर सामान्य प्रत्ययात्मक है—

अरस्तू के अनुसार, ईश्वर विशेष-पुरुष नहीं है। उसके ईश्वर में न तो सत्ता है और न ही वैयक्तिकता है। ईश्वर तो मूल स्वरूप मात्र है। उसमें विशेष तत्व का अभाव है। वह सामान्य प्रत्ययात्मक है जिसे बुद्धि द्वारा ही जानना सम्भव है। उसमें किसी प्रकार की गति नहीं है। इसलिए ईश्वर का विशेष होना सम्भव नहीं। सामान्य में गति का अभाव होता है।

(6) ईश्वर चिन्तन ही चिन्तन है—

समस्त मानवीय क्रियाओं में एकमात्र तत्त्व जिसे ईश्वर जानता है वह 'चिन्तन' (Thought) है। चिन्तन मनुष्य की सर्वोच्च क्रिया है। यह ऐसी विशेषता है जो दैविक है। मानव-बुद्धि दैविक-बुद्धि की ही एक ज्योति है, हालांकि ईश्वर के चिन्तन का विषय मनुष्य नहीं है। ईश्वर के चिन्तन का एक मात्र विषय स्वयं ईश्वर है। इसी अर्थ में ईश्वर को 'चिन्तन ही चिन्तन' के रूप में अरस्तू द्वारा वर्णित किया गया है। अरस्तू ने कहा है कि "जो चिन्तन करता है, वह वही होना चाहिए; और उसका चिन्तन एक ऐसा चिन्तन है जो चिन्तन पर ही होता है।" संक्षेप में, यह चिन्तन वस्तुओं का सार, सुन्दर-रूपों की दिव्य-दृष्टि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

सारांशतः अरस्तू के धर्म-शास्त्र का सार इस प्रकार है : सत् व्यक्तिगत द्रव्यों की अनेकता है। प्रत्येक द्रव्य रूप और पुद्गल का मिश्रण है। ईश्वर सर्वोच्च द्रव्य है जो विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है। ईश्वर ही परम लक्ष्य है। सृष्टि में अन्तर्यामी, ईश्वर पूर्ण अद्वैत है। वह विकास की प्रक्रिया का प्रवर्तक है। समस्त वस्तुएँ उसकी प्राप्ति के लिए विकासशील तथा गतिशील है। ईश्वर पूर्ण सिद्ध है और जगत् साध्य है। वह नित्य विज्ञान-स्वरूप है। ईश्वर स्वयं गतिहीन होते हुए गतिदाता है। ईश्वर जगत् का यांत्रिक कारण नहीं है। वह लक्ष्य कारण है। संक्षेप में, अरस्तू ईश्वर को आनन्द-स्वरूप भी मानता है। जो लक्ष्य है और पूर्ण है, वह आनन्द भी है। ईश्वर वह सब कुछ है जिसके बारे में एक दार्शनिक अभिलाषा करता है।

नीति शास्त्र (Ethics)

अरस्तू का नीतिविज्ञान उसके तत्वज्ञान तथा मनोविज्ञान (Psychology) पर आधारित है। मनोविज्ञान की दृष्टि से, प्रत्येक मनुष्य में एक ऐसी आत्मा होती है जो शरीर तथा मन की समस्त क्रियाओं पर नियन्त्रण रखती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष आत्मा में एक प्रकार का परिवर्तन है जो इन्द्रियों द्वारा घटित होता है। इन्द्रियाँ वस्तुओं के विविध गुणों के बारे में आत्मा को सूचना देती हैं जिसके कारण वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव हो जाता है। हृदय एक ऐसी सामान्य इन्द्रिय है जहाँ सभी इन्द्रियों का संगम होता है। इसी सामान्य इन्द्रिय में स्मृति तथा साहचर्य-चिन्तन की शक्ति होती है। सुख-दुःख की भावनाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से होता है। जब प्रत्यक्ष क्रियाएँ अविरुद्ध आगे बढ़ती हैं तब सुख मिलता है। उनकी रुकावट से दुःख उत्पन्न होता है। इन्हीं

भावनाओं से इच्छा-द्वेष उत्पन्न होते हैं जिनके कारण शरीर गतिशील होता है। वस्तुओं का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष द्वारा होता है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त, आत्मा में धारणात्मक चिन्तन की शक्ति भी होती है। आत्मा बुद्धि द्वारा धारणाओं का ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा जो भी चिन्तन करती है अरस्तू उसे बुद्धि कहता है। धारणात्मक विचार ही बुद्धि का व्यक्त नाम है। उसके अनुसार, बुद्धि दो प्रकार की होती है—सृजनात्मक बुद्धि (Creative Intellect) तथा निष्क्रिय बुद्धि (Passive Intellect)। सृजनात्मक बुद्धि 'विशुद्ध सिद्ध' है। निष्क्रिय बुद्धि केवल साध्य है। धारणाएँ निष्क्रिय बुद्धि में साध्य रूप में विद्यमान होती हैं और सृजनात्मक बुद्धि द्वारा सिद्ध अथवा यथार्थ बन जाती हैं। निष्क्रिय बुद्धि का सम्बन्ध शरीर तथा इन्द्रियों से होता है। वह विनाशशील है। सृजनात्मक बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से कार्य नहीं करती। वह अपरिवर्तनशील तथा अभौतिक है। शरीर तथा इन्द्रियों के पूर्व उसकी सत्ता होती है। इसलिए सृजनात्मक बुद्धि अमर है। उसका आत्मा के साथ विकास नहीं होता। व्यक्ति की अमरता से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अरस्तू उसे सार्वभौम बुद्धि मानता है। सृजनात्मक सार्वभौम बुद्धि ईश्वर का ही मन है। यह मनोवैज्ञानिक पक्ष ही अरस्तू की नीतिशास्त्र का आधार है।

अरस्तू के अनुसार, प्रत्येक मानवी क्रिया का कोई न कोई लक्ष्य होता और अन्ततः समस्त क्रियाएँ परम लक्ष्य की ओर उन्मुख होती हैं। अरस्तू उसे यूडेमोनिया (Eudaemonia) कहता है जिसका अर्थ 'आनन्द' (Happiness) है। सुख आनन्द से भिन्न होता है। सुख एक गौण सद्गुणी क्रिया है जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से होता है। परम लक्ष्य अथवा परम शुभ की प्राप्ति इन्द्रियों तथा पाशविक क्रियाओं द्वारा सम्भव नहीं हो सकती। बुद्धि-युक्त जीवन में ही परम शुभ की प्राप्ति सम्भव है। अतः मनुष्य का सर्वोत्तम शुभ इन बौद्धिक क्रियाओं की सम्पन्नता में है जिससे वह सच्चा एवं सद्गुणी मानव बन सकता है। सुख सर्वोच्च शुभ में ही सन्निहित होता है, पर सुख सर्वोच्च शुभ नहीं है। इस प्रकार आनन्द तथा सुख में स्पष्ट भेद है।

मानवी आत्मा में बुद्धि के अतिरिक्त, अ-बुद्धियुक्त अंश भी विद्यमान हैं। अतः आत्मा में बौद्धिक तथा अबौद्धिक दोनों प्रकार के तत्व पाये जाते हैं। अबौद्धिक तत्वों के अन्तर्गत भावना, इच्छा, भूख, आदि आते हैं। बौद्धिक तत्व विशुद्ध चिन्तन क्रिया का नाम है। अरस्तू मानता है कि नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन दोनों अंगों में सामंजस्य होना अनिवार्य है। वही व्यक्ति नैतिक मार्ग पर चल सकता है जिसकी आत्मा में बुद्धि, भावना और इच्छा का परस्पर सामंजस्य होता है। बुद्धि का कार्य बौद्धिक कार्यकुशलता में वृद्धि करना है। भावनात्मक अंग का कार्य नैतिक-शक्ति पैदा करना है ताकि आदमी में साहस, उदारता, सहनशीलता, आदि बढ़ें। इच्छा का कार्य ऐसे संकल्प उत्पन्न करना है जिनके द्वारा सद्गुणों को प्राप्त किया जा सके।

सद्‌गुण क्या है ?

अरस्तू के अनुसार, दो अतियों के बीच 'मध्यम मार्ग' (Middle Path) सद्‌गुण है। अधिकतम और न्यूनतम का मध्यम गुण सद्‌गुण है। साहस उद्दण्डता तथा कायरता का मध्यम गुण है। उदारता अमितव्ययता एवं धन-लोलुपता के मध्य सद्‌गुण है। विनय, निर्लज्जता तथा शर्मीलेपन के बीच का सद्‌गुण है। स्पष्टतः अरस्तू मध्यम मार्ग को ही सद्‌गुण मानता है। किन्तु उसने इस मानदण्ड की सार्वभौमिकता का दावा नहीं किया। कुछ बातें—निर्लज्जता, व्यभिचार, चोरी, हत्या आदि स्वयं में ही अशुभ हैं। उनके बीच मध्यम गुण की खोज करना निरर्थक है। यह माध्यम मार्ग सब व्यक्तियों के लिए हर परिस्थिति में एकसा नहीं रहता। सद्‌गुण बुद्धि द्वारा परिस्थितियों के अनुसार निश्चित किया जाता है। सद्‌गुण व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर नहीं होता। अतः उसे ऐच्छिक नहीं कहा जा सकता। संतुलित आत्मा या सद्‌बुद्धि वाला व्यक्ति ही यह निश्चय कर सकता है कि अमुक परिस्थितियों में सद्‌गुण क्या होना चाहिए। इस प्रकार सद्‌गुणी पुरुष को नैतिक क्रियाओं का निर्णायक माना जा सकता है। उसकी बुद्धि शुभाशुभ का भेद कर सकती है। यहाँ दो बातों की ओर ध्यान आवश्यक है—

(1) नैतिक आचरण (Moral Conduct) एकाकी क्रिया में सन्निहित नहीं है। वह एक दृढ़ संकल्प अथवा चरित्र की अभिव्यक्ति है। इसके अतिरिक्त, नैतिक आचरण ऐच्छिक, प्रयोजनात्मक तथा स्वतंत्रतापूर्वक चुनी हुई क्रिया है। अतः शुभाशुभ मनुष्य के हाथ में है और वही सद्‌गुण तथा अवगुण का निर्णायक है।

(2) इन सभी विचारों को अरस्तू ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि सद्‌गुण वह भावना अथवा आदत है जिसमें ऐच्छिक प्रयोजन तथा चुनाव सन्निहित है और ऐसे मध्यम दृष्टिकोण पर आधारित है जिसका सम्बन्ध मानव प्राणियों से है। बुद्धि ही मध्यम दृष्टिकोण को निश्चित करती है अथवा जिस प्रकार कोई बुद्धिमान व्यक्ति उसे निश्चित करे। आनन्दमय जीवन के लिए, मध्यम-मार्ग अति आवश्यक है।

उपयुक्त दृष्टि से, आत्म-ज्ञान अथवा आत्म-सिद्धि सर्वोत्तम शुभ है। लेकिन आत्म-ज्ञान स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद नहीं है। सच्ची आत्मानुभूति आत्म-प्रेम तथा मानव-सेवा में प्रदर्शित होती है। सद्‌गुणी व्यक्ति शत्रुता की बजाय मित्रता को सर्वोच्च स्थान देता है। अरस्तू की यह मान्यता है कि "आदमी एक सामाजिक प्राणी है।" उसे अन्य व्यक्तियों के साथ ही रहना तथा जीना है। शुभ कार्य मानव प्राणियों के संदर्भ में ही हो सकता है। समाज के बिना शुभ कार्य करना सम्भव नहीं। सद्‌गुणी बनने के लिए न्याय, मित्रता, उदारता, साध्य आदि सद्‌गुणों की आवश्यकता है जिनका महत्व केवल समाज में ही है। अतः सामाजिक व्यवस्था में ही सद्‌गुणी तथा नैतिक जीवन व्यतीत किया जा सकता है। सद्‌गुणी न्यायी होता है और न्याय में सबका हित सन्निहित है।

अरस्तू ने सुख तथा आनन्द में भेद स्थापित किया। सुख सद्गुणी क्रिया का आवश्यक तथा शीघ्र परिणाम है। लेकिन मानव जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। जिन लोगों को विशुद्ध तथा उदार सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती, वे इन्द्रिय सुखों की ओर दौड़ते हैं, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इन्द्रिय-सुख बौद्धिक सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय है। अरस्तू ने बौद्धिक सुखों को प्रधानता दी जो आनन्द की ओर ले जाते हैं। सर्वोच्च आनन्द चिन्तनशील अथवा ध्यानयुक्त क्रिया में सन्निहित है। चिन्तनयुक्त जीवन ही सर्वोच्च जीवन है। वह बहुत मौलिक तथा आनन्दपूर्ण है। ऐसे जीवन में मानवता और परमतत्व दोनों की झलक होती है।

अरस्तू ने ज्ञान और व्यवहार (Knowledge and Practice) दोनों पर समान बल दिया। यही कारण है कि उसने सुकरात के इस कथन को कि "ज्ञान ही सद्गुण है" स्वीकार नहीं किया। सद्गुणी क्रिया के लिए सद्गुण के स्वभाव का ज्ञान मात्र ही पर्याप्त नहीं है। अरस्तू के अनुसार, सद्गुण के ज्ञान के अतिरिक्त हमें उसे सुरक्षित रखने तथा उस पर व्यवहार करने का प्रयास भी करना चाहिए। सद्गुण का ज्ञान और व्यवहार दोनों ही व्यक्ति को नैतिक बनाने के लिए अनिवार्य हैं। कर्त्तव्य के ज्ञान के साथ-साथ कर्त्तव्य करना अथवा सीखना भी आवश्यक है। अतः सद्गुण अथवा नैतिक जीवन ज्ञान तथा कर्म दोनों की सामंजस्यता में सन्निहित है। संक्षेप में, अरस्तू का नीतिशास्त्र व्यक्ति की भलाई का शास्त्र है जो मानव को परम लक्ष्य की ओर उन्मुख करता है और साथ में समाज-कल्याण के लिए प्रेरित करता है। उसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों के कल्याण को परिलक्षित किया गया है।

□

4

प्लॉटिनस

(Plotinus : 205-270 A.D.)

मिस्र के लाइकोपोलिस नामक स्थान में प्लॉटिनस का जन्म हुआ। एमोनियस सेक्कस का वह एलेक्जिेण्ड्रिया में शिष्य रहा जहाँ 11 वर्ष तक उसने दर्शन का गहन अध्ययन किया। 243 ए. डी. में वह रोम चला गया जहाँ उसनें एक सम्प्रदाय की स्थापना की। प्लॉटिनस ने 50 वर्ष की आयु तक दर्शन में कुछ भी नहीं लिखा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके शिष्य पारकिरी ने उसके लेखों को आबद्ध किया। उसने प्लॉटिनस के जीवन-चरित्र को जोड़कर उसकी समस्त रचनाओं को छ: भागों में एन्नीड्स के नाम से, प्रकाशित करवाया। प्लॉटिनस महान् दार्शनिक और रहस्यवादी सन्त था। उसका चिन्तन यूनान दर्शन की अन्तिम विचारधारा तथा साथ ही ईसाई दर्शन का प्रारम्भ भी है।

ईश्वर की धारणा (Concept of God)

प्लॉटिनस के अनुसार, ईश्वर सम्पूर्ण सत् का स्रोत है। ईश्वर समस्त अस्तित्व. विरोध एवं भेद, मन तथा शरीर, रूप और पुद्‌गल का आधार है। ईश्वर स्वयं अनेकता तथा भिन्नता से रहित, निरपेक्षत: एक है। विविधता तथा नानात्व से परे है। वह समस्त उत्पन्न हुई वस्तुओं का कारण है, पर स्वयं कारण-रहित है। सब कुछ ईश्वर में है और सबका उद्‌भव (Emanation) ईश्वर से ही होता है। अनेकता का आधार ही एकता है जो ईश्वर है। एकता समस्त अस्तित्व की पूर्वगामी है। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार के गुणों का आरोपण करना सम्भव नहीं क्योंकि जिसमें गुण विद्यमान हैं वह सीमित होता है। ईश्वर असीम निर्गुण है। अत: ईश्वर को सत्य, शिव एवं सुन्दर कहना उसे सीमित बनाने के समान है। गुणों का अस्तित्व अपूर्णताओं का द्योतक है।

प्लॉटिनस ने ईश्वर-सम्बन्धी धारणा को अपने ही ढंग से प्रस्तुत किया। उसके अनुसार, यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर 'यह है।' केवल इतना ही कहा

जा सकता है कि ईश्वर 'यह नहीं है, वह नहीं है।' उपनिषदों के ऋषियों के समान प्लॉटिनस ने 'नेति-नेति' के द्वारा ईश्वर का वर्णन किया। प्राणीमात्र के रूप में ईश्वर की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि प्राणी चिन्तनशील होता है। वह ध्येय और विधेय के साथ जुड़ा है। इसलिए वह सीमित बन जाता है। ईश्वर चिन्तक नहीं कहा जा सकता क्योंकि चिन्तन का विषय से सम्बन्ध होता है। ईश्वर का अपना कोई मन नहीं क्योंकि मन में चिन्तन होता है। अतः यह कहना कि ईश्वर चिन्तनशील तथा संकल्प-कर्त्ता है, दोषपूर्ण है। चिन्तन तथा संकल्प ईश्वर को सीमित बना देते हैं। साथ ही, ईश्वर की निरपेक्ष स्वतन्त्रता को आघात पहुँचता है। विचार से कर्त्ता और कर्म का द्वैत प्रकट होता है जिसका ईश्वर में अभाव है।

प्लॉटिनस यह मानता है कि ईश्वर से ही सब कुछ प्रारम्भ होता है, पर उसने जगत् की उत्पत्ति नहीं की क्योंकि सृष्टि का अर्थ है चैतन्य एवं संकल्प अर्थात् ससीमता। ईश्वर ने कभी जगत् को उत्पन्न करने का निर्णय नहीं किया और न ही जगत् का उससे कभी विकास हुआ। जगत ईश्वर की शक्ति का उद्भव (Emanation) मात्र है। जगत् ईश्वर की शक्ति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। उद्भव अथवा अभिव्यक्ति का अर्थ समझाने के लिए प्लॉटिनस ने कई उदाहरण दिये। ईश्वर एक ऐसा स्रोत है जिससे सब कुछ निकलते हुए भी उसका अन्त नहीं है। ईश्वर सूर्य के समान है जिससे समस्त प्रकाश निकलता है, हालांकि वह प्रकाश कभी घटता नहीं। ईश्वर समस्त अस्तित्व का कारण है। लेकिन वह कार्य में कभी परिणित नहीं होता और न ही कार्य का प्रथम कारण (ईश्वर) पर कोई प्रभाव पड़ता है समस्त जगत् ईश्वर पर निर्भर है, पर वह जगत् पर आश्रित नहीं है।

ईश्वर समस्त प्रकाश का केन्द्र है और आदमी जितना ही दूर उस केन्द्र से हटेगा वह उतना ही अन्धकार की ओर जायेगा। ईश्वर पूर्ण निरपेक्ष है। जगत् की उत्पत्ति पूर्णता से अपूर्णता की ओर पतन है। जितना ही मनुष्य अस्तित्व के निम्न स्तर की ओर जायेगा वह उतना ही अपूर्णता, अनेकता, अनित्यता, पृथक्ता, आदि में फँसता चला जायेगा। जगत् द्रव्य-रूपी अन्धकार है। जगत् की अभिव्यक्ति विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा होती है। प्रत्येक आगामी अवस्था पूर्व अवस्था की झलक मात्र होती है। लेकिन प्रत्येक अवस्था प्रारम्भिक अवस्था की ओर उन्मुख होती है और अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु उस अवस्था में ही विलीन होने के लिए तत्पर रहती है जहाँ से उसका उद्भव हुआ।

उद्भव सिद्धान्त (Emanationism)

प्लॉटिनस ने अपने उद्भव-सिद्धान्त में तीन मुख्य अवस्थाएँ मानी हैं :—

(1) विशुद्ध विचार या मन (Pure Thought or Mind)

प्रथम अवस्था में ईश्वर का अस्तित्व दो रूप-विचार और प्रत्यय में मिलता है अर्थात् ईश्वर विचारों का चिन्तन करता है और विशुद्ध आदर्श विश्व उसकी

अनुभूति में विद्यमान होता है। किन्तु इस अवस्था में विचार और उसके प्रत्यय, ज्ञाता और ज्ञेय, एक ही होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं होता क्योंकि ईश्वर एकता है। ईश्वर पूर्ण सत् है जिसमें विचार और विषय का कोई भेद नहीं होता। ईश्वर किसी सांसारिक विषय के सम्बन्ध में नहीं सोचता। वह अपने ही विचारों का चिन्तन करता है जो उसके स्वभाव से ही उद्भवित होते हैं। उसके विचार विवादास्पद नहीं होते और न ही एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय की ओर जाते हैं। तार्किक युक्ति में होने वाला विचार-मन्थन उसमें नहीं है। ईश्वर के विचार आत्मपरक तथा स्थायी होते हैं। प्रत्ययों की समस्त व्यवस्था, ईश्वर के मन में तुरन्त आ जाती है। जगत् में जितनी विशेष वस्तुएँ हैं उतने ही प्रत्यय होते हैं। उनमें परस्पर भिन्नता होती है। उनमें एक सुव्यवस्था भी है जैसा कि प्लेटो ने माना। ईश्वर की निरपेक्ष एकता विभिन्न प्रत्ययों की व्यवस्था में परिलक्षित होती है।

दृश्य जगत् की प्रत्येक वस्तु का प्रत्यय ईश्वर के मन या विचार में होता है। ईश्वर का विशुद्ध चिन्तन दिक् तथा काल से परे है। विशुद्ध चिन्तन देशकालातीत होता है। यह जगत् पूर्ण, नित्य एवं सुव्यवस्थित स्पष्ट जगत् है। भौतिक जगत् के लिए विशुद्ध विचार एक नमूना है जो पूर्ण शाश्वत और समन्वित होता है। प्रत्यय केवल व्यवस्था ही नहीं वल्कि मूल कारण भी है क्योंकि प्रत्येक आगामी अवस्था पूर्व अवस्था से अभिव्यक्त होती है

(2) आत्मा (Soul)

द्वितीय अवस्था में आत्मा का उद्भव विशुद्ध विचार से होता है। जहाँ-जहाँ प्रत्यय अथवा लक्ष्य होते हैं वे अपनी अनुभूति के लिए कुछ उत्पन्न करते हैं। आत्मा विशुद्ध विचार का एक कार्य रूप है। उसका प्रतिविम्ब है। प्रत्येक कार्य की भाँति, अपने प्रथम कारण की अपेक्षा आत्मा कम पूर्ण है। आत्मा इन्द्रियों से परे है। वह वुद्धिगम्य है। वह क्रियाशील है। आत्मा में प्रत्यय विद्यमान होते हैं। आत्मा में विचार-शक्ति है। लेकिन उसमें तार्किक विचार होने के नाते विशुद्ध विचार की तुलना में कम पूर्ण है। उसमें आत्म-चेतना है, पर वह प्रत्यक्ष तथा स्मृति से बढ़कर है। इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय, वुद्धिमान और सक्रिय होती है।

प्लॉटिनस आत्मा के दो मुख्य पक्ष मानता है। प्रथम अवस्था में आत्मा विशुद्ध विचार की ओर उन्मुख होती है और द्वितीय अवस्था में वह इन्द्रिय-जगत् की ओर मुड़ती है। प्रथम दृष्टि से, आत्मा विशुद्ध प्रत्ययों के विषय में चिन्तन करती है जिसे प्लॉटिनस 'विश्वात्मा' (World-Soul) कहता है। द्वितीय दृष्टि से, आत्मा पुद्गल में व्यवस्था करने के लिए इच्छा करती है जिसे 'प्रकृति' (Nature) का नाम दिया गया है। कभी-कभी प्लॉटिनस दो विश्वात्माओं में विश्वास करते हुए प्रतीत होता है। एक चेतन विश्वात्मा तथा दूसरी अचेतन भौतिक विश्वात्मा जो प्रथम से

ही उद्‌भवित होती है। चेतन विश्वात्मा, जिसमें प्रत्यय होते हैं और मन का चिन्तन करती है, अविभाज्य है। वह भौतिक विश्वात्मा जो जगत् के विषयों के साथ जुड़ी है, विभाज्य है।

(3) पुद्‌गल (Matter)

आत्मा में इच्छा होती है। आत्मा अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए कुछ उत्पन्न करती है अर्थात् अपनी शक्ति का प्रदर्शन पुद्‌गल के माध्यम से करती है। इस प्रकार पुद्‌गल का उद्‌भव होता है। यह दिव्य-अभिव्यक्ति का निम्न स्तर है। पुद्‌गल में स्वयं कोई रूप, गुण, शक्ति तथा एकता नहीं होती। वह निरपेक्षतः निष्क्रिय एवं दुःख-रूप है। पुद्‌गल अशुभ का सिद्धान्त है। पुद्‌गल ईश्वर से बहुत दूर है और अन्धकार का प्रतीक है। पुद्‌गल में कोई आकृति नहीं होती। केवल इतना है कि इन्द्रिय-जगत् में परिवर्तनशील गुणों तथा वस्तुओं का वह आधार है। पुद्‌गल वह है जो हमारे इन्द्रिय-जगत् में निरन्तर परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। विशेष आत्माएँ, जो विश्वात्मा की ही अंश-मात्र हैं, पदार्थ को इन्द्रिय-जगत् में उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार काल और दिक् में भौतिक वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है। विश्वात्मा जगत् में परिणित नहीं होती। वस्तुओं की सांसारिक व्यवस्था पुद्‌गल तक ही सीमित है। संक्षेप में, विश्वात्मा से जगत् की अभिव्यक्ति होती है।

प्लॉटिनस यह मानता है कि विश्वात्मा के स्वभाव से यह जगत् अनिवार्यतः फलित होता है। आत्मा ने अपनी इच्छानुसार काल-दिक् विशेष में प्रकृति-जगत् की उत्पत्ति नहीं की। विश्वात्मा का विशुद्ध विचार से उद्‌भव, पुद्‌गल का अवतरण, पुद्‌गल की विभिन्न वस्तुओं में अभिव्यक्ति-एक नित्य क्रम अथवा उद्‌भव है जिसे केवल अमूर्त चिन्तन ही समझ सकता है। इन सबका मूलाधार ईश्वर है जो शुद्ध सत् है और निर्गुण, निर्विकार तथा निराकार है। वह नित्य एवं निरवयव है।

मानव आत्मा (The Human Soul)

मानव आत्मा विश्वात्मा का ही एक अंग है। स्वभावतः मानव आत्मा स्वतन्त्र तथा अतीन्द्रिय है। अपने उद्‌भव से पूर्व आत्मा ने नित्य नूस (Nous : God) का अनुभूतिपूर्ण चिन्तन किया। फिर ईश्वर की ओर देखा। फलतः आत्मा ने ईश्वर को जाना। तत्पश्चात् आत्मा ने पृथ्वी एवं शरीर की ओर देखा। परिणाम यह हुआ कि उसका पतन हो गया। यह पतन विश्वात्मा की पुद्‌गल को आकार देने की इच्छा का अनिवार्य परिणाम है। विशेष आत्माएँ भी अपने को भौतिक जगत् में अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित हुईं। इस प्रकार आत्मा का प्रारम्भिक स्वतन्त्र स्वरूप नष्ट हो गया और मानव आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में भटकने लगी। अपने स्वतन्त्र स्वरूप की विकृति के पश्चात् आत्माएँ अपने कर्मानुसार पशुओं और पौधों के शरीरों में भ्रमण करने लगीं। किंतु विश्वात्मा का वह अंग (विशेष आत्मा)

अनुभूति में विद्यमान होता है। किन्तु इस अवस्था में विचार और उसके प्रत्यय, ज्ञाता और ज्ञेय, एक ही होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं होता क्योंकि ईश्वर एकता है। ईश्वर पूर्ण सत् है जिसमें विचार और विषय का कोई भेद नहीं होता। ईश्वर किसी सांसारिक विषय के सम्बन्ध में नहीं सोचता। वह अपने ही विचारों का चिन्तन करता है जो उसके स्वभाव से ही उद्भवित होते हैं। उसके विचार विवादास्पद नहीं होते और न ही एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय की ओर जाते हैं। तार्किक युक्ति में होने वाला विचार-मन्थन उसमें नहीं है। ईश्वर के विचार आत्मपरक तथा स्थायी होते हैं। प्रत्ययों की समस्त व्यवस्था, ईश्वर के मन में तुरन्त आ जाती है। जगत् में जितनी विशेष वस्तुएँ हैं उतने ही प्रत्यय होते हैं। उनमें परस्पर भिन्नता होती है। उनमें एक सुव्यवस्था भी है जैसा कि प्लेटो ने माना। ईश्वर की निरपेक्ष एकता विभिन्न प्रत्ययों की व्यवस्था में परिलक्षित होती है।

दृश्य जगत् की प्रत्येक वस्तु का प्रत्यय ईश्वर के मन या विचार में होता है। ईश्वर का विशुद्ध चिन्तन दिक् तथा काल से परे है। विशुद्ध चिन्तन देशकालातीत होता है। यह जगत् पूर्ण, नित्य एवं सुव्यवस्थित स्पष्ट जगत् है। भौतिक जगत् के लिए विशुद्ध विचार एक नमूना है जो पूर्ण शाश्वत और समन्वित होता है। प्रत्यय केवल व्यवस्था ही नहीं वल्कि मूल कारण भी है क्योंकि प्रत्येक आगामी अवस्था पूर्व अवस्था से अभिव्यक्त होती है

(2) आत्मा (Soul)

द्वितीय अवस्था में आत्मा का उद्भव विशुद्ध विचार से होता है। जहाँ-जहाँ प्रत्यय अथवा लक्ष्य होते हैं वे अपनी अनुभूति के लिए कुछ उत्पन्न करते हैं। आत्मा विशुद्ध विचार का एक कार्य रूप है। उसका प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक कार्य की भाँति, अपने प्रथम कारण की अपेक्षा आत्मा कम पूर्ण है। आत्मा इन्द्रियों से परे है। वह बुद्धिगम्य है। वह क्रियाशील है। आत्मा में प्रत्यय विद्यमान होते हैं। आत्मा में विचार-शक्ति है। लेकिन उसमें तार्किक विचार होने के नाते विशुद्ध विचार की तुलना में कम पूर्ण है। उसमें आत्म-चेतना है, पर वह प्रत्यक्ष तथा स्मृति से बढ़कर है। इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय, बुद्धिमान और सक्रिय होती है।

प्लॉटिनस आत्मा के दो मुख्य पक्ष मानता है। प्रथम अवस्था में आत्मा विशुद्ध विचार की ओर उन्मुख होती है और द्वितीय अवस्था में वह इन्द्रिय-जगत् की ओर मुड़ती है। प्रथम दृष्टि से, आत्मा विशुद्ध प्रत्ययों के विषय में चिन्तन करती है जिसे प्लॉटिनस 'विश्वात्मा' (World-Soul) कहता है। द्वितीय दृष्टि से, आत्मा पुद्गल में व्यवस्था करने के लिए इच्छा करती है जिसे 'प्रकृति' (Nature) का नाम दिया गया है। कभी-कभी प्लॉटिनस दो विश्वात्माओं में विश्वास करते हुए प्रतीत होता है। एक चेतन विश्वात्मा तथा दूसरी अचेतन भौतिक विश्वात्मा जो प्रथम से

ही उद्भवित होती है। चेतन विश्वात्मा, जिसमें प्रत्यय होते हैं और मन का चिन्तन करती है, अविभाज्य है। वह भौतिक विश्वात्मा जो जगत् के विषयों के साथ जुड़ी है, विभाज्य है।

(3) पुद्गल (Matter)

आत्मा में इच्छा होती है। आत्मा अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए कुछ उत्पन्न करती है अर्थात् अपनी शक्ति का प्रदर्शन पुद्गल के माध्यम से करती है। इस प्रकार पुद्गल का उद्भव होता है। यह दिव्य-अभिव्यक्ति का निम्न स्तर है। पुद्गल में स्वयं कोई रूप, गुण, शक्ति तथा एकता नहीं होती। वह निरपेक्षतः निष्क्रिय एवं दुःख-रूप है। पुद्गल अशुभ का सिद्धान्त है। पुद्गल ईश्वर से बहुत दूर है और अन्धकार का प्रतीक है। पुद्गल में कोई आकृति नहीं होती। केवल इतना है कि इन्द्रिय-जगत् में परिवर्तनशील गुणों तथा वस्तुओं का वह आधार है। पुद्गल वह है जो हमारे इन्द्रिय-जगत् में निरन्तर परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। विशेष आत्माएँ, जो विश्वात्मा की ही अंश-मात्र हैं, पदार्थ को इन्द्रिय-जगत् में उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार काल और दिक् में भौतिक वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है। विश्वात्मा जगत् में परिणित नहीं होती। वस्तुओं की सांसारिक व्यवस्था पुद्गल तक ही सीमित है। संक्षेप में, विश्वात्मा से जगत् की अभिव्यक्ति होती है।

प्लॉटिनस यह मानता है कि विश्वात्मा के स्वभाव से यह जगत् अनिवार्यतः फलित होता है। आत्मा ने अपनी इच्छानुसार काल-दिक् विशेष में प्रकृति-जगत् की उत्पत्ति नहीं की। विश्वात्मा का विशुद्ध विचार से उद्भव, पुद्गल का अवतरण, पुद्गल की विभिन्न वस्तुओं में अभिव्यक्ति-एक नित्य क्रम अथवा उद्भव है जिसे केवल अमूर्त चिन्तन ही समझ सकता है। इन सबका मूलाधार ईश्वर है जो शुद्ध सत् है और निर्गुण, निर्विकार तथा निराकार है। वह नित्य एवं निरवयव है।

मानव आत्मा (The Human Soul)

मानव आत्मा विश्वात्मा का ही एक अंग है। स्वभावतः मानव आत्मा स्वतन्त्र तथा अतीन्द्रिय है। अपने उद्भव से पूर्व आत्मा ने नित्य नूस (Nous : God) का अनुभूतिपूर्ण चिन्तन किया। फिर ईश्वर की ओर देखा। फलतः आत्मा ने ईश्वर को जाना। तत्पश्चात् आत्मा ने पृथ्वी एवं शरीर की ओर देखा। परिणाम यह हुआ कि उसका पतन हो गया। यह पतन विश्वात्मा की पुद्गल को आकार देने की इच्छा का अनिवार्य परिणाम है। विशेष आत्माएँ भी अपने को भौतिक जगत् में अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित हुईं। इस प्रकार आत्मा का प्रारम्भिक स्वतन्त्र स्वरूप नष्ट हो गया और मानव आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में भटकने लगी। अपने स्वतन्त्र स्वरूप की विकृति के पश्चात् आत्माएँ अपने कर्मानुसार पशुओं और पौधों के शरीरों में भ्रमण करने लगीं। किंतु विश्वात्मा का वह अंग (विशेष आत्मा)

अनुभूति में विद्यमान होता है। किन्तु इस अवस्था में विचार और उसके प्रत्यय, ज्ञाता और ज्ञेय, एक ही होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं होता क्योंकि ईश्वर एकता है। ईश्वर पूर्ण सत् है जिसमें विचार और विषय का कोई भेद नहीं होता। ईश्वर किसी सांसारिक विषय के सम्बन्ध में नहीं सोचता। वह अपने ही विचारों का चिन्तन करता है जो उसके स्वभाव से ही उद्भवित होते हैं। उसके विचार विवादास्पद नहीं होते और न ही एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय की ओर जाते हैं। तार्किक युक्ति में होने वाला विचार-मन्थन उसमें नहीं है। ईश्वर के विचार आत्मपरक तथा स्थायी होते हैं। प्रत्ययों की समस्त व्यवस्था, ईश्वर के मन में तुरन्त आ जाती है। जगत् में जितनी विशेष वस्तुएँ हैं उतने ही प्रत्यय होते हैं। उनमें परस्पर भिन्नता होती है। उनमें एक सुव्यवस्था भी है जैसा कि प्लेटो ने माना। ईश्वर की निरपेक्ष एकता विभिन्न प्रत्ययों की व्यवस्था में परिलक्षित होती है।

दृश्य जगत् की प्रत्येक वस्तु का प्रत्यय ईश्वर के मन या विचार में होता है। ईश्वर का विशुद्ध चिन्तन दिक् तथा काल से परे है। विशुद्ध चिन्तन देशकालातीत होता है। यह जगत् पूर्ण, नित्य एवं सुव्यवस्थित स्पष्ट जगत् है। भौतिक जगत् के लिए विशुद्ध विचार एक नमूना है जो पूर्ण शाश्वत और समन्वित होता है। प्रत्यय केवल व्यवस्था ही नहीं वल्कि मूल कारण भी है क्योंकि प्रत्येक आगामी अवस्था पूर्व अवस्था से अभिव्यक्त होती है

(2) आत्मा (Soul)

द्वितीय अवस्था में आत्मा का उद्भव विशुद्ध विचार से होता है। जहाँ-जहाँ प्रत्यय अथवा लक्ष्य होते हैं वे अपनी अनुभूति के लिए कुछ उत्पन्न करते हैं। आत्मा विशुद्ध विचार का एक कार्य रूप है। उसका प्रतिविम्ब है। प्रत्येक कार्य की भाँति, अपने प्रथम कारण की अपेक्षा आत्मा कम पूर्ण है। आत्मा इन्द्रियों से परे है। वह बुद्धिगम्य है। वह क्रियाशील है। आत्मा में प्रत्यय विद्यमान होते हैं। आत्मा में विचार-शक्ति है। लेकिन उसमें तार्किक विचार होने के नाते विशुद्ध विचार की तुलना में कम पूर्ण है। उसमें आत्म-चेतना है, पर वह प्रत्यक्ष तथा स्मृति से बढ़कर है। इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय, बुद्धिमान और सक्रिय होती है।

प्लॉटिनस आत्मा के दो मुख्य पक्ष मानता है। प्रथम अवस्था में आत्मा विशुद्ध विचार की ओर उन्मुख होती है और द्वितीय अवस्था में वह इन्द्रिय-जगत् की ओर मुड़ती है। प्रथम दृष्टि से, आत्मा विशुद्ध प्रत्ययों के विषय में चिन्तन करती है जिसे प्लॉटिनस 'विश्वात्मा' (World-Soul) कहता है। द्वितीय दृष्टि से, आत्मा पुद्गल में व्यवस्था करने के लिए इच्छा करती है जिसे 'प्रकृति' (Nature) का नाम दिया गया है। कभी-कभी प्लॉटिनस दो विश्वात्माओं में विश्वास करते हुए प्रतीत होता है। एक चेतन विश्वात्मा तथा दूसरी अचेतन भौतिक विश्वात्मा जो प्रथम से

ही उद्भवित होती है। चेतन विश्वात्मा, जिसमें प्रत्यय होते हैं और मन का चिन्तन करती है, अविभाज्य है। वह भौतिक विश्वात्मा जो जगत् के विषयों के साथ जुड़ी है, विभाज्य है।

(3) पुद्गल (Matter)

आत्मा में इच्छा होती है। आत्मा अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए कुछ उत्पन्न करती है अर्थात् अपनी शक्ति का प्रदर्शन पुद्गल के माध्यम से करती है। इस प्रकार पुद्गल का उद्भव होता है। यह दिव्य-अभिव्यक्ति का निम्न स्तर है। पुद्गल में स्वयं कोई रूप, गुण, शक्ति तथा एकता नहीं होती। वह निरपेक्षत: निष्क्रिय एवं दु:ख-रूप है। पुद्गल अशुभ का सिद्धान्त है। पुद्गल ईश्वर से बहुत दूर है और अन्धकार का प्रतीक है। पुद्गल में कोई आकृति नहीं होती। केवल इतना है कि इंन्द्रिय-जगत् में परिवर्तनशील गुणों तथा वस्तुओं का वह आधार है। पुद्गल वह है जो हमारे इन्द्रिय-जगत् में निरन्तर परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। विशेष आत्माएँ, जो विश्वात्मा की ही अंश-मात्र हैं, पदार्थ को इन्द्रिय-जगत् में उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार काल और दिक् में भौतिक वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है। विश्वात्मा जगत् में परिणित नहीं होती। वस्तुओं की सांसारिक व्यवस्था पुद्गल तक ही सीमित है। संक्षेप में, विश्वात्मा से जगत् की अभिव्यक्ति होती है।

प्लॉटिनस यह मानता है कि विश्वात्मा के स्वभाव से यह जगत् अनिवार्यत: फलित होता है। आत्मा ने अपनी इच्छानुसार काल-दिक् विशेष में प्रकृति-जगत् की उत्पत्ति नहीं की। विश्वात्मा का विशुद्ध विचार से उद्भव, पुद्गल का अवतरण, पुद्गल की विभिन्न वस्तुओं में अभिव्यक्ति-एक नित्य क्रम अथवा उद्भव है जिसे केवल अमूर्त चिन्तन ही समझ सकता है। इन सबका मूलाधार ईश्वर है जो शुद्ध सत् है और निर्गुण, निर्विकार तथा निराकार है। वह नित्य एवं निरवयव है।

मानव आत्मा (The Human Soul)

मानव आत्मा विश्वात्मा का ही एक अंग है। स्वभावत: मानव आत्मा स्वतन्त्र तथा अतीन्द्रिय है। अपने उद्भव से पूर्व आत्मा ने नित्य नूस (Nous : God) का अनुभूतिपूर्ण चिन्तन किया। फिर ईश्वर की ओर देखा। फलत: आत्मा ने ईश्वर को जाना। तत्पश्चात् आत्मा ने पृथ्वी एवं शरीर की ओर देखा। परिणाम यह हुआ कि उसका पतन हो गया। यह पतन विश्वात्मा की पुद्गल को आकार देने की इच्छा का अनिवार्य परिणाम है। विशेष आत्माएँ भी अपने को भौतिक जगत् में अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित हुईं। इस प्रकार आत्मा का प्रारम्भिक स्वतन्त्र स्वरूप नष्ट हो गया और मानव आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में भटकने लगी। अपने स्वतन्त्र स्वरूप की विकृति के पश्चात् आत्माएँ अपने कर्मानुसार पशुओं और पौधों के शरीरों में भ्रमण करने लगीं। किंतु विश्वात्मा का वह अंग (विशेष आत्मा)

जो भौतिक शरीर में विद्यमान रहता है, वास्तविक नहीं है। विशेष आत्मा विश्वात्मा का प्रतिबिम्ब है। यह आत्मा भूख, प्यास आदि से जुड़ी है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पापों तथा वासनाओं का स्रोत है। वह कुछ सद्‌गुणों का भी केन्द्र है।

सच्ची आत्मा विशुद्ध विचार में सन्निहित है। अपने सच्चे स्वरूप की अनुभूति इन्द्रिय-भोग द्वारा नहीं, बल्कि विचार युक्त जीवन द्वारा हो सकती है। शुद्ध चिन्तन ही आत्मा को ईश्वर तक ले जा सकता है। सांसारिक जीवन में ऐसा सम्भव नहीं। ईश्वर प्राप्ति के लिये साधारण सद्‌गुण पर्याप्त नहीं हैं। प्रवृत्तियों में मध्यम मार्ग भी पर्याप्त नहीं है। सभी प्रकार की वासनाओं से आत्मा को मुक्त होना पड़ेगा और सभी शारीरिक बन्धनों से छुटकारा पाना होगा। इतना ही नहीं, वैचारिक चिन्तन भी अनिवार्य होगा ताकि विशुद्ध प्रत्ययों की अनुभूति के पश्चात् ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सके। प्लॉटिनस के अनुसार, सिद्धान्त व्यवहार से उच्च होता है क्योंकि व्यक्तिगत आत्माएं सिद्धांत (चिन्तन) के द्वारा ही ईश्वर के समीप आ सकती हैं। इससे भी बढ़कर परमानन्द (Bliss) की अवस्था होती है जिसमें आत्मा ईश्वर के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है। मानव आत्मा ईश्वर में विलुप्त हो जाती है। उनमें कोई भेद नहीं रहता। यह भेदहीन स्थिति है। यह ईश्वर से मिलन की रहस्यमय स्थिति है।

उपर्युक्त रहस्यवाद में प्लॉटिनस यूनानी दर्शन और पूर्वीय धर्म का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। उसका दर्शन ईश्वरवादी है क्योंकि वह अनुभवातीत ईश्वर को स्वीकार करता है। वह सर्वेश्वरवादी भी है क्योंकि समस्त जगत् में ईश्वर है और समस्त अस्तित्व ईश्वर की अभिव्यक्ति है। उसका दर्शन धार्मिक प्रत्ययवादी है क्योंकि आत्मा का एक मात्र लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है। प्लॉटिनस मानता है कि मात्र एक जीवन में ईश्वर-प्राप्ति असम्भव है। फिर भी आदमी का कर्तव्य है कि वह इन्द्रिय-जगत् से मुक्त होकर ईश्वरानुभूति में लीन होने का निरन्तर प्रयास करता रहे ताकि वह अन्ततः परमानन्द की अवस्था में प्रवेश कर सके।

□

द्वितीय भाग

कुछ मध्यकालीन दार्शनिक

(KUCHHA MADHYAKALIN DARSHNIK)

5. सन्त ऑगस्टाइन (St. Augustine)

6. सन्त टॉमस एक्विनास (St. Thomas Acquinas)

5

सन्त ऑगस्टाइन

(St. Augustine : 354–430)

आरेलियस ऑगस्टाइन का जन्म उत्तरी अफ्रीका के टगस्ते नामक स्थान में हुआ था। युवावस्था में विलासी जीवन बिताने के बाद वह रोम चला गया जहाँ वह अध्यापक बन गया। प्लेटो तथा प्लॉटिनस के विचारों के अध्ययन से उसे बड़ी सांत्वना मिली। तत्पश्चात् उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया और तीन वर्ष तक मठ में साधु जीवन बिताया। ऑगस्टाइन ने अपना समस्त जीवन ईसाई धर्म तथा चर्च की सेवा में लगाया और कैथोलिक सिद्धांत के विकास तथा प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसने ही सबसे पहले ईसाईयत-दृष्टिकोण के अनुसार एक व्यवस्थित दर्शन की नींव डाली।

ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge)

ऑगस्टाइन के दृष्टिकोण में समस्त ईसाई युग की भावना मिलती है। केवल उसी ज्ञान का मूल्य है जो ईश्वर तथा आत्मा से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से धर्मशास्त्र (Theology) का स्थान प्रथम है। अन्य विज्ञानों–तर्कशास्त्र, तत्त्वज्ञान, नीतिविज्ञान का महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक उनसे ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। मनुष्य जिसमें आस्था रखता है उसे अच्छी तरह समझना उसका परम कर्तव्य है। इसलिये ऑगस्टाइन ने कहा कि "समझिये ताकि आप विश्वास कर सकें, विश्वास कीजिये ताकि आप सीख सकें।"

प्राकृतिक ज्ञान के अतिरिक्त, ऑगस्टाइन के अनुसार, दैनिक अभिव्यक्ति में विश्वास भी ईश्वरीय-ज्ञान का आधार है। विश्वास को समझने के लिए बुद्धि अनिवार्य है। बुद्धि को समझने के लिये आस्था आवश्यक है। सर्वप्रथम बुद्धि को यह समझना चाहिये कि वास्तव में कोई अभिव्यक्ति (Revelation) हुई है अथवा नहीं। यदि ऐसा निश्चय हो जाता है तो विश्वास उसे स्वीकार करेगा और बुद्धि उसकी व्याख्या करेगी। इस प्रकार ऑगस्टाइन के दर्शन में विवेक और आस्था न तो एक

दूसरे के बाहर है और न परस्पर विरोधी है, बल्कि परस्पर पूरक हैं। यदि ईश्वर में आस्था है तो उसे समझाने में आसानी होगी और यदि यह समझ लिया है तो आस्था सुदृढ़ बन जायेगी।

अपने ज्ञानशास्त्र में ऑगस्टाइन ने यह माना है कि ईश्वर का ज्ञान और आत्मा का ज्ञान समस्त ज्ञान के क्षेत्र में खोज का एकमात्र लक्ष्य है। ईश्वरीय ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। यही मानवीय विकास की चरम परिणति है क्योंकि एकमात्र दैविक ज्ञान ही समस्त ज्ञान, यहाँ तक कि व्यावहारिक ज्ञान का भी सार है। व्यावहारिक ज्ञान जो कि बाह्य वस्तुओं के अनुभव पर आधारित है वह भी इसी दैवी ज्ञान के आधार पर ही पूरी तरह समझा जा सकता है। इस प्रकार दैवी सत् का प्रेम और उसकी सर्वोच्च महत्ता में विश्वास सन्त ऑगस्टाइन की ज्ञान-मीमांसा का मूल सिद्धांत है।

ऑगस्टाइन के अनुसार, समस्त ज्ञान ईश्वर से मूल्य प्राप्त करता है। वह ज्ञान के दो क्षेत्र या स्तर मानता है। एक तो अन्तर्दृष्टि या बुद्धिमता और दूसरा वैज्ञानिक बुद्धि है। अन्तर्दृष्टि (Insight) ज्ञान विवेक का सर्वोच्च कार्य है और रचनात्मक दैवी तत्व को स्पष्ट करता है। उसके द्वारा हम दैवी तत्व में त्रिविध तत्व अर्थात् अस्तित्व, व्यवस्था और गति का ज्ञान प्रदान करते हैं। इसमें आत्मा और उसके त्रिविध स्वरूप को भी जाना जाता है जिसमें अस्तित्व, ज्ञान और संकल्प सम्मिलित हैं। आत्मा का ज्ञान हमें ईश्वर के ज्ञान की ओर ले जाता है। वैज्ञानिक-बुद्धि प्रकृति के तत्वों को विश्लेषणात्मक रूप से जानने का लक्ष्य रखती है। लेकिन यह ज्ञान अन्तर्दृष्टि-ज्ञान से गौण है क्योंकि अन्तर्दृष्टि से हमें आत्मा का सन्देहरहित रूप स्पष्ट होता है।

आत्मा के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्देह की प्रक्रिया ही आत्मा को स्पष्ट करती है। आत्मा का ज्ञान प्रकृति तथा बाह्य जगत् के ज्ञान की तुलना में कहीं अधिक सुनिश्चित एवं सन्देह-रहित होता है। जब हम आत्मा के ज्ञान में लीन होते हैं तो उससे बहुत से दैवी रचनात्मक तत्वों का ज्ञान भी हमें हो जाता है। वस्तुओं के बारे में सत्य तथा असत्य का निर्णय करते समय हमें बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। इससे यह सारांश निकलता है कि एक वस्तुगत जगत् है जिसके विषय में हम कुछ निर्णय देते हैं। हम सत्य या असत्य का निर्णय नहीं दे सकते जब तक कि उनके अनुरूप वस्तुएँ न हों। इस प्रकार ऑगस्टाइन का यह विश्वास था कि सत्य वस्तुगत है; केवल मानवीय-मस्तिष्क की आत्मगत उपज मात्र नहीं है। वह स्वतन्त्र एवं दबाव डालने वाला है चाहें आप उसे देख पावें अथवा नहीं। वह अस्तित्व रखता है और सदैव अस्तित्वमय रहा है। सत्य के इस शाश्वत और अपरिवर्तनीय जगत् का स्रोत ईश्वर है। वास्तव में, प्लेटोनिक प्रत्ययों, स्वरूपों अथवा सार-तत्वों का मूल स्थान ईश्वर का मन है। सार्वभौम प्रत्ययों के साथ-साथ, ईश्वर के मन में विशिष्ट वस्तुओं के विचारों का भी समावेश है।

संक्षेप में, ऑगस्टाइन का ज्ञान सिद्धांत इस प्रकार है—

(1) समस्त अस्तित्व एवं ज्ञान का स्रोत ईश्वर है और ईश्वर का दैवी रचनात्मक तत्व ही सर्वत्र अभिव्यक्त होता है।

(2) अन्तर्दृष्टि अथवा बुद्धिमत्ता द्वारा आत्मा एवं ईश्वर का ज्ञान संभव होता है।

(3) सत्य एवं असत्य की दृष्टि से विवेक विभिन्न प्रकार के निर्णय देता है। सत्य का वस्तुगत अस्तित्व भी होता है और वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा हमें वाह्य जगत् का ज्ञान होता है।

(4) धर्म शास्त्र द्वारा दैवी तत्व का सीधा ज्ञान होता है और अन्य विज्ञान दैवी तत्व को जानने के साधन मात्र हैं।

(5) मानवीय जीवन का एक मात्र लक्ष्य दैवी ज्ञान को प्राप्त करना है। समस्त मानव प्रयास इसी ओर होना चाहिये।

ईश्वर की धारणा (Concept of God)

ऑगस्टाइन के धर्मशास्त्र में नव्य-प्लेटोवादी (Neo-Platonic) ईश्वर-धारणा का अत्यधिक प्रभाव रहा। वह मानता है कि ईश्वर नित्य, अनुभवातीत, सर्वशक्तिमान, पूर्णतः शुभ एवं बुद्धिमान है। वह निरपेक्ष एकला, बुद्धि संकल्प, अर्थात् निरपेक्ष-आत्मा है। ईश्वर पूर्णतः स्वतन्त्र है। उसके निर्णय उसी भांति अपरिवर्तनीय हैं जिस भाँति उसका स्वभाव है। वह पूर्णतः पवित्र है। ईश्वर अशुभ की इच्छा से परे है। ईश्वर में क्रिया एवं संकल्प एक ही हैं। उसका प्रत्येक संकल्प किसी माध्यम के बिना ही सम्पूर्ण हो जाता है। वस्तुओं के समस्त प्रत्यय ईश्वर की बुद्धि में हैं। सृष्टि-रचना के पूर्व ईश्वर का अस्तित्व था। अतएव प्रत्येक वस्तु का मूल कारण ईश्वर ही है। जगत् ईश्वर पर निर्भर है पर ईश्वर किसी भी प्रकार से जगत् पर आश्रित नहीं है।

ऑगस्टाइन के अनुसार, ईश्वर ने जगत् की उत्पत्ति अभाव में से की। जगत् ईश्वर के अस्तित्व का अनिवार्य उद्भव नहीं है जैसा कि सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के अन्तर्गत नव्य-प्लेटोवादी समझते हैं। जगत् की रचना निरन्तर सृष्टि का एक क्रम है। ईश्वर की देख-रेख में ही यह जगत् चलता है अन्यथा वह नष्ट हो सकता है। अतएव निरपेक्षतः तथा निरन्तर रूप से यह जगत् ईश्वर पर निर्भर है। ईश्वर ने जगत् की उत्पत्ति दिक् तथा काल में नहीं की क्योंकि दोनों का अस्तित्व ईश्वर के पूर्व नहीं था। ईश्वर स्वयं दिक् तथा काल से परे है। ऑगस्टाइन जगत् की सृष्टि को नित्य नहीं मानता क्योंकि सृष्टि का प्रारम्भ है। जगत् के सभी जीव ससीम, परिवर्तनशील तथा विनाशशील हैं। ईश्वर ने पुद्गल को भी उत्पन्न किया, पर पुद्गल प्रत्ययों से पुरातन नहीं है। संक्षेप में, जगत् ईश्वर के संकल्प का परिणाम है और जगत् शाश्वत (Eternal) नहीं है। वह ईश्वर के समानान्तर तथा सह-अस्तित्व के रूप में नहीं है। इस प्रकार ऑगस्टाइन ने किसी प्रकार के द्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया।

दूसरे के बाहर है और न परस्पर विरोधी है, बल्कि परस्पर पूरक हैं। यदि ईश्वर में आस्था है तो उसे समझाने में आसानी होगी और यदि यह समझ लिया है तो आस्था सुदृढ़ बन जायेगी।

अपने ज्ञानशास्त्र में ऑगस्टाइन ने यह माना है कि ईश्वर का ज्ञान और आत्मा का ज्ञान समस्त ज्ञान के क्षेत्र में खोज का एकमात्र लक्ष्य है। ईश्वरीय ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। यही मानवीय विकास की चरम परिणति है क्योंकि एकमात्र दैविक ज्ञान ही समस्त ज्ञान, यहाँ तक कि व्यावहारिक ज्ञान का भी सार है। व्यावहारिक ज्ञान जो कि बाह्य वस्तुओं के अनुभव पर आधारित है वह भी इसी दैवी ज्ञान के आधार पर ही पूरी तरह समझा जा सकता है। इस प्रकार दैवी सत् का प्रेम और उसकी सर्वोच्च महत्ता में विश्वास सन्त ऑगस्टाइन की ज्ञान-मीमांसा का मूल सिद्धांत है।

ऑगस्टाइन के अनुसार, समस्त ज्ञान ईश्वर से मूल्य प्राप्त करता है। वह ज्ञान के दो क्षेत्र या स्तर मानता है। एक तो अन्तर्दृष्टि या बुद्धिमता और दूसरा वैज्ञानिक बुद्धि है। अन्तर्दृष्टि (Insight) ज्ञान विवेक का सर्वोच्च कार्य है और रचनात्मक दैवी तत्व को स्पष्ट करता है। उसके द्वारा हम दैवी तत्व में त्रिविध तत्व अर्थात् अस्तित्व, व्यवस्था और गति का ज्ञान प्रदान करते हैं। इसमें आत्मा और उसके त्रिविध स्वरूप को भी जाना जाता है जिसमें अस्तित्व, ज्ञान और संकल्प सम्मिलित हैं। आत्मा का ज्ञान हमें ईश्वर के ज्ञान की ओर ले जाता है। वैज्ञानिक-बुद्धि प्रकृति के तत्वों को विश्लेषणात्मक रूप से जानने का लक्ष्य रखती है। लेकिन यह ज्ञान अन्तर्दृष्टि-ज्ञान से गौण है क्योंकि अन्तर्दृष्टि से हमें आत्मा का सन्देहरहित रूप स्पष्ट होता है।

आत्मा के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्देह की प्रक्रिया ही आत्मा को स्पष्ट करती है। आत्मा का ज्ञान प्रकृति तथा बाह्य जगत् के ज्ञान की तुलना में कहीं अधिक सुनिश्चित एवं सन्देह-रहित होता है। जब हम आत्मा के ज्ञान में लीन होते हैं तो उससे बहुत से दैवी रचनात्मक तत्वों का ज्ञान भी हमें हो जाता है। वस्तुओं के बारे में सत्य तथा असत्य का निर्णय करते समय हमें बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। इससे यह सारांश निकलता है कि एक वस्तुगत जगत् है जिसके विषय में हम कुछ निर्णय देते हैं। हम सत्य या असत्य का निर्णय नहीं दे सकते जब तक कि उनके अनुरूप वस्तुएँ न हों। इस प्रकार ऑगस्टाइन का यह विश्वास था कि सत्य वस्तुगत है, केवल मानवीय-मस्तिष्क की आत्मगत उपज मात्र नहीं है। वह स्वतन्त्र एवं दबाव डालने वाला है चाहें आप उसे देख पावें अथवा नहीं। वह अस्तित्व रखता है और सदैव अस्तित्वमय रहा है। सत्य के इस शाश्वत और अपरिवर्तनीय जगत् का स्रोत ईश्वर है। वास्तव में, प्लेटोनिक प्रत्ययों, स्वरूपों अथवा सार-तत्वों का मूल स्थान ईश्वर का मन है। सार्वभौम प्रत्ययों के साथ-साथ, ईश्वर के मन में विशिष्ट वस्तुओं के विचारों का भी समावेश है।

संक्षेप में, ऑगस्टाइन का ज्ञान सिद्धांत इस प्रकार है—

(1) समस्त अस्तित्व एवं ज्ञान का स्रोत ईश्वर है और ईश्वर का देवी रचनात्मक तत्व ही सर्वत्र अभिव्यक्त होता है।

(2) अन्तर्दृष्टि अथवा बुद्धिमत्ता द्वारा आत्मा एवं ईश्वर का ज्ञान संभव होता है।

(3) सत्य एवं असत्य की दृष्टि से विवेक विभिन्न प्रकार के निर्णय देता है। सत्य का वस्तुगत अस्तित्व भी होता है और वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा हमें वाह्य जगत् का ज्ञान होता है।

(4) धर्म शास्त्र द्वारा दैवी तत्व का सीधा ज्ञान होता है और अन्य विज्ञान दैवी तत्व को जानने के साधन मात्र हैं।

(5) मानवीय जीवन का एक मात्र लक्ष्य दैवी ज्ञान को प्राप्त करना है। समस्त मानव प्रयास इसी ओर होना चाहिये।

ईश्वर की धारणा (Concept of God)

ऑगस्टाइन के धर्मशास्त्र में नव्य-प्लेटोवादी (Neo–Platonic) ईश्वर-धारणा का अत्यधिक प्रभाव रहा। वह मानता है कि ईश्वर नित्य, अनुभवातीत, सर्वशक्तिमान, पूर्णतः शुभ एवं बुद्धिमान है। वह निरपेक्ष एकता, बुद्धि संकल्प, अर्थात् निरपेक्ष-आत्मा है। ईश्वर पूर्णतः स्वतन्त्र है। उसके निर्णय उसी भांति अपरिवर्तनीय हैं जिस भाँति उसका स्वभाव है। वह पूर्णतः पवित्र है। ईश्वर अशुभ की इच्छा से परे है। ईश्वर में क्रिया एवं संकल्प एक ही हैं। उसका प्रत्येक संकल्प किसी माध्यम के बिना ही सम्पूर्ण हो जाता है। वस्तुओं के समस्त प्रत्यय ईश्वर की बुद्धि में हैं। सृष्टि-रचना के पूर्व ईश्वर का अस्तित्व था। अतएव प्रत्येक वस्तु का मूल कारण ईश्वर ही है। जगत् ईश्वर पर निर्भर है पर ईश्वर किसी भी प्रकार से जगत् पर आश्रित नहीं है।

ऑगस्टाइन के अनुसार, ईश्वर ने जगत् की उत्पत्ति अभाव में से की। जगत् ईश्वर के अस्तित्व का अनिवार्य उद्भव नहीं है जैसा कि सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के अन्तर्गत नव्य–प्लेटोवादी समझते हैं। जगत् की रचना निरन्तर सृष्टि का एक क्रम है। ईश्वर की देख-रेख में ही यह जगत् चलता है अन्यथा वह नष्ट हो सकता है। अतएव निरपेक्षतः तथा निरन्तर रूप से यह जगत् ईश्वर पर निर्भर है। ईश्वर ने जगत् की उत्पत्ति दिक् तथा काल में नहीं की क्योंकि दोनों का अस्तित्व ईश्वर के पूर्व नहीं था। ईश्वर स्वयं दिक् तथा काल से परे है। ऑगस्टाइन जगत् की सृष्टि को नित्य नहीं मानता क्योंकि सृष्टि का प्रारम्भ है। जगत् के सभी जीव ससीम, परिवर्तनशील तथा विनाशशील हैं। ईश्वर ने पुद्गल को भी उत्पन्न किया, पर पुद्गल प्रत्ययों से पुरातन नहीं है। संक्षेप में, जगत् ईश्वर के संकल्प का परिणाम है और जगत् शाश्वत (Eternal) नहीं है। वह ईश्वर के समानान्तर तथा सह-अस्तित्व के रूप में नहीं है। इस प्रकार ऑगस्टाइन ने किसी प्रकार के द्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया।

अशुभ की समस्या (Problem of Evil)

ऑगस्टाइन ने अपने धर्मशास्त्र में अशुभ की समस्या का भी विवेचन किया है। उसके अनुसार, ईश्वर प्रत्येक वस्तु का मूल कारण है। यह सृष्टि ईश्वर की उदारता एवं कृपालुता की अभिव्यक्ति है। यह सत्य है कि ईश्वर ने जगत् की रचना प्रेम से प्रेरित होकर की। उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं था कि वह संसार की इस प्रकार की रचना करता। सृष्टि उसकी इच्छा-स्वातन्त्र्य (Free–will) का परिणाम है। ईश्वर ने सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्राणियों की सुविधाओं के लिये की। इसलिए अस्तित्व का प्रत्येक अंश शुभ (Good) है। यदि संसार में अशुभ (Evil) है तो वह भी मानव जीवन के हित का ही मार्ग प्रदर्शित करता है। जगत् की श्रेष्ठता के लिए अशुभ आवश्यक है। अशुभ श्रेष्ठ नहीं है, पर यह बात श्रेष्ठ है कि अशुभ है। अशुभ एक अवगुण है जिसका अर्थ है शुभ का अभाव। अभाव रूप सिद्धांत के अनुसार, अशुभ (बुराई) शुभ (श्रेष्ठता) का लोप है। शुभ का अभाव इसलिये अशुभ है कि उसके अभाव में वह नहीं हो पाता जो होना चाहिये। समस्त बुराइयाँ शुभ के अभाव की धारणा के अन्तर्गत सन्निहित हैं। अशुभ सार्वभौम सृष्टि को दूषित नहीं कर सकता क्योंकि अशुभ आदमी के आचरण का परिणाम है। व्यक्ति का आचरण उस समय अशुभ होता है जब उसके द्वारा शुभ का क्षय होता है। सबसे बड़ी बुराई ईश्वर से विमुख होकर इस विनाशशील जगत् में लिप्त होना है। इसी भाँति सर्वोत्तम शुभ ईश्वर से प्रेम करना और जगत् से विमुख होना है।

ऑगस्टाइन के दृष्टिकोण में आशावाद (Optimism) की झलक मिलती है। अशुभ की समस्या उन सभी के लिए महत्त्वपूर्ण है जो जगत् की मूल श्रेष्ठता में विश्वास करते हैं। ऑगस्टाइन का मत है कि यदि ईश्वर चाहता तो जगत् की व्यवस्था में अशुभ को नहीं रखता। लेकिन मानव हित की दृष्टि से उसने अशुभ को भी स्थान दिया। अशुभ को मानव कल्याण के साधन के रूप में रखा गया है। ईश्वर ने जगत् दृष्टा के रूप में यह जान लिया कि आदमी अशुभ की ओर मुड़ेगा। इसलिए अशुभ करने वालों के लिये उसने दण्ड भी निर्धारित कर दिया। अशुभ किसी शैतान की उपज नहीं है। परन्तु ईश्वर की व्यवस्था का एक अंश है क्योंकि शैतान की शक्ति को मान्यता देने से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का निषेध होता है। ईश्वर की निरपेक्ष श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने के लिये, ऑगस्टाइन ने विभिन्न आध्यात्मिक आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किये :—

(i) अशुभ की स्थिति सापेक्ष है, अशुभ शुभ की दृष्टि से अनिवार्य है।

(ii) अशुभ शुभ का अभाव मात्र है।

(iii) अशुभ का उत्तरदायित्व आदमी के आचरण पर है।

(iv) ईश्वर अशुभ से परे है, पर सांसारिक व्यवस्था में उसने ही अशुभ का प्रावधान रखा है।

नीतिशास्त्र (Ethics)

ऑगस्टाइन का नीतिशास्त्र उसके धर्मशास्त्र एवं मनोविज्ञान पर आधारित है। प्रकृति की सृष्टि में आदमी सर्वोच्च प्राणी है। आदमी शरीर और आत्मा का संघात है। यह संघात पाप का परिणाम नहीं है और न शरीर ही आत्मा के लिये कारागार है। शरीर स्वभावतः बुराई नहीं है। आत्मा सरल अभौतिक अथवा आध्यात्मिक द्रव्य है। आत्मा शरीर से बिल्कुल भिन्न है, पर वह शरीर का जीवनाधार है। वह शरीर का मार्गदर्शन करती है। आत्मा शरीर पर कैसे क्रिया करती है यह एक रहस्य है। ऑगस्टाइन आत्मा की पूर्व-स्थिति को स्वीकार नहीं करता। वह आत्मा की उत्पत्ति के विषय में कोई स्पष्ट बात नहीं कहता। यद्यपि आत्मा की उत्पत्ति काल विशेष में हुई, पर वह कभी मरती नहीं है। ऑगस्टाइन ने अपने युग के अनुकूल आत्मा की अमरता के लिये अनेक युक्तियाँ दीं जिनका मूल हमें प्लेटो के विचारों में मिलता है। ईश्वर प्रत्येक बालक के जन्म के समय एक नई आत्मा की रचना करता है, आत्मायें माता-पिता की आत्माओं से उत्पन्न होती हैं और आत्मा की शाश्वत प्रकृति दिखलाई नहीं जा सकती। वह केवल आस्था की क्रिया है।

मानव आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य धार्मिक है। यह एक ऐसा रहस्यात्मक आदर्श है जिसमें मन और ईश्वर की एकता स्थापित हो जाती है। किन्तु ऐसी एकता इस अपूर्ण संसार में सम्भव नहीं है। वह रहस्यात्मक आदर्शवादी जीवन में ही प्राप्त हो सकता है जिसे ऑगस्टाइन सच्चा जीवन मानता है। यह जगत् ईश्वर प्राप्ति के लिये एक तीर्थ स्थान है। सर्वोच्च लक्ष्य की दृष्टि से यह जगत् वास्तविक जीवन नहीं है। केवल मृत्यु के समान है। इस प्रकार ऑगस्टाइन ने प्रारम्भिक ईसाई धर्म के उस दृष्टिकोण की पुष्टि की जिसमें यह कहा गया है कि यह दृश्य जगत् निराशा का प्रतीक है; आशा का जीवन इस जगत् से परे है जो ईश्वर-कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।

ऑगस्टाइन प्रेम को सर्वोत्तम सद्गुण मानता है। प्रेम समस्त सद्गुणों का मूलाधार है। प्रेम ही ईश्वर तक ले जा सकता है। आत्म-संयम का अर्थ है ईश्वर-प्रेम जो जगत्-प्रेम से भिन्न है। सहनशीलता का अर्थ दुःख तथा कष्ट को प्रेम द्वारा सहन करना है। न्याय ईश्वर के प्रति सेवा का नाम है। उस मार्ग को स्वीकार करना जिससे ईश्वर-प्राप्ति ही बुद्धिमता है। ईश्वर-प्रेम आत्म-प्रेम तथा अन्यों के प्रति प्रेम का आधार है। प्रेम बिना जीवन में कोई लाभ नहीं मिल सकता। प्रेम बिना आशा नहीं और आशा बिना प्रेम नहीं। किन्तु प्रेम और आशा दोनों ही आस्था के बिना असम्भव हैं। अपने नैतिक-दर्शन में, ऑगस्टाइन ने मानव प्राणियों के समक्ष दो मार्ग प्रस्तुत किये :—

(1) सर्वोच्च शुभ (पूर्णता) अनुभवातीत है जिसे शरीर रहते हुए कोई ईसाई भी प्राप्त नहीं कर सकता। शरीर इन्द्रियों के सुखों में लिप्त रहता है।

इसलिये वह पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। यह पूर्णता ईश्वर प्रेम है अर्थात् निरपेक्षतः शुभ संकल्प में सन्निहित है। सापेक्ष पूर्णता कुछ बाह्य क्रियाओं जैसे, प्रार्थना, व्रत, दान से प्राप्त हो सकती है।

(2) पूर्णता के साथ-साथ, सर्वोच्च लक्ष्य संन्यासवाद है जो जगत् के पूर्ण परित्याग, सामाजिक जीवन से विरक्ति तथा ईसा मसीह के अनुकरण में निहित है। इस दृष्टि से राज्य का काम इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि स्थापित चर्च का है। चर्च मनुष्य को सन्यासी जीवन की शिक्षा देता है। अतएव चर्च की शक्ति सर्वोपरि है। चर्च ही पृथ्वी पर ईश्वर का एकमात्र प्रतिनिधि है।

ऑगस्टाइन की नैतिक शिक्षाओं का मूलाधार आदर्शवाद है। सर्वोच्च मूल्य, आदर्श या शुभ, भौतिकता में नहीं, बल्कि आध्यात्मिकता में है। शरीर मानव प्राणी का सर्वोत्तम अंग नहीं, वरन् आत्मा है। ईश्वर और आत्मा को मिलाने वाली श्रृंखला चर्च ही है। चर्च द्वारा आध्यात्मिक मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया जाता है। अतः चर्च जीवन की महत्त्वपूर्ण संस्था है जिसे हर ईसाई को स्वीकार करना चाहिये।

ईश्वर ने मानव प्राणियों को संकल्प-स्वातन्त्र्य से ही आभूषित नहीं किया, बल्कि दैविक अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियाँ भी उन्हें प्रदान की हैं। मनुष्य को अमरत्व, पवित्रता, न्याय, प्रेम आदि सब कुछ दिया है। लेकिन एडम ने शैतान के बहकावे में आकर ईश्वर की अवज्ञा की और निषिद्ध फल खा लिया। इस प्रकार एडम ने मानव प्राणियों की दैविक शक्तियों का विनाश ही नहीं किया, अपितु समस्त मानव जाति को भ्रष्ट बना दिया। एडम का पाप मानव सन्तानों में व्याप्त हो गया जो निरन्तर चलता आ रहा है। एडम ने स्वतन्त्रतापूर्वक पाप तो किया, पर मानव प्राणियों को परतंत्र बना दिया। इस प्रकार पाप मानव जाति का स्वाभाविक गुण बन गया है जो अन्य दुःखों का कारण है। ईश्वर-कृपा के अलावा मानव प्राणियों को इस पाप से कोई और मुक्त नहीं कर सकता। संक्षेप में, ऑगस्टाइन की नैतिक व्यवस्था में संकल्प-स्वतन्त्रता होते हुए भी, ईश्वर-कृपा सर्वोपरि है जिसके बिना किसी प्रकार की मुक्ति सम्भव नहीं।

□

6

सन्त टॉमस एक्विनास

(St. Thomas Aquinas : 1225-1274 A.D.)

एक्विनास का जन्म नेपल्स के पास एक उच्च कुल में हुआ था। उसकी शिक्षा-दीक्षा पेरिस एवं कोलोग्न में हुई। तत्पश्चात् उसने कोलोग्न, पेरिस, वोलोग्न, रोम तथा नेपल्स में अध्यापन कार्य किया। दर्शन और धर्मशास्त्र में उसकी बड़ी रुचि थी। विभिन्न यात्राओं एवं शिक्षण कार्यों के दौरान एक्विनास ने कैथोलिक विचारों को एक ऐसा प्रभावशाली रूप दिया जो पहले नहीं था। उसके मित्र उसे 'दैविक डाक्टर' कहा करते थे और पोप जॉन (xxii) ने उसे सन् 1313 में सन्त-सूची में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार मृत्युपरान्त एक्विनास को अपनी धार्मिक मान्यताओं का श्रेय प्राप्त हुआ। उसकी रचनाओं में मुख्य 'सम्मा थियोलॉजिया' है।

ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge)

एक्विनास के दार्शनिक आन्दोलन का लक्ष्य धार्मिक था। वह चाहता था कि जगत् की वौद्धिकता को ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया जाये। दर्शन और धर्म क्रमशः युक्ति और श्रुति पर निर्भर हैं। युक्ति की अपनी समस्या है। युक्ति द्वारा परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए श्रुति (Revelation) ही एकमात्र प्रमाण है जो परमार्थ के ज्ञान की ओर ले जाती है। किन्तु फिर भी दोनों का क्षेत्र बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दर्शन तथ्यों के आधार पर ईश्वर की ओर ले जाता है, जबकि धर्म ईश्वर से तथ्यों की ओर बढ़ता है। इस प्रकार एक्विनास ने दर्शन एवं अभिव्यक्त-धर्मशास्त्र में स्पष्ट भेद स्थापित किया जिसे पेरिस विश्वविद्यालय ने स्वीकार किया।

ज्ञान के क्षेत्र में एक्विनास अधिकांशतः अरस्तू का अनुकरण करता है। अरस्तू ने ज्ञान को तीन भागों में विभाजित किया। प्रथम इन्द्रियानुभव जिसके द्वारा हमें केवल विशेषों का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है। द्वितीय पदार्थ-ज्ञान जिसके द्वारा हम विशेषों में सामान्य की खोज करते हैं। तृतीय तत्त्वज्ञान जिसमें समस्त वौद्धिक ज्ञान सम्मिलित है। इसमें गणित तथा विशेष ज्ञान भी आता है। अरस्तू की मान्यता है कि धारणात्मक ज्ञान विशुद्ध ज्ञान होता है। लेकिन एक्विनास ने यह माना कि

धारणाओं का आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। बुद्धि में ऐसी कोई बात नहीं होती जो पहले इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में न हो।

एक्विनास के अनुसार, आत्मा के विभिन्न अंग होते है जैसे संवेदन, सक्रिय बुद्धि और साध्य बुद्धि (Sensation, Active Intellect and Potential Intellect), जिनके आधार पर आत्मा विभिन्न कार्य करती है। आत्मा विशेष वस्तुओं की प्रतियां इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण करती है। साध्य बुद्धि उन प्रतियों को स्पष्ट तथा बोधगम्य बनाती है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण की गई वस्तुओं की प्रतियों को एक्विनास इन्द्रिय-उपजातियाँ' (Sensible Species) और स्पष्ट प्रतियों को वह 'बोधगम्य उपजातियाँ (Intelligible Species) कहता है। बोधगम्य प्रति किसी वस्तु विशेष की प्रति नहीं है, बल्कि समस्त वस्तुओ के सामान्य गुणों की धारणा है। यदि इन गुणों का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता है तो मन धारणाओं का ज्ञान नहीं कर सकता। साध्य बुद्धि इन्हीं गुणों से धारणाओं का ज्ञान करती है जिनसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का परिचय होता है।

स्पष्टतः एक्विनास ने अपने ज्ञान के सिद्धान्त में प्रत्यक्षात्मक तथा धारणात्मक, विशेष एवं सार्वभौम, दोनों पक्षों को एक समन्वित रूप देने का प्रयास किया। वह चिन्तन के क्रियात्मक अथवा स्वाभाविक रूप पर भी बल देता है जो ज्ञान का पूर्वानुभव आधार है। मन पूर्व निर्धारित ढंग से ही कार्य करता है। ज्ञान मन में छिपा रहता है और जब मन संवेदन के द्वारा क्रियात्मक हो उठता है तब वह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। एक्विनास के अनुसार, संवेदन और सक्रिय बुद्धि की शक्तियाँ एक साथ काम करती हैं और इसलिए जो कुछ संवेदन से प्राप्त होता है उसमें निराकरण (Elimination) तथा अमूर्तकरण (Abstraction) की प्रक्रियायें की जाती हैं। इस प्रकार प्रत्ययों का अमूर्तकरण और उनके पहले संवेदनायें ज्ञान के आवश्यक तत्त्व हैं।

आत्मा पर बाह्य वस्तुओं की क्रिया के कारण, ज्ञान की कच्ची सामग्री जाग्रत हो जाती है जिसे मन के उच्च बौद्धिक अंग धारणात्मक ज्ञान में परिणित कर देते हैं। अतः एक्विनास के अनुसार, विशुद्ध ज्ञान अथवा विज्ञान का मूलाधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। आदमी वही जान सकता है जिसका उसे अनुभव हुआ हो। प्रत्येक दार्शनिक को अपना सिद्धान्त अनुभव से प्रारम्भ करना चाहिए ताकि वह सार-तत्त्व का ज्ञान कर सके। वह विज्ञान जिसमें सत्ता का अध्ययन किया जाना है, एक्विनास उसे तत्त्वज्ञान कहता है। तत्त्वज्ञान विशेष वस्तुओं में सामान्य विशेषताओं को छांटता है और तत्पश्चात् सार्वभौम की दृष्टि से उन पर विचार करता है। अतः विज्ञान वहीं हो सकता है। जहाँ विशेष वस्तुओं में से सामान्य गुणों को छाँटकर सार्वभौम का चिन्तन किया जाता है। एक्विनास यह भी मानता है कि प्रत्येक आध्यात्मिक प्राणी स्वतः एक उपजाति है। इन प्राणियों का कोई सार्वभौम प्रत्यय नहीं हो सकता। इसलिए उनके सम्बन्ध में विशुद्ध ज्ञान भी नहीं मिल सकता।

तत्वज्ञान (Metaphysics)

एक्विनास के अनुसार, सार्वभौम यथार्थ हैं। वे ही विज्ञान के उपयुक्त विषय हैं। लेकिन सार्वभौम की सत्ता विशेष वस्तुओं से स्वतन्त्र नहीं है। वे स्वतः विद्यमान इकाइयाँ नही हैं। एक और अनेक के समन्वित रूप में सार्वभौम और विशेष का अस्तित्व है। अरस्तू की भाँति एक्विनास यह भी मानता है कि सार्वभौम प्रत्यय अथवा विज्ञान ईश्वर के मन में अन्तर्निहित (Immanent) हैं और वस्तुओं के अमूर्त विचार मानव मन में भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार वे दैवी और मानवीय दोनों ही हैं।

अपने तत्वज्ञान में एक्विनास ने पुद्गल की सत्ता को स्वीकार किया। अरस्तू की भाँति वह मानता है कि प्रकृति पुद्गल और रूप दोनों की एकता है। प्रत्येक प्राणी का शरीर रूप और पुद्गल का एक संघात है। पुद्गल या द्रव्य से एक्विनास का तात्पर्य उस आधार से है जिसके कारण वस्तु वैसी है जैसी कि वह है। प्राकृतिक वस्तुएँ पुद्गल और रूप के कारण वैसी ही हैं जैसी वे हैं। रूप और पुद्गल के आधार पर एक्विनास प्राकृतिक व्यवस्था तथा प्रयोजन का ही विवेचन नहीं करता, बल्कि समस्त अनेकता अथवा वस्तुओं की भिन्नता का भी विश्लेषण करता है। पुद्गल व्यक्तिगत वस्तुओं की भिन्नता का सिद्धान्त है। विभिन्न वस्तुओं की अनेकता का कारण उनकी शारीरिक अथवा द्रव्यात्मक बनावट है। प्रत्येक शरीर में पुद्गल अपने-अपने ढंग से संगठित है। जहाँ तक मानव प्राणियों की अनेकता का प्रश्न है, आत्माएँ पृथक्-पृथक् शरीरों के साथ जुड़ी हुई हैं। सुकरात सुकरात है क्योंकि उसकी आत्मा एक विशेष शरीर से जुड़ी है। इसलिए सुकरात कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता।

एक्विनास यह भी मानता है कि उन रूपों के अतिरिक्त जो पुद्गल में अन्तर्निहित हैं, कुछ ऐसे रूप भी हैं जिनकी सत्ता पुद्गल से स्वतंत्र है। उनकी यथार्थता के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं। इन रूपों में विशुद्ध आध्यात्मिक प्राणी, देव तथा मानव आत्माएँ सम्मिलित हैं। वे विशुद्ध-विज्ञान-स्वरूप है। उनमें पुद्गल का मिश्रण बिल्कुल नहीं है। उनका व्यक्तित्व स्वतः उन्हीं का है।

ईश्वर की धारणा (Concept of God)

एक्विनास का तत्वज्ञान उसके धर्मशास्त्र का स्पष्टीकरण भी करता है। उसके अनुसार ईश्वर, विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है, वह विशुद्ध यथार्थता है ईश्वर का ज्ञान श्रद्धा से होता है। युक्ति द्वारा भी उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जिसे एक्विनास अपरोक्ष ज्ञान कहता है। ईश्वर का अस्तित्व उसके द्वारा जगत् की सृष्टि से प्रमाणित होता है। उसका अस्तित्व केवल अनुभवाश्रित-पद्धति से ही सिद्ध किया जा सकता है। एक्विनास एसेलम की तात्त्विक युक्ति को स्वीकार नहीं करता। वह उन युक्तियों को अधिक मान्यता देता है जिन्हें अरस्तू तथा ऑगस्टाइन जैसे दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया। ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए उसने अपनी ओर से चार तर्क इस प्रकार दिए—

(1) जगत् की गति तथा परिणाम के लिए एक स्वयंभू और अपरिणामी चतन कारण आवश्यक है । प्रत्येक कार्य अपने कारण की ओर संकेत करता है । अतएव किसी ऐसे प्रथम कारण में विश्वास करना अनिवार्य है जो गति प्रदान करता हो, पर स्वयं गतिहीन हो अन्यथा गतिशीलता के कारण का पता लगाना असंभव हो जायेगा । अरस्तू की भाँति एक्विनास इसी प्रथम कारण को ईश्वर मानता है । ईश्वर गति रहित होते हुए भी समस्त गति का मूल कारण है । वह समस्त वस्तुओं को चलायमान रखता है । इस प्रकार ईश्वर गतिरहित गतिदाता (Prime Mover) है ।

(2) प्राकृतिक वस्तुएँ तथा घटनाएँ आकस्मिकता मात्र हैं । उनकी सत्ता सम्भाव्य है । अतः ऐसा कोई आधार अनिवार्य है जो मात्र सम्भाव्य के साथ-साथ यथार्थ भी हो । वह निरपेक्ष तथा समस्त आकस्मिकता का मूलाधार भी हो । एक्विनास इसी आधार को ईश्वर मानता है । इस प्रकार ईश्वर सभी वस्तुओं का मूल कारण (First Cause) है । ऐसी ही युक्ति अरब दार्शनिक, अल-फरावी ने एक्विनास के पूर्व दी थी । प्रथम और द्वितीय दोनों ही युक्तियाँ संसृति विज्ञान (Cosmology) सम्बन्धी युक्तियाँ हैं जिनका कान्ट जैसे भावी दार्शनिकों ने भी प्रयोग किया ।

(3) समस्त अस्तित्व के अन्तर्गत वस्तुओं में स्तरीय श्रेष्ठता विद्यमान है । ऐसे सर्वोच्च रूप का होना अनिवार्य है जो पूर्ण हो और जिसकी ओर समस्त अपूर्ण वस्तुएँ उन्मुख होती हों । प्रथम कारण निरपेक्षतः पूर्ण होना चाहिए क्योंकि वह सभी वस्तुओं का मूल कारण है । अतः ईश्वर पूर्णतः निरपेक्ष और निरपेक्षतः पूर्ण (Perfect) है । इस युक्ति को ऑगस्टाइन ने अपने दर्शन में दिया था । इसी का प्रयोग सन्त एक्विनास ने यहाँ किया है । इसका अर्थ है कि जगत् की सभी वस्तुएँ विनाशशील हैं, पर उनका मूल कारण शाश्वत है । वह पूर्णतः सत् है ।

(4) प्रकृति एवं मानव समाज में प्रत्येक वस्तु अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है । अर्थात् इस दुनिया में प्रत्येक वस्तु कुछ प्राप्त करने का प्रयास कर रही है । लेकिन प्रत्येक क्रिया का मार्ग-दर्शन करने के लिए किसी बुद्धि की आवश्यकता है । इसी प्रकार इस उद्देश्य-मूलक विश्व का कोई महान् उद्देश्यदाता होना चाहिए । एक्विनास के अनुसार, वह उद्देश्यदाता ईश्वर है । अन्तिम दो युक्तियाँ प्रयोजनवादी (Teleological) हैं जिनका प्रयोग सामान्यतः ग्रीक दर्शन में कई विद्वानों ने किया है ।

एक्वीनास ईश्वर को प्रथम तथा अन्तिम कारण मानता है । ईश्वर विशुद्ध यथार्थता (शक्ति) है । वह निरपेक्ष बुद्धि है जिसमें समस्त चेतन तथा संकल्प सन्निहित हैं । ईश्वर ने अभाव (शून्य) से जगत् की रचना की । ईश्वर पुद्गल तथा रूप दोनों का कारण है क्योंकि वह प्रथम कारण है । इसलिए वह सर्वशक्तिमान है । ईश्वर विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है, विशुद्ध आत्मा है । उसमें पुद्गल का अंश मात्र भी नहीं है । इस दृष्टि से यह कहना कि पुद्गल का ईश्वर से उद्भव हुआ है जैसाकि प्लाटिनस ने स्वीकार किया असंभव है । ईश्वर ने अभाव से ही पुद्गल की

की। सृष्टि के पूर्व काल तथा दिक्नाम की कोई चीज नहीं थी। उनकी उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही हुई। यह जगत् ईश्वर की सर्वोत्तम संभव कृति है क्योंकि ईश्वर सर्वोत्तम शुभ संकल्प ही करता है। जगत् की रचना-प्रक्रिया में ईश्वर का उद्देश्य अपने आप को विविध संभव रूपों में अभिव्यक्त करना है। अतः अस्तित्व के हर संभव स्तर की रचना ईश्वर द्वारा संभव है।

नीति-सिद्धान्त (Ethical Theory)

एक्विनास का नीति-सिद्धान्त अरस्तू के तथा ईसाई विचारों के समन्वय का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् अरस्तू के नीतिविज्ञान का ईसाईकरण हमें एक्विनास के नैतिक दर्शन में मिलता है। एक्विनास ईश्वर के चिन्तन को ही मानव जीवन का सर्वोत्तम नैतिक लक्ष्य मानता है जैसाकि अरस्तू ने स्वीकार किया। एक्विनास के अनुसार. ईश्वर का ज्ञान सर्वोच्च शुभ है जिसे अन्तर्बोध द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परमानन्द सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रेम परमानन्द साहचर्य है क्योंकि मनुष्य ईश्वर का चिन्तन ईश्वर को प्रेम किये बिना नहीं कर सकता। सर्वोच्च ज्ञान या परमानन्द भावी जीवन में ही संभव हो सकता है। एक्विनास उसे अनुभवातीत अथवा अतिप्राकृतिक शुभ कहता है।

ईश्वर ने प्रकृति. देवों तथा मानव आत्माओं की रचना की। देव विशुद्ध अभौतिक आत्माएँ हैं। प्राकृतिक वस्तुओं का निर्माण पुद्गल से हुआ है, जबकि मनुष्य में विशुद्ध आत्मा तथा पुद्गल दोनों हैं। आत्मा शरीर का प्राणमूलक सिद्धान्त है जिसमें तीन प्रकार की कार्यक्षमताएँ मिलती हैं-गतिशील क्रिया. संवेगात्मक क्रिया और बौद्धिक क्रिया। एक्विनास के अनुसार, आत्मा अमर है जिसे सार्वभौम ज्ञान प्राप्त होता है। जो सार्वभौम है वह अभौतिक है। अतएव आत्मा अभौतिक है और शरीर से पृथक् होने पर भी नष्ट नहीं होती। आत्मा का विनाश नहीं होता क्योंकि प्राण सदैव विद्यमान रहता है। मानव अपने इस सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके ईश्वर के स्वरूप की अनुभूति कर सकता है।

ईश्वर ने प्रत्येक प्राणी के लिये पहले से ही लक्ष्य निर्धारित कर दिया है। वह लक्ष्य ईश्वर ने नित्य-विज्ञान (सार्वभौम प्रत्यय) तथा नित्यानन्द की अनुभूति है। सब दृष्टि से ईश्वर ही सर्वोच्च शुभ है। वह मंगलमय है। अरस्तू की भाँति एक्विनास यह मानता है कि आदमी का परम लक्ष्य अथवा परमानन्द अपनी सच्ची आत्मानुभूति करना है। जो बुद्धिमान नहीं हैं वे इन्द्रियमूलक विषयों में ग्रस्त रहते हैं और जो बौद्धिकता से ओत-प्रोत हैं वे आत्मानुभूति के लिए स्वयं प्रयत्नशील रहते हैं। बुद्धिमान लोगों में चिन्तन क्रिया प्रधान होती है। चिन्तन सर्वोच्च क्रिया है क्योंकि उसका मूल विषय ईश्वर ही होता है। अतः पूर्णता अथवा परमानन्द ईश्वर-ज्ञान में ही मिल सकता है। ईश्वर-ज्ञान बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है। चूंकि सभी मानव प्राणी बौद्धिक चिन्तन नहीं कर पाते इसलिये उन्हें श्रद्धा, विश्वास या आस्था

पर ही निर्भर रहना चाहिए। सर्वोच्च ज्ञान अनुभूति-ज्ञान होता है जिसे भावी जीवन में ही प्राप्त किया जा सकता है। एक बार प्राप्त होने पर ऐसा ज्ञान चिरकाल तक बना रहता है। यही ज्ञान नित्यानन्द है जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

एक्विनास के अनुसार, नैतिक कर्म आदमी की स्वतन्त्र इच्छा (Free-Will) का परिणाम है। किसी कर्म का शुभाशुभ होना उसके लक्ष्य, कर्ता की भावना तथा परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परन्तु इन सब बातों को बुद्धि के अनुकूल होना चाहिए क्योंकि बुद्धि मानव व्यवहार का सिद्धान्त है। अर्थात् नैतिक आचरण वह है जो ईश्वर की बुद्धि के नियमानुसार है। ईश्वर का नियम स्वेच्छाचारी नहीं है। वह सदा शिव तथा मंगलकारी होता है। ईश्वर का नियम शुभ संकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः शुभ कर्म वही है जिसमें शुभ संकल्प अन्तर्निहित है। एक्विनास यह नहीं मानता कि साधनों का औचित्य साध्य पर ही निर्भर होता है। आत्मा की मूल प्रवृत्तियाँ सदैव ही अशुभ नहीं होतीं। जब वे बुद्धि के नियमों का अतिक्रमण करती हैं तब अशुभ बन जाती हैं।

एक्विनास के नीति-सिद्धान्त में सद्गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके अनुसार, कोई भी सद्गुण जन्मजात नहीं होता। सद्गुण आचरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु ये सब अर्जित सद्गुण केवल अपूर्ण आनन्द देते हैं। नित्यानन्द प्राप्त करने के लिए, ईश्वर-कृपा की आवश्यकता होती है। सदाचरण द्वारा प्राप्त सद्गुण इसलिए अपूर्ण होते हैं क्योंकि उनका अस्तित्व इसी जीवन तक सीमित होता है। ऐसे भी परा-प्राकृतिक सद्गुण है जिन्हें ईश्वर द्वारा मानव प्राणियों में अभिव्यक्त किया जाता है। ये हैं–आस्था, आशा और दान। इनके बिना जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। समस्त सद्गुणों में अनुप्राणित सद्गुण प्रेम है। प्रेम ही पूर्ण सद्गुण का रूप है। उसी के द्वारा ईश्वर प्राप्ति संभव है। प्रेम ही एक ऐसी स्थिति है जो ईश्वर के प्रति समर्पित होकर जीवन को अर्थपूर्ण बनाती है।

सद्गुण चिन्तनशील जीवन की ओर ले जाते हैं। चिन्तनशील जीवन ही सच्चा नैतिक जीवन है। अर्थात् चिन्तनयुक्त, ध्यानावस्था ही सार्थक जीवन है। वही परमानन्द की स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त हो जाती है और विशुद्ध ध्यानात्मक चिन्तन में लीन हो जाती है। व्यावहारिक जीवन अपूर्ण होता है क्योंकि उसमें सांसारिक प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं, जबकि चिन्तनशील जीवन पूर्णतः ईश्वरानुराग है। ईश्वर परमानन्द है। वही मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। परमानन्द की प्राप्ति का सीधा एवं सुरक्षित मार्ग सांसारिक वस्तुओं तथा सुखों का पूर्ण परित्याग है। निर्धनता, ब्रह्मचर्य तथा आज्ञाकारिता ऐसे गुण हैं जो पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हैं। आदर्श पुरुष वह नहीं जो मात्र बुद्धिमान है बल्कि वह है जो ईश्वर प्रेम से ओत-प्रोत है और अपने को पूर्णतः ईश्वर के प्रति समर्पित कर चुका है। अतएव पवित्र ईश्वर-प्रेमी पुरुष आदर्श व्यक्ति है।

ऑगस्टाइन की भाँति, एक्विनास ने यह स्वीकार किया कि अशुभ शुभ का अभाव अथवा क्षय है। जब तक मानव प्राणी अपने स्वभाव के अनुकूल कार्य करते हैं उनसे अशुभ नहीं होता और जब वे दोषयुक्त क्रिया करते हैं अथवा उनके शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं तब अशुभ कार्य उत्पन्न होते हैं। अशुभ दोषपूर्ण संकल्प के कारण पैदा होता है। जब बुद्धि में निर्देशन की कमी होती है और ईश्वरीय नियम का उल्लंघन किया जाता है तब अशुभ उत्पन्न होता है। एडम के पाप के कारण समस्त मानव जाति में पाप का संचारण हो गया। फलतः सब लोगों में स्वभावतः पाप अन्तर्निहित हो गया। इसलिए समस्त मानव जाति भ्रष्ट है। केवल ईश्वर-कृपा ही मानव को इस पाप से मुक्त कर सकती है। ईश्वर ने आदमी को स्वातन्त्र्य प्रदान किया और यदि वह परमानन्द की ओर उन्मुख न हो तो यह उसका उत्तरदायित्व है। संक्षेप में, केवल ईश्वर-कृपा से ही अशुभ को दूर किया जा सकता है। ईश्वर यह जानता है कि केवल कुछ लोग ही मुक्ति के अधिकारी हैं क्योंकि अन्य लोग इस जीवन में पाप करते हुए अशुभ को बढ़ाते हैं। ईश्वर ने इसी कारण दण्ड की व्यवस्था की। जो अशुभ करेगा उसे दण्ड मिलेगा और जो शुभ करेगा वह मुक्ति का अधिकारी होगा।

□

तृतीय भाग

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक

(ADHUNIK PASHCHATYA DARSHNIK)

7. रेने देकार्त (Rene Descartes)
8. बेनेडिक्ट स्पिनोजा (Benedict Spinoza)
9. गॉटफ्राइड विल्हेल्म लाइबनित्ज (Gottfried Wilhelm Leibnitz)
10. जॉन लॉक (John Locke)
11. जार्ज बर्कले (George Berkeley)
12. डेविड ह्यूम (David Hume)
13. इमैनुएल कान्ट (Immanuel Kant)
14. जार्ज विल्हेलम हेगेल (George Wilhelm Hegel)
15. कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

7

रेने देकार्त

(Rene Descartes : 1596–1650)

देकार्त का जन्म फ्रांस के टूरेन नामक नगर में हुआ था। कुछ ही दिनों बाद उसकी माता का क्षय रोग से देहान्त हो गया। एक दाई ने उसका लालन-पालन किया। आठ वर्ष की आयु में देकार्त को स्कूल में भर्ती किया गया। स्कूल छोड़ने के पश्चात् वह सन् 1612 में पेरिस चला गया जहाँ वह बुरी संगत में पड़ गया। शराब पीने तथा जुआ खेलने में उसकी रुचि बढ़ गई। उसका प्रिय विषय गणित था। अतएव जुआ में वह संयोग पर विश्वास नहीं करता था। धीरे-धीरे उसकी प्रवृत्ति भ्रमण की ओर झुकी और दो वर्षों में उसने सैनिक के रूप में अनेक देशों को देखा। एक ओर विलासिता तथा दूसरी ओर सैनिक जीवन से वह ऊब गया। अत: देकार्त पुनः अध्ययन में लग गया। गणित तथा खगोलविद्या में उसने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसे अधिक पढ़ने का शौक नहीं था, पर शान्तपूर्ण वातावरण में चिन्तन-मनन करना वह पसन्द करता था। वह स्थाई रूप से हॉलैण्ड में ही बस गया। दर्शन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए, स्वीडन की रानी क्रिस्टीना ने उसे आमंत्रित किया और वह स्वीडन गया। वह प्रात: पाँच बजे रानी को दर्शन पढ़ाया करता था। स्वीडन की सर्दी देकार्त को माफिक नहीं पड़ी। वहीं उसका देहान्त हो गया। वह अच्छे वस्त्रों में रहता और साथ में सदैव एक तलवार रखता था। वह आजीवन अविवाहित रहा।

वह महान् दार्शनिक, गणितज्ञ तथा विज्ञान-प्रेमी था। उसे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक माना जाता है क्योंकि देकार्त ने दर्शन के क्षेत्र में बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद, वैज्ञानिकता तथा विचार-स्वातंत्र्य को प्रमुख स्थान दिया। उसके प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ ये हैं – दार्शनिक पद्धति पर विचार-विमर्श (डिस्कोर्स डी ला मेथड); प्राथमिक दर्शन की साधना (मेडिटेशन्स डी प्राईमा फिलॉसोफिया) और दर्शन के सिद्धान्त (प्रिन्सिपिया फिलॉसोफी)। इन ग्रन्थों में नवीन युग की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। गणितज्ञ तथा बुद्धिवादी होने के नाते, देकार्त ने दार्शनिक क्षेत्र में नई अध्ययन-विधि की स्थापना की जिसका भावी चिन्तन पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

पद्धति और ज्ञानशास्त्र (Method and Epistemology)

देकार्त दर्शन के क्षेत्र में निष्पक्ष एवं तटस्थ भाव से चिन्तन करना चाहता था। बेकसन की भाँति उसने दृढ़तापूर्वक प्राचीन प्रभुत्व का विरोध किया। देकार्त शास्त्रीयवाद (Scholasticism) से अपने को मुक्त नहीं कर पाया, पर दर्शन को नवीन आधार अवश्य प्रदान किया। उसने देखा कि विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में मध्यकालीन दार्शनिकों में इतना अधिक मतभेद था कि वे किसी भी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते थे। देकार्त ने दर्शन के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया। मनुष्य अपने जीवन के आचरण के विषय में, अपना स्वास्थ्य बनाये रखने और सब कलाओं की खोजों के सम्बन्ध में जो कुछ जान सकता है, दर्शन उसका पूर्ण ज्ञान है। देकार्त बुद्धिवादी (Rationalist) था। उसने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों (Empiricists) को अपने दर्शन में महत्त्व नहीं दिया। उसने गणित को दार्शनिक पद्धति का आधार बनाया और कहा कि दार्शनिक मत का प्रतिपादन करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसमें गणित जैसी निश्चितता एवं स्पष्टता (Certainty and distinctness) का होना परमावश्यक है ताकि ठोस निष्कर्षों पर पहुँचा जा सके।

देकार्त का उद्देश्य ऐसे निश्चित सिद्धान्तों अथवा स्वयं-सिद्ध सत्यों (Self-evident truths) के समूह की खोज करना था जिन्हें सामान्य दृष्टिकोण तथा बुद्धि के आधार पर स्वीकार किया जा सके। शास्त्रीय एवं अन्य दार्शनिक ऐसा स्पष्ट तथा निश्चित ज्ञान देने में असफल रहे। असंदिग्ध ज्ञान की अनुपलब्धि का मूल कारण यह था कि दर्शन को धर्मशास्त्र के अधीन बना रखा था। देकार्त ने यह देखा कि दर्शन में ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर विवाद न हो। अतएव दोषयुक्त तथा अबौद्धिक विचारों से मुक्त होने के लिए उसने यह आवश्यक समझा कि ज्ञान-मीमांसा की नयी नींव की प्रतिष्ठापना की जाये। यदि कोई व्यक्ति तर्कवाक्यों के आधार पर स्वतः तार्किक निर्णय नहीं दे सकता तो वह प्लेटो तथा अरस्तू की समस्त रचनाओं का मनन करने के पश्चात् भी दार्शनिक नहीं बन सकता। अन्य विद्वानों की राय जानना विज्ञान नहीं है। वह इतिहास है। आदमी को स्वतः अपने चिन्तन को विकसित करना चाहिए और साथ ही अपने पूर्वाग्रहों से सावधान रहना चाहिए।

स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान के लिए, कौनसी पद्धति का अनुसरण करना चाहिए? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। देकार्त के अनुसार, हमें गणित से शिक्षा लेनी चाहिए। गणित ही एक ऐसा विपय है जिसमें निश्चित एवं स्वयं-सिद्ध युक्ति-वाक्य मिलते हैं। दो-दो मिलकर चार होते हैं अथवा किसी त्रिभुज के कोणों का जोड़ 180°के बराबर होता है। ये बातें निर्विवाद हैं। यदि दर्शन में ऐसे स्वयं-सिद्ध सिद्धान्तों की खोज करली जाये तो अनेक वाद-विवादों तथा अन्तर्द्वन्द्वों का अन्त हो सकता है। गणित में कुछ ऐसे स्वयं-सिद्ध सिद्धान्त होते हैं जिन्हें हर व्यक्ति मानता और समझता है।

इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अन्य तर्क वाक्यों का अवतरण किया जाता है। ये अवतरित वाक्य पूर्व स्वयं-सिद्ध सिद्धान्तों के समान स्पष्ट एवं निश्चित होते हैं बशर्ते कि अवतरण में कोई दोष न किया गया हो। इस प्रकार गणित में हम साधारण तर्क-वाक्यों से प्रारम्भ होकर जो स्वयं-सिद्ध होते हैं, मिश्रित अथवा जटिल युक्ति-वाक्यों तक पहुँच जाते हैं। यह पद्धति संश्लेषणात्मक (Synthetic) अथवा निगमनात्मक (Deductive) कहलाती है।

देकार्त ने निगमनात्मक पद्धति को ही दर्शन में उपयोगी बनाने पर बल दिया। दार्शनिक को बिल्कुल निश्चित, स्पष्ट तथा स्वयं-सिद्ध सिद्धान्तों को लेकर आगे बढ़ना चाहिए। उन्हीं के आधार पर अज्ञात सत्यों का अन्वेषण करना चाहिए। परम्परागत तथा शास्त्रीय दर्शनों में ऐसे सिद्धान्त नहीं मिल सकते क्योंकि उनमें विरोधात्मक विचारों की भरमार है। दूसरों के प्रभुत्व पर भी आश्रित नहीं रहा जा सकता। व्यक्ति को स्वयं चिन्तन करना चाहिए। जब तक कोई बात स्पष्ट तथा विशिष्ट न हो, उसे स्वीकार न किया जाये। व्यक्ति को उन पक्षपातों तथा विश्वासों से सावधान एवं मुक्त होना चाहिए जिन्हें माता-पिता और शिक्षकों ने थोप दिया है क्योंकि आज वे दोषयुक्त सिद्ध हो चुके हैं।

हम अपने इन्द्रिय संवेदनों पर भी विश्वास नहीं कर सकते क्योंकि वे प्रायः धोखा देते हैं। फिर भी यह कैसे जाना जाये कि संवेदन वास्तविकता प्रस्तुत करते हैं? क्या आदमी को यह विश्वास नहीं कि उसका शरीर एवं क्रियाएँ यथार्थ हैं? देकार्त कहता है : 'नहीं'। हम उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं कर सकते। इनसे भी धोखा होता है। यहाँ देकार्त उस पद्धति की व्याख्या को लेकर चलता है जिसे आज 'कार्टीसियन पद्धति' कहा जाता है। दर्शन को सुदृढ़ बनाने के लिए, देकार्त ने हरेक वस्तु पर सन्देह प्रकट किया। वस्तुओं के संवेदनों के विषय में असंदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार देकार्त ने अपने सन्देहवाद (Scepticism) को इन्द्रिय संवेदनों से प्रारम्भ किया जिसका अन्यत्र भी प्रयोग किया गया।

देकार्त के अनुसार, स्वप्नों (Dreams) में जो कुछ घटित होता है वह यथार्त लगता है। किन्तु वस्तुतः वह धोखा है। वर्तमान क्षणों में वस्तुतः यह नहीं कहा जा सकता कि हम जागृति की स्थिति में हैं अथवा स्वप्नावस्था में हैं। न जाने यह जगत् मनस् के अन्दर है अथवा उसके बाहर। गणित की क्रियाओं पर भी सन्देह प्रकट किया जा सकता है क्योंकि गणित में भी लोगों को भूल करते हुए देखा है। वे उन बातों को मान लेते हैं जो सर्वथा दोषयुक्त हैं। यह भी हो सकता है कि सर्व शक्तिमान ईश्वर ने हमें ऐसा ही बनाया हो कि हम जिन चीजों को अपनी दृष्टि से अच्छी समझते हों वहाँ भी सदैव धोखा ही खाते हों। इस प्रकार समस्त वस्तुओं की सत्ता के बारे में सन्देह हो सकता है। देकार्त स्वयं यह कहता है—

"तब कोई ऐसा प्रत्यय नहीं है जो मुझे निश्चित एवं स्पष्ट लगता हो। अत-एव मैं यह समझता हूँ वे सब वस्तुएँ जिन्हें मैं देखता हूँ, दोषपूर्ण हैं। मैं यह भी मान सकता हूँ कि मेरे समक्ष मेरी स्मृति ने जिन बातों को उपस्थित किया है उनमें कोई सत्य न हो। मैं समझता हूँ कि मेरे इन्द्रियाँ नहीं हैं। मुझे विश्वास है कि पदार्थ, आकृति, विस्तार, गति आदि मेरे मनस् की कल्पनाओं के सिवाय और कुछ नहीं हैं। तब वह क्या रह जाता है जिसे सत्य कहा जाये? केवल यही ठीक लगता है कि जगत् में कुछ भी निश्चित नहीं है।"[1]

उपर्युक्त व्यापक सन्देह (Doubt) जिसे देकार्त ने सभी वस्तुओं के प्रति प्रकट किया 'कार्टीसियन पद्धति' (Cartesian Method) की मूल विशेषता है। किन्तु जैसाकि वह कहता है एक बात बिल्कुल निश्चित है कि "मैं सन्देह (या विचार) करता हूँ–Cogito-Ergo Sum," इस कथन की सत्यता में कोई सन्देह नहीं कर सकता। शरीर है, यह भ्रम हो सकता है। किन्तु विचार या सन्देह करना भिन्न है। यह कहना एक अन्तर्विरोध होगा कि जिस क्षण कोई चिन्तन करता है उस क्षण उसका अस्तित्व न हो। देकार्त 'स्वयं की सत्ता' को सिद्ध करने के लिए, अनुभव का सहारा नहीं लेता। वह तार्किक ढंग से यह प्रमाणित करना चाहता है कि 'सन्देह' सन्देहकर्त्ता की ओर संकेत करता है। अर्थात् चिन्तन चिन्तक का सूचक है। इस प्रकार देकार्त एक ऐसे सिद्धान्त के निष्कर्ष पर पहुँचता है जिसे वह स्वयं-सिद्ध समझता है। सन्देह का अर्थ चिन्तन करना है और चिन्तन का अर्थ अस्तित्व है। अस्तु, "मैं चिन्तन करता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है : Cogito, ergo Sum : I think, therefore, I exist. देकार्त इस सिद्धान्त को बिल्कुल स्पष्ट एवं निश्चित मानता है। कोई गम्भीर सन्देहवादी भी इस तथ्य की स्वीकृति से इन्कार नहीं कर सकता। देकार्त के दर्शन का यह प्रथम स्वयं-सिद्ध युक्ति वाक्य है। यही उसकी ज्ञान-मीमांसा का मूलाधार भी है। इसी को वह तत्व-मीमांसा का प्रारम्भिक बिन्दु मानता है।

अब यह स्पष्ट है कि देकार्त की दार्शनिक पद्धति सन्देह की पद्धति है। किन्तु वह ह्यूम की भाँति नितान्त सन्देहवादी नहीं है। वह पूर्णतः बुद्धिवादी है जो अनुभव का सहारा न लेकर, बुद्धियुक्त तर्क को प्रधानता देता है। उसके लिए सन्देह साध्य नहीं है। केवल साधन मात्र है। सत्य सदैव स्पष्ट एवं निश्चित होता है, हालाँकि स्पष्टता तथा निश्चितता प्राप्त करने के लिये सन्देह अनिवार्य है। अतएव सन्देह ज्ञान का स्रोत है। दार्शनिक चिन्तन में पूर्व-मान्यताओं तथा पक्षपातों से रहित होना आव-श्यक है ताकि ठीक-ठीक सत्यान्वेषण हो सके। प्लेटो ने कहा कि "ज्ञान का उद्गम आश्चर्य है।" शास्त्रीय चिन्तकों ने "ज्ञान का उद्गम विश्वास" में बतलाया। परन्तु

---

1. Meditation II Collection : Philosophic Classic-Bacon to Kant– (Descartes) Ed. Walter Kauffmann, p.37.

देकार्त ने कहा कि "ज्ञान का उद्‌गम सन्देह है।" देकार्त की पद्धति में सन्देह होते हुए भी वह सन्देहवादी नहीं है। सन्देह उसके दर्शन का प्रारम्भ है, अन्त नहीं।

सन्देह की विधि से प्रारम्भ होकर देकार्त मानव बौद्धिक आत्मा की यथार्थता सिद्ध करता है। उसने आत्मा की पुष्टि के लिए बौद्धिक युक्तियाँ दीं। यही उसके ज्ञान-सिद्धान्त का मूलाधार है। 'मैं' की सत्ता इस तथ्य से अवतरित की गई कि 'मैं' विचार करता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है।" चिन्तन के क्षणों में अस्तित्व निर्विवाद होता है। यदि चिन्तन न हो तो व्यक्ति के अस्तित्व का प्रमाण मिलना असम्भव होगा। 'मैं' वह चीज है जो सोचती है। वह एक ऐसा द्रव्य है जिसका स्वभाव ही विचार करना है। उसकी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए, किसी अन्य भौतिक आधार की कोई आवश्यकता नहीं है। अत: 'मैं' जिसे देकार्त आत्मा (Soul) कहता है भौतिक वस्तु अर्थात् शरीर से बिल्कुल भिन्न है। आत्मा की सत्ता शरीर से स्वतंत्र है। यहाँ प्रश्न है कि मैं (आत्मा) इतना स्वत: प्रमाणित क्यों है? देकार्त का कहना है कि ऐसा इसलिए है कि आत्मा स्पष्ट तथा विशिष्ट है। इसी को वह अपनी ज्ञान-मीमांसा का सामान्य नियम बना लेता है अर्थात् "समस्त वस्तुएँ जिनको हम बहुत स्पष्टत: एवं बहुत विशिष्टतापूर्वक समझते हैं, सत्य हैं।"

यह ज्ञात रहे कि देकार्त ने 'चिन्तन' (Thinking) शब्द का प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थ में किया है। चिन्तन का अर्थ है सन्देह करना, समझना, धारणा बनाना, स्वीकार, अस्वीकार करना, संकल्प करना, कल्पना करना तथा वेदना का अनुभव होना। वह वेदना जो स्वप्नों में होती है चिन्तन का ही एक रूप है। चिन्तन ही आत्मा का मुख्य लक्षण है। चेतन रूप आत्मा स्वयं-सिद्ध है। उसके लिए किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा का स्वरूप (Nature of Soul)

देकार्त की पद्धति तथा ज्ञान-सिद्धान्त से आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है। आत्मा तथा मन एक ही हैं, पर आत्मा शरीर से भिन्न है। देकार्त मन तथा पुद्‌गल दो भिन्न और स्वतन्त्र परम तत्त्व मानता है जिनमें परस्पर विरोधी गुण होते हैं। इनमें से मन तत्त्व आत्मा है जो क्रियाशील तथा चेतन है। आत्मा चिन्तनशील द्रव्य है। सोचना, विचार करना, कल्पना या इच्छा करना आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इस प्रकार के गुण आदमी में पाये जाते हैं। इसलिए केवल मनुष्यों में ही आत्माएँ हैं। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है आत्मा स्वयं-सिद्ध तथा स्वतन्त्र है। आत्मा यांत्रिक नियमों के अधीन नहीं है। आत्मा मुक्त, चेतन, सरल, अविभाज्य, शाश्वत, अभौतिक और शरीर से पूर्णतया भिन्न द्रव्य है। जानना, इच्छा तथा अनुभूति करना, आत्मा की ही विभिन्न क्रियाएँ हैं। आत्मा में किसी प्रकार का विस्तार नहीं होता वह देशकालातीत है। वह गतिशील, स्पष्ट तथा विशिष्ट है।

देकार्त का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त किसी प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित नहीं है। वह उसकी सत्ता बौद्धिक युक्तियों द्वारा सिद्ध करता है। वह सन्देह की प्रक्रिया में आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करने का प्रयास करता है। अस्तु, देकार्त सन्देह से प्रारम्भ होकर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मैं चिन्तन करता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है। चिन्तन ही मेरे अस्तित्व का प्रमाण है। अतः चिन्तन ही आत्मा का मुख्य लक्षण है। जहाँ तक आत्मा के निवास-स्थान का प्रश्न है, देकार्त स्वयं कहता है : "तब हमें यह यहाँ सोचना चाहिए कि आत्मा उस छोटी ग्रन्थि में मुख्य स्थिति रखती है जो कि मस्तिष्क के मध्य में विद्यमान है और यहीं से वह शेष शरीर में प्रकाशित होती है।" आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध है ? देकार्त के सम्मुख यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसका उत्तर वह आगे चलकर देता है।

आत्मा, देकार्त के अनुसार, चेतन द्रव्य है और मन से भिन्न नहीं है। आत्मा अनेक शक्तियों का समूह न होकर अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करने वाला एक सिद्धान्त है। आत्मा ही अनुभव, तर्क तथा संकल्प करती है। देकार्त ने आत्मा के दो पक्ष सक्रिय और निष्क्रिय, बतलाये जिन्हें वह क्रमशः आत्मा की क्रियाएँ तथा भाव कहता है। आदमी के संकल्प और ऐच्छिक कार्य आत्मा की क्रियाएँ हैं जो आत्मा पर ही निर्भर हैं। मनुष्य संकल्प, ईश्वर-प्रेम, शुद्ध बौद्धिक क्रिया करने अथवा अपना काल्पनिक संसार बनाने में स्वतन्त्र है। संवेदन, उनकी प्रतिमूर्तियाँ, इच्छाएँ, दुःख,गर्मी-सर्दी तथा अन्य शारीरिक अनुभूतियाँ आत्मा के भाव हैं जिनका बाह्य पदार्थों या शरीर से सम्बन्ध होता है। सक्रिय अवस्थाएँ सर्वथा आत्मा के अधिकार में हैं और शरीर से अप्रत्यक्ष रूप से ही परिवर्तित हो सकती हैं। निष्क्रिय अवस्थायें अपने शारीरिक कारणों पर निर्भर हैं और आत्मा से अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित की जा सकती हैं। अन्य अवस्थाएँ भी होती हैं जिनका प्रभाव आत्मा में दिखाई पड़ता है। ये हर्ष, क्रोध आदि की भावनायें हैं जो सही अर्थ में भाव (Passions) हैं। वे आत्मा के प्रत्यक्ष, भावनाएँ अथवा मनोवेग हैं जिन्हें हम आत्मा में आरोपित करते हैं। इन भावों का मुख्य कार्य आत्मा को उन बातों का संकल्प कराना है जिनके लिए वे शरीर को तैयार करते हैं। भावों का तात्कालिक कारण प्राण की गतिशीलता है जो शीर्ष-ग्रन्थि को उत्तेजित करती है। परन्तु वे कभी-कभी आत्मा की सक्रियता द्वारा भी उत्पन्न हो सकते हैं जो किसी न किसी वस्तु

घृणा तथा दुःख से मुक्ति की इच्छा करती है । शुभ तथा अशुभ मुख्यतः आत्मा के आन्तरिक मनोवेगों पर निर्भर हैं जो आत्मा द्वारा ही उत्तेजित होते हैं । जब तक आत्मा के अन्तर्गत उसे संतुष्ट करने वाली अवस्थाएँ रहती हैं तब तक बाह्य बातों से आघात नहीं पहुँचता । अतः आन्तरिक संतोष को पाने के लिए सद्‌गुणों का अनुसरण करना अनिवार्य है । आत्मा का नैतिक आदर्श बाह्य प्रभावों तथा आघातों से अपने को स्वतन्त्र रखना है ।

सत्य और भ्रम (Truth and Error)

यदि देकार्त की इस सामान्य कसौटी को स्वीकार कर लिया जाये कि "वह बात सत्य है जो स्पष्ट एवं विशिष्ट है ।" तो यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है : भ्रम कैसे उत्पन्न हो जाता है ?

देकार्त के अनुसार, स्पष्ट तथा विशिष्ट बात सत्य होती है । मेरा अस्तित्व है, यह बात स्पष्ट एवं निश्चित है । अतः वह सत्य है । प्रत्येक बात का कारण होता है । कारण में कार्य के बराबर पूर्णता होती है । ईश्वर की सत्ता है । वह पूर्ण है । वह हमें कभी भ्रम में नहीं डाल सकता । फिर भी आदमी को भ्रम क्यों होता है ? प्रथम, ईश्वर ने सत्यासत्य विवेक की शक्ति जो मानव प्राणी को प्रदान की है, वह सीमित है । सीमित होने के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है । द्वितीय, भ्रम की घटना दो कारणों के एक साथ घटने से होती है । ज्ञान-क्रिया एवं चुनाव-क्रिया अथवा बुद्धि एवं संकल्प के साथ-साथ होने के कारण भ्रम पैदा होता है । मैं केवल बुद्धि के द्वारा ही किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता, अपितु प्रत्ययों को भी ग्रहण करता हूँ । उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय दे सकता हूँ । इसमें कोई भ्रम नहीं हो सकता । संकल्प भी भ्रम का स्रोत नहीं है । संकल्प पूर्ण होता है जिसमें स्वतः भ्रम नहीं हो सकता । जब संकल्प किसी वस्तु के विषय में स्पष्टता या विशिष्टता के बिना, कोई निर्णय देता है, तब भ्रम पैदा हो जाता है । संकल्प शक्ति जब शुभ के स्थान पर अशुभ, सत्य के स्थान पर असत्य का, चुनाव कर लेती है तब भ्रम तथा पाप (Illusion and Sin) उत्पन्न होता है ।

जन्मजात प्रत्यय (Innate Ideas)

देकार्त का मुख्य लक्ष्य यही है कि स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जाए । निश्चितता सत्य का अनिवार्य गुण है जिसे स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है । परन्तु देकार्त के अनुसार, निश्चित ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियाँ मनुष्य को यह नहीं बतला सकतीं कि वस्तुएँ स्वतः क्या हैं । कोई वस्तु यथार्थ रूप में क्या है ? यह चिन्तन के द्वारा ही जाना जा सकता है जो स्पष्ट तथा विशिष्ट हो । देकार्त कहता है कि यदि हमें निश्चित ज्ञान इन्द्रियानुभव से नहीं मिल सकता और यदि विशुद्ध ज्ञान मौलिक सिद्धान्तों या धारणाओं से मिलता है तो ये सिद्धान्त स्वयं मन ने

देकार्त का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त किसी प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित नहीं है। वह उसकी सत्ता बौद्धिक युक्तियों द्वारा सिद्ध करता है। वह सन्देह की प्रक्रिया में आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करने का प्रयास करता है। अस्तु, देकार्त सन्देह से प्रारम्भ होकर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मैं चिन्तन करता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है। चिन्तन ही मेरे अस्तित्व का प्रमाण है। अतः चिन्तन ही आत्मा का मुख्य लक्षण है। जहाँ तक आत्मा के निवास-स्थान का प्रश्न है, देकार्त स्वयं कहता है : "तब हमें यह यहाँ सोचना चाहिए कि आत्मा उस छोटी ग्रन्थि में मुख्य स्थिति रखती है जो कि मस्तिष्क के मध्य में विद्यमान है और यहीं से वह शेष शरीर में प्रकाशित होती है।" आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध है ? देकार्त के सम्मुख यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसका उत्तर वह आगे चलकर देता है।

आत्मा, देकार्त के अनुसार, चेतन द्रव्य है और मन से भिन्न नहीं है। आत्मा अनेक शक्तियों का समूह न होकर अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करने वाला एक सिद्धान्त है। आत्मा ही अनुभव, तर्क तथा संकल्प करती है। देकार्त ने आत्मा के दो पक्ष सक्रिय और निष्क्रिय, बतलाये जिन्हें वह क्रमशः आत्मा की क्रियाएँ तथा भाव कहता है। आदमी के संकल्प और ऐच्छिक कार्य आत्मा की क्रियाएँ हैं जो आत्मा पर ही निर्भर हैं। मनुष्य संकल्प, ईश्वर-प्रेम, शुद्ध बौद्धिक क्रिया करने अथवा अपना काल्पनिक संसार बनाने में स्वतन्त्र है। संवेदन, उनकी प्रतिमूर्तियाँ, इच्छाएँ, दुःख,गर्मी-सर्दी तथा अन्य शारीरिक अनुभूतियाँ आत्मा के भाव हैं जिनका बाह्य पदार्थों या शरीर से सम्बन्ध होता है। सक्रिय अवस्थाएँ सर्वथा आत्मा के अधिकार में हैं और शरीर से अप्रत्यक्ष रूप से ही परिवर्तित हो सकती हैं। निष्क्रिय अवस्थायें अपने शारीरिक कारणों पर निर्भर हैं और आत्मा से अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित की जा सकती हैं। अन्य अवस्थाएँ भी होती हैं जिनका प्रभाव आत्मा में दिखाई पड़ता है। ये हर्ष, क्रोध आदि की भावनायें हैं जो सही अर्थ में भाव (Passions) हैं। वे आत्मा के प्रत्यक्ष, भावनाएँ अथवा मनोवेग हैं जिन्हें हम आत्मा में आरोपित करते हैं। इन भावों का मुख्य कार्य आत्मा को उन बातों का संकल्प कराना है जिनके लिए वे शरीर को तैयार करते हैं। भावों का तात्कालिक कारण प्राण की गतिशीलता है जो शीर्ष-ग्रन्थि को उत्तेजित करती है। परन्तु वे कभी-कभी आत्मा की सक्रियता द्वारा भी उत्पन्न हो सकते हैं जो किसी न किसी वस्तु की धारणा बनाती हैं।

देकार्त ने छः प्रकार के मुख्य भाव बतलाये जैसे आश्चर्य, घृणा, चाह, दुःख, प्रेम तथा प्रसन्नता। शेष सभी इन्हीं की उपजातियाँ हैं। इन सबका शरीर से सम्बन्ध है। उनका स्वाभाविक कार्य आत्मा को उन कार्यों की ओर प्रेरित करना है जिनसे वह पूर्ण बने। आत्मा के समक्ष दुःख तथा प्रसन्नता के भाव प्रमुख हैं वह दुःख के भावों को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं से अलग हटने की दिशा पकड़ती है। वह समस्त

घृणा तथा दुःख से मुक्ति की इच्छा करती है । शुभ तथा अशुभ मुख्यतः आत्मा के आन्तरिक मनोवेगों पर निर्भर हैं जो आत्मा द्वारा ही उत्तेजित होते हैं । जब तक आत्मा के अन्तर्गत उसे संतुष्ट करने वाली अवस्थाएँ रहती हैं तब तक वाह्य बातों से आघात नहीं पहुँचता । अतः आन्तरिक संतोष को पाने के लिए सद्गुणों का अनुसरण करना अनिवार्य है । आत्मा का नैतिक आदर्श वाह्य प्रभावों तथा आघातों से अपने को स्वतन्त्र रखना है ।

सत्य और भ्रम (Truth and Error)

यदि देकार्त की इस सामान्य कसौटी को स्वीकार कर लिया जाये कि "वह बात सत्य है जो स्पष्ट एवं विशिष्ट है ।" तो यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है : भ्रम कैसे उत्पन्न हो जाता है ?

देकार्त के अनुसार, स्पष्ट तथा विशिष्ट बात सत्य होती है । मेरा अस्तित्व है, यह बात स्पष्ट एवं निश्चित है । अतः वह सत्य है । प्रत्येक बात का कारण होता है। कारण में कार्य के बराबर पूर्णता होती है । ईश्वर की सत्ता है । वह पूर्ण है । वह हमें कभी भ्रम में नहीं डाल सकता । फिर भी आदमी को भ्रम क्यों होता है ? प्रथम, ईश्वर ने सत्यासत्य विवेक की शक्ति जो मानव प्राणी को प्रदान की है, वह सीमित है । सीमित होने के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है । द्वितीय, भ्रम की घटना दो कारणों के एक साथ घटने से होती है । ज्ञान-क्रिया एवं चुनाव-क्रिया अथवा बुद्धि एवं संकल्प के साथ-साथ होने के कारण भ्रम पैदा होता है । मैं केवल बुद्धि के द्वारा ही किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता, अपितु प्रत्ययों को भी ग्रहण करता हूँ । उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय दे सकता हूँ । इसमें कोई भ्रम नहीं हो सकता । संकल्प भी भ्रम का स्रोत नहीं है । संकल्प पूर्ण होता है जिसमें स्वतः भ्रम नहीं हो सकता । जब संकल्प किसी वस्तु के विषय में स्पष्टता या विशिष्टता के बिना, कोई निर्णय देता है, तब भ्रम पैदा हो जाता है । संकल्प शक्ति जब शुभ के स्थान पर अशुभ, सत्य के स्थान पर असत्य का, चुनाव कर लेती है तब भ्रम तथा पाप (Illusion and Sin) उत्पन्न होता है ।

जन्मजात प्रत्यय (Innate Ideas)

देकार्त का मुख्य लक्ष्य यही है कि स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जाए। निश्चितता सत्य का अनिवार्य गुण है जिसे स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है । परन्तु देकार्त के अनुसार, निश्चित ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियाँ मनुष्य को यह नहीं बतला सकतीं कि वस्तुएँ स्वतः क्या हैं । कोई वस्तु यथार्थ रूप में क्या है ? यह चिन्तन के द्वारा ही जाना जा सकता है जो स्पष्ट तथा विशिष्ट हो । देकार्त कहता है कि यदि हमें निश्चित ज्ञान इन्द्रियानुभव से नहीं मिल सकता और यदि विशुद्ध ज्ञान मौलिक सिद्धान्तों या धारणाओं से मिलता है तो ये सिद्धान्त स्वयं मन में

ही निहित होने चाहिए अर्थात् उन्हें जन्मजात तथा प्रागनुभव (A Priori) होना चाहिए। देकार्त के अनुसार, स्वयं मन में ऐसे सिद्धान्त, प्रत्यय या आदर्श मौजूद हैं जो मन को ज्ञान का मार्ग दिखलाते हैं। ये सिद्धान्त अर्थात् ज्ञान की धारणाएँ या प्रत्यय सन्दर्भ विशेष की स्थिति के अनुभव में स्पष्ट हो जाते हैं। ये प्रत्यय अनुभव से उत्पन्न नहीं होते। वे पहले से ही अर्थात् जन्म से ही मन में विद्यमान रहते हैं और जैसे ही मन विचार-क्रिया में चलता है, ये प्रत्यय अनुभव में अभिव्यक्त हो जाते हैं। देकार्त का मुख्य विचार यही है कि बुद्धि के अपने स्वाभाविक सिद्धान्त, प्रत्यय या आदर्श हैं जिनकी उत्पत्ति अनुभव से कतई नहीं होती। ये जन्मजात होते हैं।

देकार्त के अनुसार, जन्मजात प्रत्यय ही ज्ञान का स्रोत है। जन्मजात प्रत्ययों से उसका तात्पर्य है कि समस्त ज्ञान बुद्धि (मनस्) में सन्निहित है। आत्मा (मनस्) में यह शक्ति होती है कि अनुभव के क्षेत्र में, उस जन्मजात ज्ञान को स्पष्ट कर दे। यही देकार्त का बुद्धिवाद है जिसके द्वारा वह अनुभववाद के आधार को ही समाप्त कर देता है। आगे चलकर लॉक ने जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का प्रतिरोध किया। फलतः देकार्त के इस विचार को अधिक स्पष्टता तथा विशिष्टता मिली। लाइबनित्ज तथा काण्ट जैसे दार्शनिकों को इसी सिद्धान्त को बुद्धिवाद के क्षेत्र में नये ढंग से प्रस्तुत करने का अवसर मिला।

ईश्वर की सत्ता (Existence of God)

सन्देह की पद्धति से देकार्त इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सन्देह में सन्देह नहीं किया जा सकता। सन्देह चिन्तन अथवा विचार-क्रिया है। उसके लिए सन्देह-कर्त्ता अथवा विचारक का होना आवश्यक है। अस्तु, मैं चिन्तन करता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है, पर मैं सन्देह करता हूँ इसलिए मैं अपूर्ण सत् हूँ। अतएव देकार्त के अनुसार, मनुष्य अपने को अपूर्ण पाता है इसलिए उसके मन में पूर्ण या असीम की कल्पना उत्पन्न होती है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के पश्चात् देकार्त ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने की ओर बढ़ता है। ईश्वर सर्वोच्च, शाश्वत, असीम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सत्ता का प्रत्यय है। जिस प्रकार देकार्त ने आत्मा के अस्तित्व को बौद्धिक युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया उसी प्रकार वह ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। वैसे देकार्त की युक्तियाँ अधिक मौलिक नहीं हैं क्योंकि उनमें शास्त्रीय प्रभाव मिलता है। फिर भी वह चाहता है कि ऐसे स्वयं-सिद्ध युक्ति-वाक्य प्राप्त किए जाएँ ताकि ईश्वर की सत्ता सरलता से प्रमाणित की जा सके। देकार्त ने ईश्वर की सत्ता के लिए निम्नलिखित चार प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

(1) **कारण सम्बन्धी युक्ति** (Casua Argument) - देकार्त की यह प्रथम युक्ति प्रत्ययों की स्थिति पर आधारित है। प्रत्यय तीन प्रकार के होते हैं—

(i) कुछ प्रत्यय जन्मजात होते हैं; (ii) कुछ अपने द्वारा निर्मित होते हैं, और (iii) बहुत से बाहर से ग्रहण कर लिए मालूम होते हैं। अन्तिम प्रकार के प्रत्ययों को बाह्य जगत् के कार्य या प्रतिरूप माना जाता है क्योंकि प्रकृति हमें ऐसा मानने को सिखलाती है। लेकिन यह सब कुछ भ्रम हो सकता है। मैं जितने प्रत्यय अपने अन्दर पाता हूँ उनमें एक 'ईश्वर का प्रत्यय' भी है। कोई वस्तु या प्रत्यय अभाव अथवा शून्य (Nothingness) से उत्पन्न नहीं हो सकता। जिसका अस्तित्व है उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। यह भी एक स्वयं-सिद्ध तथ्य है। कारण उतना ही बड़ा होना चाहिए जितना कार्य होता है। उसमें कार्य के बराबर यथार्थता भी होनी चाहिए। जो वस्तु सबसे अधिक यथार्थ और सबसे अधिक पूर्ण हो, उसे किसी का परिणाम नहीं कहा जा सकता। वह न तो किसी से कम पूर्ण होगी और न ही किसी पर आश्रित होगी। मैं ईश्वर के प्रत्यय का कारण नहीं हो सकता क्योंकि मैं ससीम तथा अपूर्ण हूँ। ईश्वर का प्रत्यय पूर्णता का प्रत्यय है। उसका अस्तित्व असीम है। असीमता के अस्तित्व का प्रत्यय अथवा ईश्वर का विचार निश्चित रूप से मेरे मन में पहले से ही रख दिया गया होगा। इस प्रकार का प्रबन्ध ईश्वर ही कर सकता है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद है। वह हमारे मन में विद्यमान समस्त प्रत्ययों का मूल कारण है।

देकार्त की यह कारण सम्बन्धी युक्ति सन्त एन्सलेम के तत्व सम्बन्धी प्रमाण (Ontological Argument) से भिन्न है। देकार्त के अनुसार, ईश्वर की सत्ता इसलिए नहीं है कि ईश्वर का प्रत्यय हमारे मन में है, बल्कि उसके प्रत्यय से ही उसकी सत्ता प्रमाणित होती है। ईश्वर अपने प्रत्यय का कारण स्वयं ही है। इसलिए उसकी सत्ता स्वत: प्रमाणित हो जाती है। देकार्त की यह युक्ति तत्त्व सम्बन्धी प्रमाण से दो बातों से भिन्न है। (i) उसकी युक्ति का प्रारम्भिक बिन्दु ईश्वर की धारणा रूपात्मक सार के रूप में नहीं है, अपितु आदमी के मन में ईश्वर के प्रत्यय की वास्तविक सत्ता है। (ii) उसकी युक्ति कारणात्मक अनुमान के आधार पर ईश्वर के प्रत्यय से स्वयं ईश्वर की ओर जाती है, न कि तात्विक प्रमाण की भाँति रूपात्मकर (Formal) अर्थ के आधार पर ईश्वर के सार (Essence) से उसके अस्तित्व की ओर जाती हो। किन्तु यह कहा जा सकता है कि असीमता की धारणा एक निषेधात्मक धारणा है जो पूर्णता का निषेध करती है। देकार्त के अनुसार, यह संभव नहीं है क्योंकि ससीमता का प्रत्यय असीमता या ईश्वर के प्रत्यय की ओर संकेत करता है। यदि मेरे अन्दर मेरे से अधिक पूर्ण का प्रत्यय नहीं होता, जिसकी तुलना में मैं अपने दोषों को पहचानता हूँ, तो किस प्रकार मैं सन्देह करता ? स्पष्टत: सन्देह सत्य के सिद्धान्त की ओर ले जाता है। इसी भाँति अपूर्णता का प्रत्यय पूर्णता की सत्ता प्रमाणित करता है।

(2) जगत् सम्बन्धी युक्ति (Cosmological Argument) आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के पश्चात् देकार्त जगत् का अस्तित्व सिद्ध करता है। इस जगत् के अस्तित्व से

पुन: वह ईश्वर की सत्ता सिद्ध करता है। मेरा अस्तित्व है। यह निर्विवाद है। किन्तु मैं स्वयं अपने अस्तित्व का कारण नहीं हो सकता क्योंकि मेरे मन में पूर्णता का प्रत्यय है। यदि मैं अपने आपको पैदा करता तो अपने को पूर्ण बनाता और मैं अपनी रक्षा करने में समर्थ होता, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यदि मेरे माता-पिता मुझे पैदा करते तो वे भी मेरी सुरक्षा करने में सक्षम होते। लेकिन यह भी असंभव है। मेरे माता-पिता भी अपूर्ण हैं। उनका भी कोई कारण होगा। अतएव ईश्वर की पूर्णता की धारणा से ही उसकी सत्ता का अनुमान होता है। ईश्वर की सत्ता के बिना, उसका प्रत्यय समझना मानव शक्ति के बाहर है। यह सोचना असंभव है कि पूर्ण सत्ता में निरपेक्ष पूर्णता न हो।

यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्ण सत्ता के अनेक कारण हों क्योंकि यदि कारण अनेक हैं तो वे पूर्ण नहीं हो सकते। निरपेक्षत: पूर्ण होने के लिए केवल एक ही कारण अथवा एक ही ईश्वर होना चाहिए। ईश्वर स्वयं अपना कारण आप है। यदि कारण का कारण ढूंढ़ते चलें तो हम कारणों की कल्पित शृंखला में फँस जायेंगे और कहीं अन्त नहीं मिलेगा। इस प्रकार अनावस्था दोष (Fallacy of Infinite Regress) हो जायेगा। अतएव देकार्त के अनुसार, जगत् की वस्तुओं में कार्य-कारण श्रंखला की विभिन्न कड़ियों की खोज करते हुए हम ईश्वर तक पहुँच जाते हैं और यह माने बिना नहीं रुक सकते कि ईश्वर ही जगत् का आदि कारण है। ईश्वर में ही जीव एवं जगत् की सृष्टि करने की शक्ति है।

(3) **तत्त्व सम्बन्धी युक्ति** (Ontological Argument)–ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए, एन्सलेम ने तात्विक-युक्ति दी थी जिसमें सत्ता को सार मात्र से सिद्ध किया जाता है। देकार्त इस युक्ति को अपने ढंग से प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार, अस्तित्वहीन ईश्वर का प्रत्यय मनुष्य की कल्पना से परे है। पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है। ऐसा न होने पर वह पूर्ण नहीं रह जायेगा। पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व न हो, यह परस्पर विरोधी बात है। अत: ईश्वर के प्रत्यय से ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है। ईश्वर की पूर्णता की धारणा से ही उसकी सत्ता का अनुमान होता है। ईश्वर की सत्ता के बिना उसका प्रत्यय समझना असंभव है। यहाँ पर देकार्त की युक्ति सन्त एन्सलेम तथा ऑगस्टाइन द्वारा प्रस्तुत सत्तामूलक प्रमाण के समान है। ईश्वर सर्वोच्च है। उसकी धारणा और यथार्थता भिन्न नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व हमारी धारणा पर आश्रित नहीं बल्कि हमारी ईश्वर की धारणा ही उसकी पूर्णता तथा वास्तविकता का एक अंग है।

(4) **स्पष्ट तथा विशिष्ट विचार-युक्ति** (Argument from clear and distinct Ideas)–देकार्त की ज्ञान मीमांसा का मूलाधार यह है कि जो स्पष्टत तथा विशिष्ट है वह सत्य है। विभिन्न धारणाओं के सत्यासत्य की कसौटी के रूप में वह यह मानता है

कि जो भी धारणा पूर्णतया स्पष्ट और अन्य धारणाओं से विशिष्ट है, उसे सत्य माना जाना चाहिए। ईश्वर का प्रत्यय बिल्कुल स्पष्ट तथा विशिष्ट है। अस्तु, ईश्वर का अस्तित्व है। मेरे मन में यह स्पष्ट तथा विशिष्ट धारणा ईश्वर ही उत्पन्न करता है। यदि ईश्वर की सत्ता न होती तो संभवतः मैं वह नहीं होता जो आज हूँ और मेरे मन में ईश्वर का प्रत्यय कतई नहीं होता। ईश्वर पूर्ण है। इसलिए वह आदमी के मन में भ्रमपूर्ण धारणाएं उत्पन्न करके उसे धोखा नहीं दे सकता। अतः यह स्पष्ट है कि जब ईश्वर ने आदमी के मन में एक नित्य, शाश्वत, पूर्ण, सर्वव्यापी, असीम, सर्वज्ञ सत्ता की धारणा उत्पन्न की है तो वह सत्ता अवश्य होगी। ईश्वर समस्त शुभ का आधार है। वह समस्त वस्तुओं का निर्माता है। ईश्वर भौतिक नहीं है और मनुष्य की भांति वह इन्द्रियों द्वारा अनुभूति नहीं करता।

देकार्त के अनुसार, ईश्वर भौतिक नहीं है। वह समस्त वस्तुओं का स्रष्टा है। उसमें बुद्धि और संकल्प तो हैं, पर मनुष्य की तरह नहीं हैं। वह पापादि से परे है। देकार्त यह मानता है कि ईश्वर जगत् की व्यवस्था बदल सकता है। यदि ईश्वर चाहता तो जगत् को अन्य ढंग से भी निर्मित कर सकता था। यह जगत् इतना सुन्दर इसलिए है कि ईश्वर ने उसे वैसा ही बनाया है जैसा उसे होना चाहिए। कोई वस्तु इसलिए सुन्दर नहीं है कि वह स्वतः सुन्दर है, वरन् ईश्वर ही उसे सुन्दर बनाता है। ईश्वर कृपालु है। इसलिए यह निश्चित है कि वह हमारे मन में भ्रमपूर्ण विचार नहीं रखेगा। इस प्रकार देकार्त की दृष्टि में, ईश्वर की धारणा बिल्कुल स्पष्ट और अन्य धारणाओं में विशिष्ट है। अतः ईश्वर की सत्ता निर्विवाद है।

बाह्य जगत् की सत्ता (Existence of the External World)

देकार्त आत्मा तथा ईश्वर की सत्ता बौद्धिक रूप से प्रमाणित करने के पश्चात् भौतिक जगत् के अस्तित्व की चर्चा की ओर आता है। वह बाह्य जगत् की सत्ता स्वीकार करता है। किन्तु बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हमारे अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। उनका अस्तित्व हमारे मन या आत्मा से स्वतन्त्र है। मानवीय चिन्तन से बाह्य वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार की स्वतन्त्र तथा अनाश्रित वस्तु को देकार्त द्रव्य (Substance) कहता है। द्रव्य वह है जिसकी सत्ता के लिए अन्य किसी सत्ता पर आश्रित होने की आवश्यकता न हो। वस्तुतः ऐसी सत्ता एक ही है और वह सत्ता ईश्वर है। मूलतः एक ही निरपेक्ष द्रव्य (Absolute Substance) ईश्वर है।

अपनी द्रव्य-परिभाषा का अतिक्रमण करते हुए, देकार्त दो सापेक्ष द्रव्य-मन तथा शरीर (Mind and Body) को और मान लेता है जो अपनी सत्ता के लिए परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी ईश्वर पर अवलम्बित हैं। मन और शरीर एक दूसरे से मूलतः भिन्न हैं या दोनों ही अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर आश्रित हैं। मन और शरीर दोनों द्रव्यों की सत्ता उनके विशेषणों (Attributes) द्वारा ही जानी जा सकती है। द्रव्य में अनिवार्यतः निहित विशेषता को विशेषण कहते हैं। विशेषण द्रव्य

के वे गुण हैं जिनके बिना द्रव्य की सत्ता संभव नहीं हो सकती। द्रव्य के विशेषण विविध प्रकारों (Modes) में अभिव्यक्त होते हैं। द्रव्य तथा विशेषण को प्रकारों के बिना समझा जा सकता है, पर प्रकारों को हम द्रव्य तथा विशेषण के बिना नहीं समझ सकते। द्रव्य के विशेषण परिवर्तित नहीं होते। किंतु प्रकार (Modes) बदलते रहते हैं। कोई वस्तु सदैव विस्तारमय (Extended) होगी, पर हो सकता है उसकी आकृति सदा एक सी न हो। विस्तार (Extension) में विकार या परिवर्तन अवश्य होते रहने की संभावना है।

देकार्त के अनुसार, किसी द्रव्य के विशेषणों का पता लगाने के लिए यह विचार करना चाहिए कि उसमें कौन से गुण स्पष्ट तथा विशिष्ट हैं। इस दृष्टि से देखा जाये तो शरीर या वस्तु का विशेषण केवल विस्तार ही जान पड़ता है जो स्पष्ट एवं निश्चित है। वस्तु विचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वस्तु और विस्तार एक ही हैं। विस्तार में तीन विमितियां होती हैं—लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई। विस्तार का अर्थ आकाशीय प्रवाह है। कोई भी स्थान (आकाश) रिक्त नहीं है। जहाँ स्थान है वहाँ वस्तु है। प्रत्येक वस्तु आकाश में सीमित है। अतएव शून्य से युक्त कोई आकाश नहीं है। जहाँ आकाश है वहाँ पदार्थ भी है। आकाश असीमित रूप से विभाज्य है, पर आकाश में परम खण्ड नहीं हैं। इसलिए आकाश के परमाणु नहीं हैं। पदार्थ या जड़ तत्वों को सूक्ष्मतर खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। किंतु आकाश परमाणुओं (Atoms) में विभाज्य नहीं है। संक्षेप में, विस्तार का कोई अन्त नहीं है। यह भौतिक जगत् या मूर्त शरीर असीम है। इस तरह देकार्त एक प्रकार के जड़वाद का समर्थन करता है।

यह बाह्य जगत् एक असीम विस्तार है। भौतिक जगत् की समस्त क्रियाएँ विस्तार के ही विभिन्न प्रकार (Modes) हैं। इस विस्तार को असंख्य टुकड़ों में बांटा जा सकता है। जगत् के विभिन्न अंशों में संयोग तथा वियोग होता रहता है, फलतः पुद्गल (Matter) के अनेक रूप उत्पन्न होते हैं। पुद्गल की अनेक रूपता का मूल कारण गति है। गति वह क्रिया है जिसके कारण कोई वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान में चली जाती है। गति गतिशील वस्तु का एक विकार या प्रकार है, वह द्रव्य नहीं है। गति के कारण वस्तुएँ स्थानान्तरित होती रहती है। देकार्त ने भौतिक जगत् की यांत्रिक व्याख्या की है। कोई क्रिया दूरगत नहीं है। समस्त घटनाएँ दवाव तथा संघर्षण द्वारा होती हैं। अतएव खगोलविद्या (Astronomy) के तथ्यों की व्याख्या करने के लिए एक सार्वभौम आकाश होना परमावश्यक है।

देकार्त के अनुसार, शरीर या पुद्गल जिसका विशेषण विस्तार है, निष्क्रिय है। उसमें स्वतः कोई गति नहीं है। अतः जगत् में गति का मूल कारण ईश्वर को ही मानना चाहिए। ईश्वर ने ही पुद्गल को गति तथा अगति सहित उत्पन्न किया है। ईश्वर की आज्ञा से जगत् में वही गति काम कर रही है जो उसने प्रदान की थी। प्र-

थम कर्ता (prime Mover) की यह धारणा देकार्त तथा उसके पश्चात् प्रसिद्ध हो गई। इसे अरस्तू के दर्शन से लेकर, गेलीलियो तथा न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया। जगत् में ईश्वर द्वारा विघ्न डालना यांत्रिक धारणा के प्रति अन्याय होगा। अतएव देकार्त के अनुसार, ईश्वर ने जगत् को गति की एक निश्चित मात्रा प्रदान की। जितनी मात्रा प्रारम्भ में थी उतनी वह रहेगी। गति स्थाई है। देकार्त का यह विचार आधुनिक विज्ञान के शक्ति संरक्षण के नियम से मिलता-जुलता है। पदार्थ न तो स्वयं गति को उत्पन्न कर सकते हैं और न उसे रोक सकते हैं। इसलिए वे शक्ति अथवा गति को घटा-बढ़ा नहीं सकते। इस प्रकार देकार्त के अनुसार, भौतिक जगत् की सभी वस्तुएं ईश्वर के बनाये हुए प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) के अनुसार चलती और परिवर्तित होती हैं।

ईश्वर अपरिवर्तनशील तथा नित्य है। वह समस्त गति का मूल कारण है। भौतिक जगत् में होने वाले समस्त परिवर्तन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होते हैं। प्रकृति के सभी नियम गति के नियम हैं। शरीरों के अंगों के अलग-अलग सम्बन्धों के कारण ही वस्तुओं में भिन्नता है। ठोस पदार्थों से मिलकर विभिन्न अंग अचल हो जाते हैं और तरल पदार्थों में मिलकर गतिशील रहते हैं।

ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होने के पश्चात् देकार्त के दर्शन में अन्य बातों की निष्पत्ति सरल हो जाती है। ईश्वर कृपालु एवं शुभ का मूलाधार है। इसलिए वह हमें धोखा नहीं देगा। ईश्वर ने ही हमारे अन्दर ऐसी प्रवृति प्रदत्त की है कि हम वाह्य वस्तुओं में विश्वास करें। और यदि वाह्य वस्तुएं न होतीं तो ईश्वर ही धोखा देने वाला समझा जाता जो वास्तव में वह नहीं है। अस्तु, वाह्य वस्तुओं की सत्ता है। वाह्य वस्तुओं का ज्ञान केवल मन के द्वारा ही होता है, न कि मन तथा शरीर के साथ साथ रहने के कारण। इस प्रकार देकार्त अपने द्वैतवाद की पूर्णतया प्रतिष्ठापना कर देता है। वह न केवल बुद्धिवादी वरन् यथार्थवादी (Realist) भी है। जगत् सत्य है जिसे मानवीय बुद्धि द्वारा सरलता से जाना जा सकता है।

मन और शरीर का सम्बन्ध (Body-mind Relationship)

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में मन तथा शरीर की समस्या बहुत पुरानी है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक देकार्त के विचारों में यह समस्या और भी महत्त्वपूर्ण बनकर उभरी। देकार्त ने मन की धारणा को एक नये रूप में प्रस्तुत किया। उसके पूर्व दार्शनिकों ने मन तथा शरीर को एक ही तत्व के दो पक्षों के रूप में विश्लेषित किया था। परन्तु देकार्त ने मन को शरीर से भिन्न माना। पहले मन तथा शरीर को एक दूसरे के सापेक्ष समझा जाता था, पर देकार्त ने उन दोनों की सत्ता एक दूसरे से स्वतन्त्र मानी। इस प्रकार उसने मन और शरीर के सम्बन्ध को लेकर उसने द्वैतवाद की स्थापना की।

देकार्त के अनुसार मन और शरीर दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं, पर अपने अस्तित्व के लिए वे ईश्वर पर आश्रित हैं। मन शरीर से बिल्कुल भिन्न है। शरीर (पुद्गल) का विशेषण विस्तार है। शरीर निष्क्रिय है। मन का विशेषण चिन्तन है। मन (आत्मा) क्रियाशील तथा स्वतन्त्र है। दोनों द्रव्य एक दूसरे से पृथक हैं तथा परस्पर असमान हैं। मन में कोई विस्तार न ीं है और शरीर में कोई चिन्तन नहीं है। मन (आत्मा) की चिन्तन के बिना कोई कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा विचारशील है। आदमी की सत्ता एक स्पष्ट तथा विशिष्ट चिन्तनशील प्रत्यय के रूप में है। मैं यह जानत हूँ कि मैं विस्तारहीन प्राणी हूँ। यह भी जानता हूँ कि मेरा मन मेरे शरीर से भिन्न है और शरीर के बिना उसकी सत्ता सम्भव है। मैं कल्पना एवं प्रत्यक्ष के बिना भी अपनी सत्ता को स्पष्ट रूप से देख सकता हूँ किन्तु कल्पना एवं प्रत्यक्ष को मैं अपने बिना अथवा किसी आत्मिक द्रव्य के बिना जिसमें वे निहित हैं, नहीं सोच सकता। कल्पना एवं प्रत्यक्ष आदमी से उसी भाँति भिन्न हैं जिस भांति विशेषण पदार्थों से। चिन्तन के अन्तर्गत देकार्त संकल्प तथा उन उच्च भावनाओं को सम्मिलित कर लेता है जो शरीर और मन के संगठन के परिणाम नहीं हैं।

चिन्तनशील द्रव्य से देकार्त का तात्पर्य उससे है जो सन्देह करता है, समझता, देखता, स्वीकार, अस्वीकार, इच्छा, कल्पना और अनुभूति करता है। चिन्तन समस्त बौद्धिक अथवा मन की ज्ञानात्मक क्रियाओं तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसमें वह सब कुछ सन्निहित है जिसे आज 'चेतना' (Consciousness) कहते हैं। मैं यह स्पष्टतः देखता हूँ कि न तो विस्तार और न आकृति, न ही कोई क्षेत्रीय गति अथवा उनके समान कोई अन्य वस्तु मेरे चिन्तनशील स्वरूप से मेल खाती है। अपनी आत्मा या मन का जो मुझे ज्ञान है वह समस्त भौतिक वस्तुओं से भिन्न तथा पूर्वगामी है। यह बिल्कुल निश्चित है कि मैं जब सन्देह करता हूँ तब चिन्तन करता हूँ। अतः यह चिन्तनशील द्रव्य शरीर से बिल्कुल भिन्न है।

कौन सी बात ने देकार्त को इस प्रकार के आत्यन्तिक द्वैतवाद की ओर आकर्षित किया? संभवतः इसलिए कि वह प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र को स्वतन्त्र छोड़ना चाहता था ताकि उसमें निष्पक्ष खोज हो सके। देकार्त ने मन को प्रकृति के क्षेत्र से बिल्कुल पृथक रखा है। मानवीय शरीर पशुओं के शरीर के समान एक मशीन है जो प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलता-रहता हैं। शरीर में अपना शक्ति केन्द्र होता है जो हृदय में विद्यमान ताप से गतिशील होता है। मन और शरीर दोनों द्रव्यों में किसी प्रकार की अन्तर्क्रिया (Interaction) नहीं है। मन शरीर में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता और शरीर भी मन में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं कर सकता। परन्तु देकार्त अपने तर्कवाक्यों से सही-सही निष्कर्ष निकालने में अधिक आगे नहीं बढ़ पाता। कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनसे मन तथा शरीर के बीच एक घनिष्ट सम्बन्ध की ओर संकेत

मिलता है। क्या भूख तथा प्यास केवल शारीरिक हैं अथवा मन के संवेग तथा वासनाएं मात्र मानसिक हैं ? स्पष्टतः मन तथा शरीर में एक द्रव्यात्मक एकता झलकती है। इस प्रकार की एकता को देकार्त भलीभांति विश्लेषित नहीं कर पाया। वस्तुतः उसके द्वैतवाद में मन तथा शरीर की एकता का प्रश्न सुलझना संभव नहीं है।

देकार्त के अनुसार, चिन्तन एवं विस्तार दोनों मनुष्य में संगठित हैं। उनमें संगठन की एकता है, पर उनके स्वरूप की एकता नहीं है। इस संगठन को दो वस्तुओं के मिश्रण की भांति नहीं समझना चाहिए। देकार्त यह मानता है कि चिन्तन में इन्द्रियों द्वारा, उनकी उत्पत्ति न होते हुए भी, विकार आ सकते हैं। संवेग तथा वासनाएं आत्मा तथा शरीर का संगठन होने से उत्पन्न हो सकती हैं। मन तथा शरीर के संगठन या मिलन के बावजूद भी दोनों एक दूसरे से भिन्न तथा विशिष्ट हैं। ईश्वर ने ही उन्हें साथ-साथ रखा है, परन्तु दोनों द्रव्य अपने स्वरूप में एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि ईश्वर उन्हें पृथक्-पृथक् संरक्षित कर सकता है। अतः देकार्त की दृष्टि में शारीरिक प्रक्रियाएँ मानसिक परिवर्तन नहीं ला सकतीं और न मानसिक प्रक्रियाएँ शारीरिक परिवर्तन पैदा कर सकती हैं। फिर भी दोनों में एक प्रकार की संगठनात्मक एकता है जिनसे विभिन्न विचार अभिव्यक्त होते हैं।

कभी-कभी देकार्त किसी भी हिचकिचाहट के बिना मन तथा शरीर के बीच कारणात्मक अन्तर्क्रिया स्वीकार कर बैठता है। आत्मा यद्यपि समस्त शरीर के साथ जुड़ी है, पर उसका प्रमुख स्थान मस्तिष्क की पिनियल-ग्रन्थि में होता है। जीवात्मक आत्माओं में संवेदनशील क्रियाओं द्वारा गति उत्पन्न होती है और पिनियल-ग्रन्थि (Pineal-gland) में स्थानान्तरित हो जाती है। इस प्रकार संवेदन पैदा होते हैं। आत्मा भी उस ग्रन्थि को विभिन्न रूपों में गतिशील बना सकती है। यह गति प्राणत्व शक्ति में स्थानान्तरित हो जाती है और फिर नाड़ियों द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों में संचारित हो जाती है। स्पष्टतः यहाँ मन-शरीर का सम्बन्ध कारणात्मक प्रतीत होता है। पिनियल-ग्रन्थि के माध्यम से मन और शरीर के बीच एक निश्चित अन्तर्क्रिया होती है। परन्तु देकार्त यह विश्लेषित करने में असमर्थ रहता है कि यह अन्तर्क्रिया उसके तात्विक द्वैतवाद-चिन्तनशील तथा विस्तारमय द्रव्यों, के साथ किस प्रकार मेल खाती है। फिर भी देकार्त ने मन और शरीर की पारस्परिक क्रियाओं का कारण पिनियल-ग्रन्थि को ही माना है। उसके इस अन्तर्क्रियावाद (Interactionism) में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं —

(i) आत्मा निराकार तथा चिन्तनशील द्रव्य है। वह पिनियल - ग्रन्थि में किस प्रकार निवास करती है ? यह समझाना कठिन लगता है।

(ii) मन और शरीर दो स्वतन्त्र एवं भिन्न तत्व हैं। नितान्त भिन्नता में भी उनमें परस्पर अन्तर्क्रिया कैसे संभव होती है ?

(iii) देकार्त का सिद्धांत आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से खरा नहीं उतरता क्योंकि समस्त शारीरिक व्यवहार के पार्श्व में कोई न कोई संवेग होता है। फिर भी देकार्त के अन्तर्क्रियावाद का महत्त्व कम नहीं है क्योंकि आधुनिक विज्ञान मन तथा शरीर में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है।

संयोगवाद (Occasionalism)

देकार्त के बहुत से उत्तराधिकारियों ने, जिनमें रेगिस, डिला फोर्ज, कार्डेम्वाय वलोवर्ग, वेकर तथा ज्यूलिक्स मुख्य हैं, मन और शरीर के भेद को स्वीकार किया। दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हुए परस्पर सम्बन्धित हैं। उनके अनुसार मन तथा शरीर में परस्पर सम्बन्ध तो हैं, परन्तु देकार्त द्वारा प्रस्तुत समाधान (अन्तर्क्रियावाद) को वे नहीं मानते। शरीर एवं मन की व्याख्या के लिए वे ईश्वरीय संकल्प का सहारा लेते हैं। मन तथा शरीर भिन्न हैं। संकल्प पदार्थों को गति नहीं दे सकता और दे भी कैसे सकता है? संकल्प ईश्वर द्वारा कृत बाह्य जगत् में होने वाले परिवर्तन का संयोग (Occasion) है। भौतिक घटनाएँ हमारे अन्दर प्रत्यय उत्पन्न नहीं कर सकतीं। वे तो केवल संयोगीय कारण हैं। केवल ईश्वर ही हमारे अन्दर प्रत्यय पैदा करता है। इसी मत को संयोगवाद कहते हैं। यह समानान्तरवाद (Parallelism) का ही एक रूप है। समानान्तरवाद का अर्थ है कि मानसिक और भौतिक क्रियाएँ कार्य कारण के रूप में सम्बन्धित न होकर, एक दूसरे की सहचारी अथवा समानान्तर हैं। संयोगवाद के अन्तर्गत इन सहचारी क्रियाओं का घटित होना ईश्वर की इच्छा के अनुसार अथवा संयोग कहा गया है। इस प्रकार देकार्त के अनुयायियों ने उसके मन-शरीर सम्बन्ध सिद्धांत में संशोधन प्रस्तुत किया जिसे संयोगवाद या अवसरवाद कहते हैं। उनका अवसरवाद से तात्पर्य यह है कि मन का संकल्प बाह्य जगत् में ईश्वर द्वारा परिवर्तन का अवसर है। इस प्रकार बाह्य जगत् की घटनाएँ हमारे मन में ईश्वर द्वारा विचार उत्पन्न करने का अवसर है। अतः मन और शरीर में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ईश्वर दोनों को समानान्तर चलाता है। समस्त शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन ईश्वर की इच्छा के संयोग हैं।

सारांशतः देकार्त ने पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद, वैज्ञानिकता तथा स्वतन्त्रता जैसी आधुनिक प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त किया। बुद्धिवाद तथा प्रागनुभववाद में विश्वास करते हुए भी उसने अनुभव के तथ्यों की ओर ध्यान देने में कोई बाधा नहीं समझी। वैसे देकार्त ने ज्ञान-मीमांसा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं रखा, पर ज्ञानशास्त्र के लम्बे वादविवादों के चक्कर में न पड़कर, उसकी रुचि सत्यान्वेषण में अधिक थी। सन्देहवाद उसका लक्ष्य नहीं था। मात्र एक साधन था। वह इस अर्थ में कट्टरवादी था कि बुद्धि द्वारा ही स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान

मिल सकता है। बाह्य जगत् की सत्ता में उसका अटूट विश्वास था। इसलिए देकार्त को यथार्थवादी भी कहा जाता है। किन्तु बाह्य जगत् के सच्चे स्वरूप का ज्ञान केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। संक्षेप में, देकार्त ने कुछ ऐसी प्रवृत्तियां प्रारम्भ कीं जिनको भावी विचारकों ने अपनाया जैसे बुद्धिवाद, दर्शन में गणितीय विधि, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, व्यावहारिकता, मन तथा शरीर के सम्बन्ध में अन्तर्क्रियावाद तथा स्वतन्त्र चिन्तन। इन सब कारणों से ही उसे आधुनिक दर्शन का जनक माना जाता है।

☐

(iii) देकार्त का सिद्धांत आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से खरा नहीं उतरता क्योंकि समस्त शारीरिक व्यवहार के पार्श्व में कोई न कोई संवेग होता है। फिर भी देकार्त के अन्तर्क्रियावाद का महत्त्व कम नहीं है क्योंकि आधुनिक विज्ञान मन तथा शरीर में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है।

संयोगवाद (Occasionalism)

देकार्त के वहुत से उत्तराधिकारियों ने, जिनमें रेगिस, डिला फोर्ज, कार्डेम्वाय वलोवर्ग, वेकर तथा ज्यूलिक्स मुख्य हैं, मन और शरीर के भेद को स्वीकार किया। दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हुए परस्पर सम्बन्धित हैं। उनके अनुसार मन तथा शरीर में परस्पर सम्वन्ध तो हैं, परन्तु देकार्त द्वारा प्रस्तुत समाधान (अन्तर्क्रियावाद) को वे नहीं मानते। शरीर एवं मन की व्याख्या के लिए वे ईश्वरीय संकल्प का सहारा लेते हैं। मन तथा शरीर भिन्न हैं। संकल्प पदार्थों को गति नहीं दे सकता और दे भी कैसे सकता है? संकल्प ईश्वर द्वारा कृत वाह्य जगत् में होने वाले परिवर्तन का संयोग (Occasion) है। भौतिक घटनाएँ हमारे अन्दर प्रत्यय उत्पन्न नहीं कर सकतीं। वे तो केवल संयोगीय कारण हैं। केवल ईश्वर ही हमारे अन्दर प्रत्यय पैदा करता है। इसी मत को संयोगवाद कहते हैं। यह समानान्तरवाद (Parallelism) का ही एक रूप है। समानान्तरवाद का अर्थ है कि मानसिक और भौतिक क्रियाएँ कार्य कारण के रूप में सम्वन्धित न होकर, एक दूसरे की सहचारी अथवा समानान्तर हैं। संयोगवाद के अन्तर्गत इन सहचारी क्रियाओं का घटित होना ईश्वर की इच्छा के अनुसार अथवा संयोग कहा गया है। इस प्रकार देकार्त के अनुयायियों ने उसके मन-शरीर सम्बन्ध सिद्धांत में संशोधन प्रस्तुत किया जिसे संयोगवाद या अवसरवाद कहते हैं। उनका अवसरवाद से तात्पर्य यह है कि मन का संकल्प बाह्य जगत् में ईश्वर द्वारा परिवर्तन का अवसर है। इस प्रकार वाह्य जगत् की घटनाएँ हमारे मन में ईश्वर द्वारा विचार उत्पन्न करने का अवसर है। अतः मन और शरीर में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, वल्कि ईश्वर दोनों को समानान्तर चलाता है। समस्त शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन ईश्वर की इच्छा के संयोग हैं।

सारांशतः देकार्त ने पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद, वैज्ञानिकता तथा स्वतन्त्रता जैसी आधुनिक प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त किया। बुद्धिवाद तथा प्रागनुभववाद में विश्वास करते हुए भी उसने अनुभव के तथ्यों की ओर ध्यान देने में कोई वाधा नहीं समझी। वैसे देकार्त ने ज्ञान-मीमांसा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं रखा, पर ज्ञानशास्त्र के लम्वे वादविवादों के चक्कर में न पड़कर, उसकी रुचि सत्यान्वेषण में अधिक थी। सन्देहवाद उसका लक्ष्य नहीं था। मात्र एक साधन था। वह इस अर्थ में कट्टरवादी था कि बुद्धि द्वारा ही स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान

मिल सकता है। बाह्य जगत् की सत्ता में उसका अटूट विश्वास था। इसलिए देकार्त को यथार्थवादी भी कहा जाता है। किन्तु बाह्य जगत् के सच्चे स्वरूप का ज्ञान केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। संक्षेप में, देकार्त ने कुछ ऐसी प्रवृत्तियां प्रारम्भ कीं जिनको भावी विचारकों ने अपनाया जैसे बुद्धिवाद, दर्शन में गणितीय विधि, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, व्यावहारिकता, मन तथा शरीर के सम्बन्ध में अन्तर्क्रियावाद तथा स्वतन्त्र चिन्तन। इन सब कारणों से ही उसे आधुनिक दर्शन का जनक माना जाता है।

□

8

बेनेडिक्ट स्पिनोजा

(Benedict Spinoza: 1632-1677)

वारूख (वेनेडिक्ट) स्पिनोजा का जन्म हालैण्ड के यहूदी परिवार में हुआ था। उसका वाल्यकाल तथा नवयौवन विद्याध्ययन में अच्छी तरह बीता, पर उसके शिक्षक *उससे बड़े ही रुष्ट हो गये क्योंकि स्पिनोजा के विचार उस समय की दृष्टि से बहुत* क्रान्तकारी समझे जाते थे। वह चतुर तथा कुशाग्र बुद्धिवाला था। अतएव यहूदी समाज को उससे यह आशा थी कि वह यहूदी सिद्धान्त का एक सवल स्तम्भ सावित होगा। परन्तु देकार्त के विचारों पर मनन करने के पश्चात् वह कुछ विपरीत निष्कर्षो पर पहुँचने लगा जिससे यहूदी लोगों को गहरा धक्का लगा। यहूदी समाज ने उसका पूर्ण वहिष्कार कर दिया जिसके कारण उसका जीवन कष्टमय हो गया। जायदाद के लिए वहिन ने मुकदमा चलाया। स्पिनोजा की जीत हुई। किन्तु सारी सम्पत्ति वहिन को ही दे दी। उसने अपने जीवन-निर्वाह के लिए एमस्टर्डम में ताले वनाने तथा उन्हें चमकाने का काम प्रारम्भ कर दिया। उसने अपने को 'वारूख' के स्थान पर वेनेडिक्ट स्पिनोज कहना शुरू कर दिया क्योंकि वारूख का लेटिन भाषा में अर्थ 'कृतार्थ' होता है।

स्पिनोजा की दर्शन तथा गणित के अध्ययन में वड़ी रुचि थी। उसने कई रचनाएँ लिखीं। किन्तु उसकी मृत्यु तक वे अप्रकाशित रहीं क्योंकि उस समय उसका धार्मिक क्षेत्र में व्यापक विरोध हो रहा था। यह भी सुनने में आया कि उसे नास्तिकता (Atheism) के अपराध में पकड़ लिया जायेगा और धार्मिक अदालत में उसे सजा दी जायेगी। तत्पश्चात् स्पिनोजा ने अपनी सभी रचनाओं को एक डेस्क में वन्द कर दिया और हिदायत दी कि उन्हें उसकी मृत्यु के वाद प्रकाशित करवाया जाये। ऐसा ही हुआ। निश्चय ही उनका जीवन आर्थिक अभाव तथा धार्मिक विरोध में कटा। यहूदियों ने उसका वहिष्कार किया, ईसाइयों ने उसे घृणा की दृष्टि से

देखा और कट्टरपंथियों ने उस पर नास्तिकता का आरोप लगाया। फिर भी उसे अपने दार्शनिक चिन्तन पर भारी सन्तोष था। उसे न धन का लोभ था और न सांसारिक वैभव का। उसकी विद्वता को देखकर हाईडेलबर्ग विश्वविद्यालय ने स्पिनोजा को दर्शन विभाग का अध्यक्ष बनाने को आमन्त्रित किया, पर उसने वह पद स्वीकार नहीं किया। वह अपने चिन्तन कार्य में ही व्यस्त रहा। उसकी मुख्य रचनाएं ये हैं—एथिका, कोजीटा मेटाफिजीका, और ट्रैक्टस-थियोलॉजिया-पॉलिटिक्स।

पद्धति और ज्ञान-सिद्धान्त (Method and Theory of Knowledge)

देकार्त ने जिस पद्धति की प्रतिष्ठापना की उसी का अनुसरण स्पिनोज. ने किया। उसने भी यह माना कि दर्शन का मूल उद्देश्य विशुद्ध तथा सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति करना है। बुद्धि ही सार्वभौम ज्ञान का अन्वेषण कर सकती है। देकार्त तथा स्पिनोजा दोनों ही गणितज्ञ थे और दोनों ने दार्शनिक क्षेत्र में गणित जैसी विधि का अनुकरण करने का प्रयास किया। स्पिनोजा परिभाषाओं तथा सिद्धान्तों से प्रारम्भ होकर युक्तिवाक्यों की स्थापना करने पर बल देता है जैसा कि रेखागणित में होता है। स्पिनोजा ने जगत् को रेखागणित की समस्या के रूप में लिया। जिस प्रकार रेखागणित की प्रस्तावनाएं अपनी तार्किक मान्यताओं का अनुसरण करती हैं उसी प्रकार हरेक पदार्थ विश्व के प्रथम सिद्धान्तों से अनुसरित होता है। अर्थात् दर्शन में जगत् की व्याख्या ईश्वर की प्रकृति के अनुरूप की जा सकती है जो समस्त वस्तुओं का प्रथम कारण है। जिस प्रकार गणित के निगमन में जो निष्कर्ष निकलते हैं वे मात्र अनित्य प्रभाव न होकर, नित्य परिणाम होते हैं। उसी प्रकार प्रथम कारण (ईश्वर) से, वस्तुओं का काल की दृष्टि से विकास नहीं होता, बल्कि शाश्वत रूप से उनका अवतरण होता है। काल तो विचार का एक प्रकार है। आदि और अन्त नाम की कोई चीज नहीं है। केवल 'नित्यता' है।

स्पिनोजा के अनुसार, यह जगत् कारणात्मक नित्यता में सम्बद्ध है। प्रत्यक वस्तु दूसरी वस्तु से उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार किसी युक्ति में हरेक युक्तिवाक्य एक दूसरे से सम्बद्ध होता है। गणित की प्रत्येक युक्ति में युक्तिवाक्य पूर्व निर्धारित होता है। जिस प्रकार रेखागणित के प्रदर्शन में कोई युक्तिवाक्य किसी अन्य युक्तिवाक्य का अनिवार्य परिणाम होता है उसी प्रकार प्रकृति में हर वस्तु किसी अन्य वस्तु का अनिवार्य कार्य होती है। स्पिनोजा मानता है कि जगत् एक सम्पूर्ण अन्तः सम्बन्धित व्यवस्था (Inter-related System) है जिसमें प्रत्येक अंग का अपना-अपना अनिवार्यतः निश्चित स्थान होता है। प्रत्येक कार्य अपने पूर्व कारण से निर्धारित होता है। इस प्रकार स्पिनोजा की दार्शनिक पद्धति पूर्णतः नियतिवादी (Deterministic) है। जिस प्रकार गणित में कोई उद्देश्य नहीं होता उसी प्रकार प्रकृति में कोई उद्देश्य नहीं होता है। अतएव स्पिनोजा का दर्शन प्रयोजनवाद (Teleology) के विरुद्ध है और उसका दर्शन गणितीय रहस्यवाद कहा

जाता है। उसने गणित की प्रणाली से रहस्यवाद की स्थापना की। उसका समस्त दर्शन नियतिवादी है। वह सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वर कहता है। ईश्वर में किसी प्रकार उद्देश्य कैसे हो सकता है ? *संक्षेप में, स्पिनोजा ईश्वर की एक गणितज्ञ के रूप में* कल्पना करता है जिसने गणित के सिद्धान्तों के आधार पर गणित के ग्रन्थ के समान सृष्टि की रचना की है। अतएव सब कुछ ईश्वर से ही अनिवार्यतः फलित होता है।

स्पिनोजा की पद्धति पर ही उसका ज्ञान-सिद्धान्त आधारित है। उसने अपनी पुस्तक-एथिका, के द्वितीय भाग में ज्ञान के सिद्धान्त का विकास किया। वह प्रत्यय के स्थान पर विचार शब्द का प्रयोग करता है। प्रत्यय की परिभाषा करते हुए उसने कहा : "प्रत्यय से मेरा अभिप्राय मन के ऐसे विचार से है जो मन चिन्तन होने के कारण करता है।" इस प्रकार विचार मन की क्रिया है। प्रत्यय अथवा चिन्तन ईश्वर का गुण है और चिन्तन तथा प्रत्यय में ईश्वर विद्यमान होता है। वह असंख्य वस्तुओं तथा असंख्य विकारों का चिन्तन करता है। स्पिनोजा के अनुसार, प्रत्ययों का क्रम तथा सम्बन्ध वही है जो वस्तुओं का क्रम एवं सम्बन्ध है। इस प्रकार स्पिनोजा तार्किक जगत् तथा वस्तु जगत् में अन्तर स्थापित नहीं करता। दोनों में समान नियम काम करते हैं।

स्पिनोजा का ज्ञान-सिद्धान्त मन और शरीर के सम्बन्ध का तात्विक आधार प्रदान करता है। वह ज्ञान के तीन स्तर मानता है जो निम्नलिखित हैं :—

(i) **सम्मति-ज्ञान** (Opinion)—अस्पष्ट तथा अपूर्ण प्रत्ययों का उद्गम संवेदनाओं तथा कल्पनाओं से होता है। इस प्रकार का ज्ञान सम्मति कहा जाता है। उसका आधार इन्द्रिय प्रत्यक्ष है और इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय शरीर के विभिन्न परिवर्तन हैं। अनपरखे अनुभव तथा मात्र कल्पनाओं से विशुद्ध ज्ञान नहीं मिल सकता। सम्मति के अन्तर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष, सहचारी प्रत्यय, स्मृति, शब्द, प्रतीति तथा परम्परा से प्राप्त ज्ञान आता है जो विश्वास योग्य नहीं होता। इनसे पर्याप्त ज्ञान नहीं मिल सकता। यह अस्पष्ट तथा अपर्याप्त प्रत्ययों का ज्ञान होता है।

(ii) **बौद्धिक-ज्ञान** (Reason) —*स्पष्ट तथा पूर्ण प्रत्यय भी होते हैं जिनसे* बौद्धिक-ज्ञान की प्राप्ति होती है। बुद्धि वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देखती है। वह उनके अनिवार्य सम्बन्धों को समझती है और उनके नित्य रूप अथवा सार्वभौम सार को ग्रहण करती है। बुद्धि वस्तुओं के विशिष्ट गुणों में सार्वभौम तथ्य को देखती है। ऐसी अनिवार्य तथा शाश्वत तथ्यता का ईश्वर की सत्ता से जो सम्बन्ध है उसे भलिभांति समझती है। ऐसा ज्ञान स्वयं-सिद्ध होता है। उसकी प्रामाणिकता उसी में निहित है। सत्य की मौलिक कसौटी उसकी आन्तरिक स्पष्टता है। जिस प्रकार प्रकाश स्वयं अपने को और अन्धकार को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सत्य अपने को और भ्रम को प्रकाशित करता है। देकार्त के समान स्पिनोजा भी प्रत्ययों की स्पष्टता तथा विशिष्टता को उनके सत्य की कसौटी मानता है।

(iii) प्रज्ञा–ज्ञान (Intuition)—स्पिनोजा प्रज्ञा ज्ञान को सर्वोच्च ज्ञान मानता है। यह बौद्धिक अन्तर्दृष्टि है। इस ज्ञान के द्वारा हर वस्तु को ईश्वर की सत्ता पर अनिवार्यतः और उसी से अनुसरित देखा जा सकता है। संवेदन तथा कल्पना द्वारा जगत् एवं ईश्वर की समग्रता (Totality) का ज्ञान नहीं होता। ये विश्व की एकता को समझने में असमर्थ हैं। वे वस्तुओं की एकता को नहीं जान पाते क्योंकि वे वस्तुओं की विस्तृत गणना में फँस जाते हैं। यही पक्षपात भ्रम तथा दोष का कारण है। संवेदन तथा कल्पना से वस्तु विशेष सार्वभौम की स्वतन्त्र सत्ता, प्रकृति में प्रयोजन, आत्माओं तथा देवों का अस्तित्व, मनुष्य की आकृति में ईश्वर स्वतन्त्र-संकल्प तथा अन्य ऐसे ही दोष उत्पन्न होते हैं। बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि कल्पना की इन सब बातों को गलत या असत्य ठहराते हैं। उन्हीं के द्वारा हम सत्य तथा भ्रम का भेद जान पाते हैं। बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा सम्पूर्णता का ज्ञान होता है। स्पिनोजा इस ज्ञान की कमी को भ्रम मानता है। कोई भी प्रत्यय स्वतः न तो सत्य है और न असत्य। प्रत्यय उस समय असत्य होता है जब उसका उपयुक्त विषय प्रस्तुत नहीं होता। जब उसका उपयुक्त विषय उसके साथ होता है वह प्रत्यय सत्य है। हम उस समय दोष में फंस जाते हैं जब हमें प्रत्यय की भ्रमात्मकता का ज्ञान नहीं होता है अर्थात् भ्रमात्मक प्रत्यय को भ्रम के रूप में नहीं जान पाते हैं।

स्पिनोजा की दार्शनिक पद्धति एवं ज्ञान-मीमांसा में उसी प्रकार गहरा सम्बन्ध है जिस प्रकार देकार्त की विधि एवं ज्ञान-सिद्धान्त में है। वह रेखागणित जैसी पद्धति को दर्शन में लागू करना चाहता है। यह पद्धति इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं हो सकती क्योंकि सार्वभौमिकता की कमी होती है। बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही उसकी गणितीय पद्धति से मेल खाता है। जिस प्रकार रेखागणित के निष्कर्ष अपनी स्वयं-सिद्धियों से अनिवार्यतः निकलते हैं उसी प्रकार दर्शन में बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि से प्राप्त सत्य भी अपने मूलाधार के स्वरूप से फलित होते हैं। इस प्रकार स्पिनोजा के दर्शन में बुद्धि की शक्ति तथा महत्ता पर अटल विश्वास पाया जाता है। वह स्वयं कहता है कि बुद्धि का स्वभाव यह नहीं है कि पदार्थों को वह आकस्मिक समझें, अपितु यह है कि वह उन्हें अनिवार्य समझे। यही उसके बुद्धिवाद का ठोस आधार है। बुद्धि के प्रत्यय सार्वभौम हैं क्योंकि वास्तव में वे ईश्वर की अनन्त बुद्धि के ही प्रत्यय हैं।

सार्वभौम द्रव्य (The Universal Substance)

स्पिनोजा ने अपनी दार्शनिक पद्धति को तत्वज्ञान के क्षेत्र में निष्ठापूर्वक लागू किया। यह कहा जाता है कि उसका तत्व-सिद्धान्त देकार्त के तत्व-दर्शन का परिष्कृत रूप है क्योंकि उसने देकार्त की द्रव्य-परिभाषा को अपने तत्वज्ञान का प्रारम्भिक विन्दु बनाया और तार्किक दृष्टि से वैसे निष्कर्ष अवतरित किये जैसेकि होने चाहिए।

देकार्त ने ईश्वर तथा प्रकृति, मन एवं शरीर का भेद स्थापित किया। मन का विश्लेपण (Attribute) चिन्तन (Thinking), और शरीर का विस्तार (Extension) बतलाया। देकार्त के अनुसार, मन तथा शरीर दो पृथक् द्रव्य हैं, पर वह ईश्वर को निरपेक्षतः स्वतन्त्र द्रव्य मानता है जिस पर ये दोनों द्रव्य आश्रित हैं। स्पिनोजा देकार्त के इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हुआ। स्पिनोजा ने कहा कि यदि द्रव्य वह है जिसे अपनी सत्ता के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है, यदि ईश्वर निरपेक्षतः स्वतन्त्र द्रव्य है और सब कुछ उसी पर आश्रित है, तो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं हो सकता। द्रव्य केवल एक ही हो सकता है। स्पिनोजा के अनुसार, मन तथा शरीर दोनों को स्वतन्त्र द्रव्य मानना घोर अन्तर्विरोध (Contradiction) होगा। ये दोनों ही निरपेक्ष द्रव्य (ईश्वर) के विशेपण हो सकते हैं। अतएव स्पिनोजा की दृष्टि में, ईश्वर ही निरपेक्ष द्रव्य हैं। चिन्तन तथा विस्तार उसके विशेपण (Attributes) हैं। ईश्वर ही समस्त सत्ता का कारण है। वही एक ऐसा सिद्धान्त है जो सब विशेषताओं का मूलाधार है। यदि देकार्त अपनी द्रव्य-परिभाषा का सही-सही अनुसरण करता तो एक ही द्रव्य की मान्यता पर्याप्त थी। किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उसके अन्तर्विरोध का निराकरण हमें स्पिनोजा के दर्शन में मिलता है।

स्पिनोजा ने स्वयं द्रव्य की परिभाषा दी और कहा : "द्रव्य से मेरा अभिप्राय उससे है जो अपने आप में है और अपने द्वारा चिन्त्य होता है। अन्य शब्दों में, द्रव्य वह है जिसका चिन्तन किसी अन्य वस्तु के चिन्तन पर आधारित नहीं होता।"[1] स्पिनोजा के अनुसार, ईश्वर ही निरपेक्ष द्रव्य है। चिन्तन तथा विस्तार उसके अनिवार्य विशेषण हैं। उसकी द्रव्य-परिभाषा से कुछ अनिवार्य परिणाम निकलते हैं जिन्हें यहाँ समझ लेना ठीक होगा—

(i) यदि द्रव्य निरपेक्षतः स्वतन्त्र है तो वह असीम होना चाहिए अन्यथा हम उसे स्वतन्त्र नहीं कह पायेंगे। ऐसा द्रव्य एक ही हो सकता, वरना वह अन्य द्रव्यों से सीमित होकर स्वतन्त्र नहीं रहेगा।

(ii) द्रव्य स्वतः निर्मित अथवा आत्म-कृत होता है। उसका अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं हो सकता अन्यथा अन्य द्वारा उत्पन्न होकर वह उस पर आश्रित होगा और उसकी निरपेक्षता एवं स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी।

(iii) द्रव्य इस अर्थ में स्वतन्त्र है कि उसे उसके बाहर की कोई वस्तु निश्चित नहीं करती। द्रव्य स्वतः निश्चित है। समस्त गुण तथा क्रियाएं द्रव्य के स्वभाव से उसी तरह अनिवार्यतः फलित होती है जिस तरह त्रिकोण की प्रकृति से उसकी विशेपताएं।

1. The Ethics (Concerning God), Translated by R. H. M. Elwe, 1945, P.312.

(iv) द्रव्य में, जैसा कि स्पिनोजा मानता है, वैयक्तिकता (Individuality) नहीं होती क्योंकि वैयक्तिकता का अर्थ है कुछ सीमाओं का होना जो वस्तुतः ईश्वर में नहीं है। व्यक्ति रूप में होने से वह परिमित हो जायेगा और स्वतन्त्र द्रव्य नहीं रह सकेगा।

(v) स्पिनोजा का कथन है 'समस्त नियतिकरण निषेध द्वारा होता है—"All determination is negation". इसलिए द्रव्य में मानव स्वभाव की भाँति न तो बुद्धि है और न संकल्प। द्रव्य चिन्तन नहीं करता। उसका कोई उद्देश्य नहीं होता और न वह कोई निर्णय करता है। प्रयोजन-विद्या उसके स्वभाव से बिल्कुल बाहर है। द्रव्य अद्वितीय है। ईश्वर ने सृष्टि का कार्य किसी प्रयोजन से किया है यह समझना भूल होगी।

(vi) निरपेक्ष द्रव्य अनिवार्य रूप में अनन्त (Infinite) है अर्थात् उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। द्रव्य में कारण तथा कार्य का भेद नहीं है क्योंकि उसके बाहर कुछ नहीं है।

स्पिनोजा के अनुसार, इस शाश्वत, निरपेक्ष, असीम, स्वतन्त्र, अनन्त अविभाज्य, आत्म-कृत तथा वस्तुओं के अनिवार्य सिद्धान्त (सार्वभौम द्रव्य) को मौलिक भाषा में प्रकृति और धार्मिक भाषा में ईश्वर कहते हैं। अतः सार्वभौम द्रव्य, प्रकृति तथा ईश्वर एक ही है। स्पिनोजा ने ईश्वर को एकमात्र द्रव्य माना है और इसलिए यह निष्कर्ष निकाला कि "जो कुछ है, ईश्वर में है और ईश्वर के बिना न किसी का अस्तित्व हो सकता है, न किसी का चिन्तन हो सकता है।" ईश्वर इस जगत् से बाहर नहीं है और न बाह्य रूप से उसका कारण है जैसा कि देकार्त का मत जान पड़ता है। स्पिनोजा देकार्त के ऐसे ईश्वरवाद को कि ईश्वर जगत् पर क्रिया करने वाला कोई बाह्य अनुभवातीत कारण है, स्वीकार नहीं करता। वह सर्वेश्वरवाद को मानता है जिसका अर्थ है कि ईश्वर जगत् में है और उसमें अन्तर्निहित सिद्धान्त है अर्थात् ईश्वर जगत् में है और जगत् ईश्वर में है। वही समस्त वस्तुओं का मूल स्रोत है। ईश्वर और जगत् एक है। दोनों अभेद रूप हैं। उनमें कारण-कार्य का कोई भेद नहीं है। ईश्वर अपने से बाहर ऐसी चीज को उत्पन्न नहीं करता जिसकी सत्ता उस पर निर्भर न हो। ईश्वर एक ऐसा द्रव्य है जो समस्त वस्तुओं की सत्ता का सार है। संक्षेप में, ईश्वर को सक्रिय सिद्धान्त या समस्त वास्तविकता का मूल होने के नाते स्पिनोजा 'वस्तुओं का सार्वभौम सिद्धान्त' या 'कारण-प्रकृति' (Natura Naturaus) कहता है और वस्तुओं की अनेकता या सिद्धान्त के कार्यों के रूप में वह ईश्वर को 'समस्त वस्तुओं का योग' या 'कार्य प्रकृति' (Natura Naturata) मानता है। सम्पूर्ण दृश्य तथा अदृश्य का मूल स्रोत ईश्वर ही है। ईश्वर तथा सृष्टि में कोई विभाजक रेखा नहीं है। जहाँ-जहाँ सृष्टि है, वहाँ-वहाँ ईश्वर है।

स्पष्टतः स्पिनोजा अद्वैतवादी। वह मूलतः एक ही द्रव्य को मानता है। उसका निरपेक्ष द्रव्य शंकर के 'ब्रह्म' के समान प्रतीत होता है। द्रव्य उसी प्रकार सर्वव्यापी है तथा अवर्णनीय है जिस प्रकार ब्रह्म है। किन्तु शंकर तथा स्पिनोजा में मौलिक भिन्नताएँ हैं। स्पिनोजा जगत् को शंकर की भाँति एक विवर्त नहीं मानता और न मायावाद को अपने अद्वैतवादी दर्शन में कोई महत्व देता है। ईश्वर और जगत् दोनों ही यथार्थ हैं।

स्पिनोजा के अनुसार, समस्त जगत् ईश्वर है और ईश्वर समस्त जगत् है। जो कुछ सार्वभौम द्रव्य अपनी सम्पूर्णता में है वही कारण तथा कार्य है। द्रव्य के जो विशेषण हैं वही उस कारण के कार्य कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार सेव अपने लाल रंग का, दूध अपने सफेद रंग का, कारण है उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि का कारण है। इस दृष्टि से, ईश्वर सृष्टि का स्थायी द्रव्य है और द्रव्य की सृष्टि का नानारूप है। प्राकृतिक नियम ईश्वर के नियम हैं और उनमें परिवर्तन नहीं किये जा सकते। इस प्रकार स्पिनोजा ईश्वरीय नियतिवाद की स्थापना करता है। जहाँ तक ईश्वर की सत्ता के प्रमाणों का सम्बन्ध है, वह देकार्त की भाँति ही उन्हें प्रस्तुत करता है :—

(i) ईश्वर का प्रत्यय स्पष्ट तथा विशिष्ट है। उसमें अनन्तता का लक्षण है। अतएव उसका अस्तित्व है।

(ii) ईश्वर के प्रत्यय में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। न ही उसमें किसी प्रकार भेद है अतः उसका अस्तित्व संभव है।

(iii) सभी प्राणी सीमित एवं अपूर्ण हैं। वे अपना कारण आप नहीं हो सकते। ईश्वर असीम तथा पूर्ण है जो हम सबका मूलाधार है।

(iv) जो असीम है उसी में असीम बल संभव है। ईश्वर अनिवार्य रूप से प्रथम कारण है और वह स्वतः कारक है; वस्तुतः संयोगी नहीं है।

(v) सभी वस्तुएँ आरम्भ से ईश्वर द्वारा निर्णीत थी, उसके स्वतन्त्र या शुभ संकल्प द्वारा नहीं, अपितु उसकी निरपेक्ष प्रकृति या अनन्त शक्ति द्वारा।

स्पिनोजा के अनुसार, मानव प्राणियों की भाँति ईश्वर में इच्छा, संकल्प, दया, क्षमा, प्रेम, कृपा आदि कोई गुण नहीं हैं। वह निर्विकार एवं निराकार है। यही कारण है कि यहूदी समाज उससे रुष्ट हो गया और उसे घोर नास्तिक की संज्ञा दी। फलतः उसे कट्टरपंथियों तथा ईसाई धर्मशास्त्रियों के कोप का शिकार होना पड़ा। बौद्धिक दृष्टि से इस प्रकार का आरोप लगाना ठीक नहीं है। वस्तुतः स्पिनोजा ने ईश्वर में मानवीय गुणों का निषेध करके उसे मानवीय सीमाओं तथा दुर्बलताओं से मुक्त रखा और धर्म को अधिक ठोस आधार देने का प्रयास किया। संक्षेप में, ईश्वर की मानव रूप में धारणा का कोई भी बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक आधार विचार-संगत नहीं लगता। अतएव स्पिनोजा ने अपनी बुद्धिवादी विचारधारा में ईश्वर के विषय में जो कहा वह युक्तियुक्त लगता है।

ईश्वर के विशेषण (Attributes of God)

ईश्वर अथवा द्रव्य में असंख्य विशेषण होते हैं। विशेषण से स्पिनोजा का तात्पर्य द्रव्य के उस सार से है जिसको बुद्धि जान पाती है। कुछ विद्वान्, हेगेल तथा एर्डमन्न, यह समझते हैं कि विशेषण ज्ञान के रूप में है। वह वस्तुतः ईश्वर में न होकर हमारी बुद्धि द्वारा ईश्वर में आरोपित किये जाते हैं। यह आदर्शवादी दृष्टि-कोण है। अन्य विद्वान्, कुनोफिशर आदि, विशेषणों को ईश्वर के स्वरूप की वास्त-विक अभिव्यंजना मानते हैं, न कि मानव बुद्धि का रूपमात्र। स्पिनोजा इसी दृष्टि-कोण के अधिक समीप है। उसने वस्तुओं के असीम आधार में सीमित मानवी गुणों का आरोपण करने में संकोच किया क्योंकि सारा नियतिकरण निषेध है। किन्तु उसने असीम द्रव्य में असीम संख्यक विशेषणों को मानकर इस कठिनाई से बचना चाहा। ईश्वर का हरेक विशेषण अपने में असीम तथा नित्य है। ईश्वर इतना महान् है कि उसमें असीम गुण असीम मात्रा में होते हैं।

इन असीम गुणों में से मानवी मन केवल दो गुणों को ही जान पाता है। प्रकृति या ईश्वर अपने को अनेक रूपों में भी अभिव्यक्त करता है जिनमें से मनुष्य केवल विस्तार और विचार (Extension and Thought) को ही ज्ञात कर पाता है जिन्हें क्रमशः पुद्गल और आत्मा (जगत् और जीव) भी कहते हैं। इसलिए ईश्वर (प्रकृति) कम से कम मन और पदार्थ दोनों है। जहाँ आकाश और पुद्गल हैं वहाँ आत्मा और मन भी हैं। जहाँ आत्मा और मन हैं वहाँ आकाश और पुद्गल भी हैं। विस्तार और विचार दोनों द्रव्य के अनिवार्य विशेषण हैं। अतएव दोनों वहाँ होंगे जहाँ द्रव्य होगा। द्रव्य सर्वत्र व्यापक है। वह असीम है। अतः दोनों विशेषण सर्वत्र मिलेंगे। दोनों ही विशेषण अपने प्रकार के हैं, किन्तु वे निरपेक्षतः असीम नहीं हैं क्योंकि ईश्वर के अनेक गुण हैं जिनमें से कोई भी निरपेक्षतः असीम नहीं है। दोनों ही विशेषण परस्पर एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। उनमें कोई अन्तर्क्रिया नहीं है। मन शरीर में और शरीर मन में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। जब दोनों में कोई पारस्परिक समानता ही नहीं है तो वे एक दूसरे का कारण नहीं हो सकते। यहाँ स्पिनोजा संयोगवादियों और मेलेब्रांश की धारणा को स्वीकार कर लेता है कि समान से समान की ही उत्पत्ति हो सकती है। मन गति को और गति मन को उत्पन्न नहीं कर सकते।

स्पिनोजा कहता है कि हम मानसिक को भौतिक द्वारा विश्लेषित नहीं कर सकते जैसा कि भौतिकवाद (Materialism) में होता है और न भौतिक की मान-सिक के द्वारा व्याख्या कर सकते हैं जैसा कि अध्यात्मवाद (Spiritualism) करता है। भौतिक एवं अध्यात्म दोनों ही एक सार्वभौम द्रव्य की अभिव्यक्तियाँ हैं। विस्तार और विचार दोनों का स्तर बराबर है क्योंकि वे एक ही कारण द्रव्य के कार्य हैं।

स्पष्टतः स्पिनोजा अद्वैतवादी। वह मूलतः एक ही द्रव्य को मानता है। उसका निरपेक्ष द्रव्य शंकर के 'ब्रह्म' के समान प्रतीत होता है। द्रव्य उसी प्रकार सर्वव्यापी है तथा अवर्णनीय है जिस प्रकार ब्रह्म है। किन्तु शंकर तथा स्पिनोजा में मौलिक भिन्नताएँ हैं। स्पिनोजा जगत् को शंकर की भाँति एक विवर्त नहीं मानता और न मायावाद को अपने अद्वैतवादी दर्शन में कोई महत्व देता है। ईश्वर और जगत् दोनों ही यथार्थ हैं।

स्पिनोजा के अनुसार, समस्त जगत् ईश्वर है और ईश्वर समस्त जगत् है। जो कुछ सार्वभौम द्रव्य अपनी सम्पूर्णता में है वही कारण तथा कार्य है। द्रव्य के जो विशेषण हैं वही उस कारण के कार्य कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार सेव अपने लाल रंग का, दूध अपने सफेद रंग का, कारण है उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि का कारण है। इस दृष्टि से, ईश्वर सृष्टि का स्थायी द्रव्य है और द्रव्य की सृष्टि का नानारूप है। प्राकृतिक नियम ईश्वर के नियम हैं और उनमें परिवर्तन नहीं किये जा सकते। इस प्रकार स्पिनोजा ईश्वरीय नियतिवाद की स्थापना करता है। जहाँ तक ईश्वर की सत्ता के प्रमाणों का सम्बन्ध है, वह देकार्त की भाँति ही उन्हें प्रस्तुत करता है :—

(i) ईश्वर का प्रत्यय स्पष्ट तथा विशिष्ट है। उसमें अनन्तता का लक्षण है। अतएव उसका अस्तित्व है।

(ii) ईश्वर के प्रत्यय में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। न ही उसमें किसी प्रकार भेद है अतः उसका अस्तित्व संभव है।

(iii) सभी प्राणी सीमित एवं अपूर्ण हैं। वे अपना कारण आप नहीं हो सकते। ईश्वर असीम तथा पूर्ण है जो हम सबका मूलाधार है।

(iv) जो असीम है उसी में असीम बल संभव है। ईश्वर अनिवार्य रूप से प्रथम कारण है और वह स्वतः कारक है; वस्तुतः संयोगी नहीं है।

(v) सभी वस्तुएँ आरम्भ से ईश्वर द्वारा निर्णीत थी, उसके स्वतन्त्र या शुभ संकल्प द्वारा नहीं, अपितु उसकी निरपेक्ष प्रकृति या अनन्त शक्ति द्वारा।

स्पिनोजा के अनुसार, मानव प्राणियों की भाँति ईश्वर में इच्छा, संकल्प, दया, क्षमा, प्रेम, कृपा आदि कोई गुण नहीं हैं। वह निर्विकार एवं निराकार है। यही कारण है कि यहूदी समाज उससे रुष्ट हो गया और उसे घोर नास्तिक की संज्ञा दी। फलतः उसे कट्टरपंथियों तथा ईसाई धर्मशास्त्रियों के कोप का शिकार होना पड़ा। बौद्धिक दृष्टि से इस प्रकार का आरोप लगाना ठीक नहीं है। वस्तुतः स्पिनोजा ने ईश्वर में मानवीय गुणों का निषेध करके उसे मानवीय सीमाओं तथा दुर्बलताओं से मुक्त रखा और धर्म को अधिक ठोस आधार देने का प्रयास किया। संक्षेप में, ईश्वर की मानव रूप में धारणा का कोई भी बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक आधार विचार-संगत नहीं लगता। अतएव स्पिनोजा ने अपनी बुद्धिवादी विचारधारा में ईश्वर के विषय में जो कहा वह युक्तियुक्त लगता है।

ईश्वर के विशेषण (Attributes of God)

ईश्वर अथवा द्रव्य में असंख्य विशेषण होते हैं। विशेषण से स्पिनोजा का तात्पर्य द्रव्य के उस सार से है जिसको बुद्धि जान पाती है। कुछ विद्वान्, हेगेल तथा एर्डमन्न, यह समझते हैं कि विशेषण ज्ञान के रूप में है। वह वस्तुतः ईश्वर में न होकर हमारी बुद्धि द्वारा ईश्वर में आरोपित किये जाते हैं। यह आदर्शवादी दृष्टिकोण है। अन्य विद्वान्, कुनोफिशर आदि, विशेषणों को ईश्वर के स्वरूप की वास्तविक अभिव्यंजना मानते हैं, न कि मानव बुद्धि का रूपमात्र। स्पिनोजा इसी दृष्टिकोण के अधिक समीप है। उसने वस्तुओं के असीम आधार में सीमित मानवी गुणों का आरोपण करने में संकोच किया क्योंकि सारा नियतिकरण निषेध है। किन्तु उसने असीम द्रव्य में असीम संख्यक विशेषणों को मानकर इस कठिनाई से वचना चाहा। ईश्वर का हरेक विशेषण अपने में असीम तथा नित्य है। ईश्वर इतना महान् है कि उसमें असीम गुण असीम मात्रा में होते हैं।

इन असीम गुणों में से मानवी मन केवल दो गुणों को ही जान पाता है। प्रकृति या ईश्वर अपने को अनेक रूपों में भी अभिव्यक्त करता है जिनमें से मनुष्य केवल विस्तार और विचार (Extension and Thought) को ही ज्ञात कर पाता है जिन्हें क्रमशः पुद्गल और आत्मा (जगत् और जीव) भी कहते हैं। इसलिए ईश्वर (प्रकृति) कम से कम मन और पदार्थ दोनों है। जहाँ आकाश और पुद्गल हैं वहाँ आत्मा और मन भी हैं। जहाँ आत्मा और मन हैं वहाँ आकाश और पुद्गल भी हैं। विस्तार और विचार दोनों द्रव्य के अनिवार्य विशेषण हैं। अतएव दोनों वहाँ होंगे जहाँ द्रव्य होगा। द्रव्य सर्वत्र व्यापक है। वह असीम है। अतः दोनों विशेषण सर्वत्र मिलेंगे। दोनों ही विशेषण अपने प्रकार के हैं, किन्तु वे निरपेक्षतः असीम नहीं हैं क्योंकि ईश्वर के अनेक गुण हैं जिनमें से कोई भी निरपेक्षतः असीम नहीं है। दोनों ही विशेषण परस्पर एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। उनमें कोई अन्तर्क्रिया नहीं है। मन शरीर में और शरीर मन में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। जब दोनों में कोई पारस्परिक समानता ही नहीं है तो वे एक दूसरे का कारण नहीं हो सकते। यहाँ स्पिनोजा संयोगवादियों और मेलेब्रांश की धारणा को स्वीकार कर लेता है कि समान से समान की ही उत्पत्ति हो सकती है। मन गति को और गति मन को उत्पन्न नहीं कर सकते।

स्पिनोजा कहता है कि हम मानसिक को भौतिक द्वारा विश्लेषित नहीं कर सकते जैसा कि भौतिकवाद (Materialism) में होता है और न भौतिक की मानसिक के द्वारा व्याख्या कर सकते हैं जैसा कि अध्यात्मवाद (Spiritualism) करता है। भौतिक एवं अध्यात्म दोनों ही एक सार्वभौम द्रव्य की अभिव्यक्तियाँ हैं। विस्तार [illegible]चार दोनों का स्तर बराबर है क्योंकि वे एक ही कारण द्रव्य के कार्य हैं।

यहाँ स्पिनोजा भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद को साथ-साथ संयोजित करने का प्रयास करता प्रतीत होता है। एक दृष्टि से पुरुष की अविभाज्य प्रकृति आकाशगत है। दूसरी दृष्टि से, वह प्रत्यत्मक जगत् है। दोनों विशेषण एक दूसरे के समानान्तर हैं। जहाँ-जहाँ मानसिक प्रक्रियाँ हैं वहाँ-वहाँ भौतिक भी हैं। जहाँ-जहाँ भौतिक हैं वहाँ-वहाँ मानसिक भी हैं। उनमें कोई अन्तर्क्रिया नहीं है, बल्कि दोनों का साहचर्य है। दोनों अपनी-अपनी स्थिति में रहते हुए भी सम्बन्धित हैं। इसे मानसिक-भौतिक सहचारवाद (Psycho-Physical-Parallelism) कहते हैं। एक क्षेत्र का क्रम और तारतम्य वही है जो दूसरे का। मन और शरीर दोनों एक ही द्रव्य की अभिव्यक्तियाँ हैं। दोनों समानान्तर हैं। स्पष्टतः देकार्त के द्वैतवाद के स्थान पर स्पिनोजा ने एकतत्ववाद, ईश्वरवाद के स्थान पर सर्वेश्वरवाद, और अन्तःक्रियावाद के स्थान पर मानसिक-भौतिक सहपारवाद की स्थापना की।

प्रकारों का सिद्धान्त (Doctrine of Modes)

विशेपण विभिन्न प्रकारों (Modes) में अभिव्यक्त होते हैं। प्रकारों से स्पिनोजा का तात्पर्य द्रव्य की परिवर्तित आकृतियों से है अर्थात् प्रकार वस्तु की आकृति के अतिरिक्त दिखाई नहीं दे सकता। विस्तार के विशेषण की अभिव्यक्ति विशेष वस्तुओं में होती है और चिन्तन के विशेषण की अभिव्यंजना विशेष प्रत्ययों अथवा संकल्प–क्रियाओं के प्रकारों में होती है। विशेष वस्तुओं और प्रत्ययों के अतिरिक्त अमूर्त विचार और अमूर्त विस्तार जैसी कोई चीज नहीं है। उनकी प्रतीति सदैव विशेष प्रत्ययों और विशेष वस्तुओं में होती है।

वैयक्तिक दृष्टि से, मन और शरीर, द्रव्य के ससीम व्यावहारिक प्रकार है। मानव प्राणियों के अलग-अलग मन चिन्तन के विशेषणों में आते हैं, जबकि वस्तुएँ विस्तार के विशेषण के अन्तर्गत। नित्य असीम द्रव्य अपने को सदैव विभिन्न प्रकारों में, नित्य तथा अनिवार्य मानसिक और भौतिक आकृतियों में अथवा प्रत्ययों और वस्तुओं की व्यवस्था में व्यक्त करता है। इस तरह की असीम और अनिवार्य प्रत्ययात्मक व्यवस्था को स्पिनोजा निरपेक्षतः असीम बुद्धि कहता है। विस्तार के प्रकारों की व्यवस्था को वह गति और विश्राम कहता है। गति और विश्राम विस्तार के प्रकार हैं। विस्तार के बिना उनका अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। ईश्वर की असीम बुद्धि, गति तथा विश्राम की समस्त व्यवस्था सम्पूर्ण विश्व का चित्र व्यक्त करती है। समस्त विश्व जैसा है वैसा ही रहता है। उसमें स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता, हालांकि उसके अंशों में परिवर्तन होता रहता है। अन्य शब्दों में, प्रकृति या ईश्वर एक ऐसा अवयव (Organism) है जिसके विभिन्न तत्त्व परिवर्तित होते रहते हैं। लेकिन उसकी सम्पूर्ण मुखाकृति सदैव एक सी रहती है।

विशेष ससीम वस्तु तथा मन निरपेक्ष द्रव्य, ईश्वर के प्रत्यक्ष कार्य नहीं हैं। प्रत्येक ससीम वस्तु का अपना निमित्त कारण (Efficient Cause) किसी अन्य

ससीम वस्तु में होता है। इसी तरह कारण-कार्य की व्यवस्था ससीम वस्तुओं में होती है। किन्तु विशेष प्रत्ययों तथा विशेष वस्तुओं की कारण-कार्यमूलक शृंखलाएँ अलग-अलग होती हैं। विशेष प्रत्यय का कारण विशेष प्रत्यय ही होगा। इसी भाँति प्रत्येक विशेष वस्तु का कारण विशेष वस्तु ही होगी। विशेष के बिना विशेष की सत्ता नहीं हो सकती। विशिष्ट वस्तुओं की सत्ता सार्वभौम द्रव्य के लिए अनिवार्य नहीं है। विशेष वस्तुओं अथवा प्रत्ययों का अवतरण सीधे ईश्वर से नहीं होता। सार्वभौम द्रव्य (ईश्वर) से तो विचार तथा विस्तार ही फलित होते हैं जो अपने को विभिन्न प्रकारों में अभिव्यक्त करते हैं। इसलिए विस्तार और विचार दोनों ही प्रकारों के रूप वस्तु बन जाते हैं जिन्हें मानवी बुद्धि भलीभाँति जान पाती है।

स्पिनोजा की यह स्पष्ट मान्यता है कि हम सार्वभौम द्रव्य की धारणा से विशिष्ट वस्तु-या ससीम प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं कर सकते। ससीम प्रकारों की उत्पत्ति सार्वभौम द्रव्य से नहीं हो सकती अर्थात् धारणा से विशेष का निगमन नहीं किया जा सकता। किन्तु स्पिनोजा का यह विश्वास है कि द्रव्य से हम विस्तार और विचार की अनिवार्य उत्पत्ति मान सकते हैं। जिस प्रकार त्रिभुज से उसके सारे गुण अवतरित होते हैं उसी प्रकार जगत् के सारे गुण द्रव्य से अनिवार्यतः फलित होते हैं। त्रिभुज की धारणा से हम विभिन्न त्रिभुजों की सत्ता, संख्या, आकार तथा आकृति का निगमन नहीं कर सकते। इसी प्रकार द्रव्य की धारणा से हम जगत् की विभिन्न ससीम वस्तुओं की सत्ता और गुणों का आविर्भाव नहीं मान सकते। द्रव्य की धारणा से उनका अनिवार्यतः आविर्भाव नहीं होता। द्रव्य में जो असंख्य विशेषण हैं उनमें से केवल विस्तार और विचार को मानवी बुद्धि जान पाती है। फिर ये दोनों ही अपने विभिन्न प्रकारों में अभिव्यक्त होते हैं। इस तरह प्रकारों (Modes) की सत्ता संयोगात्मक तथा आकस्मिक ही है। स्पिनोजा उनकी इस ढंग से व्याख्या करता है कि विशेष वस्तुएँ अन्य विशेष वस्तुओं के कार्य हैं। यहाँ पर विशेष वस्तु की विशेष के द्वारा व्याख्या में हम मामूली वैज्ञानिक विश्लेषण तक ही सीमित हो जाते हैं जो अधिक गम्भीर नहीं है। शाश्वत दृष्टि से, यहाँ बौद्धिक व्याख्या का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में मनुष्य की सीमित बुद्धि यह नहीं समझ पाती कि अमूर्त द्रव्य से मूर्त जगत् का जन्म किस प्रकार होता है।

शाश्वत दृष्टि से देखा जाये तो ईश्वर असीम विशेषणों का नाम है। काल अथवा कल्पना की दृष्टि से, ईश्वर जगत् है। यह स्मरण रहे कि प्रकृति (द्रव्य या ईश्वर) इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा कल्पना में अनेक रूपों में प्रतीत होती है जो अपूर्ण दृष्टि-कोण है। हमारी बुद्धि के लिए, प्रकृति एक सार्वभौम द्रव्य है और विशेष वस्तुएँ उसी के सीमित रूप हैं। विशेष अन्य विशेष रूपों का, जिनके द्वारा द्रव्य अपने को व्यक्त करता है, निषेध है। अतः कोई भी प्रकार द्रव्य के प्रकार में ही रह सकता है। द्रव्य स्थाई सिद्धान्त है। वह नित्य मूलाधार है। प्रकार सदैव परिवर्तनशील

हैं। इसलिए कोई विशिष्ट प्रकार स्थाई तथा निन्य न होकर, सार्वभौम द्रव्य की क्षणिक अभिव्यक्ति है !

स्पिनोजा द्वारा प्रतिपादित 'प्रकारों का सिद्धान्त' उसकी बुद्धिवादी मान्यताओं पर आधारित है। तार्किक दृष्टि से, विशिष्ट ससीम प्रकारों का ईश्वर से सीधे अवतरण नहीं हो सकता। इसलिए उनमें कोई वास्तविकता अथवा अनिवार्यता नहीं है। वे अवास्तविक हैं अर्थात् यथार्थ नहीं हैं। अनुभव से तो यह मालूम पड़ता है कि यद्यपि विशेष प्रकार स्थिर नहीं होते, फिर भी वे जिस श्रेणी (जाति-वर्ग) के होते हैं वह सदा रहती है। अतएव प्रकार इस अर्थ में असीम, शाश्वत तथा अनिवार्य हैं कि वे विश्व के रूप में परिवर्तित नहीं होते। किन्तु स्पिनोजा इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। विशेष प्रकारों की स्थिति अनिवार्यतः द्रव्य से ही फलित होनी चाहिए। क्योंकि द्रव्य ही तो उनका मूलाधार है। और जबकि हरेक वस्तु एवं विचार द्रव्य से ही उद्भूत होता है। न तो स्पिनोजा प्रकारों को भ्रम मात्र और असत्य मान सकता है और न दूसरी ओर उनको यथार्थ ठहरा सकता है। यह विचित्र स्थिति है। जगत् की बुद्धिमूलक व्याख्या करने के प्रयास में स्पिनोजा इस कठिनाई में पड़ जाता है। वह ज्यामितीय पद्धति से जगत् की व्याख्या करना चाहता है जब कि दूसरी ओर वह तथ्यों की भी अवहेलना करना नहीं चाहता। तर्क तथा तथ्य दोनों के प्रति न्याय करने के प्रयास में, स्पिनोजा ने ईश्वर के अनिवार्य प्रकारों और अनित्य प्रकारों में भेद भी स्थापित किया। फिर भी उसके दर्शन में द्रव्य, विशेषणों तथा प्रकारों के सम्बन्धों को लेकर परस्पर विरोधी विचार दिखलाई पड़ते हैं। वह उनको अलग-अलग मानता है, पर तीनों में अनिवार्य सम्बन्ध प्रतीत होते हैं जिन्हें विस्मृत नहीं किया जा सकता।

ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम (Intellectual Love of God)

ईश्वर नित्य है और स्वतः बुद्धि के समान है। वह अनिवार्य रूप में विद्यमान है। वह अकेला है। उसका अस्तित्व और उसकी क्रिया उसकी प्रकृति की अनिवार्यता का परिणाम है। स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम को मनुष्य का सर्वोच्च शुभ माना गया है। अपने विकारात्मक कारण के रूप में प्रज्ञा-ज्ञान मन पर आधारित है जिस अंश में कि मन नित्य है। प्रज्ञा-ज्ञान ईश्वर के विशेप गुणों के पर्याप्त प्रत्यय से चलकर वस्तुओं के सार के पर्याप्त ज्ञान पर पहुँचता है और जितना अधिक हम वस्तुओं को इस तरह जानते हैं उतना ही अधिक हम ईश्वर को समझते हैं। इसलिए स्पिनोजा के अनुसार, मानवीय मन की सबसे बड़ी श्रेष्ठता उसका सबसे बड़ा प्रयास वस्तुओं एवं विचारों को ईश्वर के विशेप गुणों के प्रसंग में समझना है। यही आदमी को भारी संतोप प्रदान करता है। कोई भी जितना ही इस ज्ञान की ओर बढ़ेगा वह उतना ही आधक पूर्ण होगा। उसकी प्रसन्नता बढ़ेगी। संक्षेप में, प्रज्ञा-ज्ञान से ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम उदित होता है।

ईश्वर के बौद्धिक प्रेम की व्याख्या में स्पिनोजा ने कुछ आकर्षक विचार प्रस्तुत किये हैं। उसके अनुसार, प्रज्ञा-ज्ञान से अनिवार्यतः ईश्वर का बौद्धिक प्रेम उदित होता है। इस ज्ञान से यह पता लगता है कि ईश्वर कारण है। इससे प्रसन्नता उदित होती है। ईश्वर के बौद्धिक से उसका तात्पर्य यही नहीं है कि ईश्वर विद्य-मान है, अपितु यह भी है कि वह नित्य है। इस प्रकार ईश्वर का बौद्धिक प्रेम भी नित्य है अर्थात् उसका कोई आदि नहीं है। वह पूर्ण प्रेम है तथा उसमें मन की पूर्णता है। इससे यह निष्कर्ष भी अवतरित होता है कि बौद्धिक प्रेम के अलावा और कोई प्रेम नित्य नहीं है। स्पिनोजा ने यह भी लिखा है कि ईश्वर अपने आपको अनन्त बौद्धिक प्रेम से प्रेम करता है। अनन्त ईश्वर का अनन्त स्वरूप असीम आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है। ईश्वर के प्रति आदमी का बौद्धिक प्रेम उस प्रेम का अंश है जिससे ईश्वर के बौद्धिक प्रेम में मनुष्य का मन ईश्वरीय बन जाता है। इस प्रकार मानवीय बौद्धिक प्रेम ईश्वर प्रेम बन जाता है। ईश्वर से बौद्धिक प्रेम करने में मनुष्य ईश्वर के अपने प्रति प्रेम में सहभागी होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर, जहाँ तक कि वह अपने आप से प्रेम करता है, मनुष्यों से प्रेम करता है और इसके फलस्वरूप मानव प्राणियों के प्रति ईश्वर का प्रेम और ईश्वर के प्रति मानव प्राणियों का बौद्धिक प्रेम एक ही वस्तु है। अन्य शब्दों में, स्पिनोजा के अनुसार, मनुष्य को मोक्ष, आप्तकामता तथा स्वाधीनता का अर्थ ईश्वर के प्रति स्थिर तथा नित्य प्रेम है। यह मानव प्राणियों को वास्तविक संतोष प्रदान करता है। मानवी मन का सार प्रज्ञा-ज्ञान में निहित है जिसका मूला-धार ईश्वर है। ईश्वर के स्वरूप से मन का स्वरूप बनता है। सृष्टि में ऐसी कोई बात नहीं है जो आदमी को ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम से अलग करती हो। ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम मन के स्वरूप का अनिवार्य परिणाम है। मन एक ऐसा सत्य है जो ईश्वर की प्रकृति की प्रकट नित्यता है। अतः बौद्धिक प्रेम मनुष्य की स्वाभा-विक अभिव्यक्ति है प्रे। इसम से जो विपरीत है वह असत्य है।

स्पिनोजा के अनुसार, ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम से मनुष्य को न केवल संतोष प्राप्त होता है, अपितु मृत्यु से भी अभय प्राप्त होता है। ईश्वर के प्रति प्रेम को वह आप्तकामता मानता है। आप्तकामता श्रेष्ठ आचार का प्रतिफल नहीं है। वस्तुतः वह श्रेष्ठ आचार ही है। अतः मनुष्य का ईश्वर के प्रति जितना ही बौद्धिक प्रेम बढ़ता है वह उतना ही अधिक आप्तकाम बनता है और वह अपनी कामवासनाओं पर उतना ही नियंत्रण कर लेता है। वासनाएँ आदमी को निम्न स्तर पर ला पटकती हैं। मनुष्य ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम से वासनाओं पर नियन्त्रण करने की शक्ति प्राप्त करता है क्योंकि बुद्धि ही वासनाओं पर विजय प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार बौद्धिक प्रेम के द्वारा मनुष्य स्वाधीन बनता है। वह बलवान तथा प्रगतिशील

भी होता है। उसे ईश्वर का तथा पदार्थों का सही-सही ज्ञान होता है। वह ज्ञान कभी समाप्त नहीं होता। मनुष्य मन की तुष्टि का उपभोग करता है। संक्षेप में, ईश्वरीय प्रेम का मार्ग बड़ा ही कठिन है और उस पर विरले ही व्यक्ति चल पाते हैं। ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम ही मानव जीवन का सर्वोच्च शुभ है।

मन और शरीर का सम्बन्ध (Relation of Mind and Body)

देकार्त ने मन तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या यांत्रिक आधार पर की और उसके उत्तराधिकारियों ने उस सम्बन्ध को संयोगवाद का नाम दिया। स्पिनोजा ने इन विचारों को स्वीकार नहीं किया। उसने मन-शरीर सम्बन्ध के विषय में समानान्तर के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की। उसका यह विचार ईश्वर की धारणा पर आधारित है।

स्पिनोजा ईश्वर को एक पूर्ण तथा सर्वव्याप्त सत्ता मानता है। उसका कहना है कि चिन्तन और विस्तार एक ही द्रव्य के दो विशेष हैं। मन और शरीर एक ही द्रव्य के दो पहलू हैं। अतः मन और शरीर में अन्तर होते हुए भी वे एक ही द्रव्य में अविभूत हैं। दोनों का सम्बन्ध ईश्वर से है। वे उसी सत्ता के चिन्तन और विस्तार के रूप हैं। एक ही द्रव्य के गुण के आकार होने के नाते दोनों सदैव एक दूसरे से मिलते रहते हैं, हालांकि कार्यात्मक रूप में मन तथा शरीर अलग-अलग जान पड़ते हैं। शरीर पर सदैव बाह्य पदार्थों के प्रभाव पड़ते रहते हैं। फलतः शरीर में निरन्तर नये परिवर्तन जान पड़ते हैं। इन नवीन शारीरिक भेदों का बोध मन को होता रहता है। शरीर में जितने परिवर्तन होते हैं, मन उनको उन्हीं रूपों में जान सकता है। उनके वास्तविक रूप में वह उन्हें नहीं जान सकता। इससे यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि शरीर मन को और मन शरीर को प्रभावित नहीं करते। शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन एक ही तत्त्व से सम्बन्धित हैं। वह तत्त्व ईश्वर है। शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन एक दूसरे के समानान्तर हैं। इस प्रकार स्पिनोजा ने देकार्त के द्वैतवाद को स्वीकार न कर, अपने मन-शरीर के सम्बन्ध को अद्वैतवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। सभी क्रियाएँ, चाहे वे मानसिक हों अथवा शारीरिक, पूर्व निर्धारित होती हैं जिनका मूल कारण ईश्वर ही है।

स्पिनोजा यह मानता है कि मनुष्य का मन ईश्वर की असीम बुद्धि का एक आकार मात्र है। जब यह देखा जाता है कि मनुष्य का मन अमुक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है तो इसका अर्थ यही है कि उनके प्रत्यय ईश्वर में विद्यमान हैं। जो परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं वे एक ही मूल सत्ता के विभिन्न पहलू हैं। मन शरीर को प्रभावित नहीं करता और न शरीर मन को प्रभावित करता है। स्पिनोजा के अनुसार, यह शरीर के अधिकार में नहीं है कि वह मन को चिन्तनात्मक कार्यों में लगा सके और न यह मन के अधिकार में है कि वह शरीर को गति या विश्राम में ला सके। मनुष्य अपने मन के आधार पर स्वतन्त्र कार्य नहीं कर सकता। उसकी संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है। मन जो कुछ कार्य करता है

वह पूर्व-निर्धारित कारण से ही करता है। प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि पूर्व-निर्धारित होती है। अतः स्पिनोजा नियतिवाद का समर्थक है। उसके अनुसार, जिस प्रकार चिन्तन के प्रत्यय मन में क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित होते हैं, उसी प्रकार शरीर में पदार्थों के रूप–भेद उनके क्रम के अनुसार क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित होते हैं। इस प्रकार स्पिनोजा शारीरिक तथा मानसिक दोनों क्षेत्रों में नियतिवाद तथा समानान्तरवाद का प्रतिपादन करता है।

नीतिशास्त्र (Ethics)

पूर्व विवरण से यह स्पष्ट लगता है कि स्पिनोजा का तत्व-दर्शन देकार्त के तत्वज्ञान का परिवर्धित रूप है। किन्तु उसका नीतिशास्त्र अपने आप में मौलिक है और उसकी अपनी विशेषता है।

स्पिनोजा आत्मा की स्वतन्त्र अभौतिक सत्ता को नहीं मानता। प्रत्यय केवल मन में विद्यमान रहते हैं और मन विभिन्न प्रकार के बोधों के समूह का ही नाम है। एक ही द्रव्य की सत्ता है जिस पर समस्त शारीरिक तथा मानसिक व्यापार निर्भर है। शरीर तथा मन भी उसी के व्यापार हैं। अतः स्पिनोजा के अनुसार आत्मा, अहम् या आध्यात्मिक द्रव्य जैसी विचार अनुभूति तथा इच्छा को धारण करने वाली कोई चीज़ नहीं हो सकती। मन में उसके विचार, अनुभूति तथा इच्छाएँ होती हैं। ये अवस्थाएँ शारीरिक व्यापार के कार्य नहीं हैं। उनमें साहचर्य है। वे दो रूपों में अभिव्यक्त एक ही द्रव्य के व्यापार हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। उनमें कोई अन्तर्क्रिया नहीं है। स्पिनोजा मानता है कि दोनों का क्षेत्र अपने अनुकूल स्थितियों से निश्चित होता है अर्थात् दोनों की अलग-अलग कारणात्मक व्यवस्था है। उसका नैतिक दर्शन इसी मौलिक मान्यता से फलित होता है। प्रत्येक चीज निरपेक्षतः तार्किक अनिवार्यता से निर्धारित होती है। मानसिक क्षेत्र में संकल्प-स्वातन्त्र्य (Free-will) और भौतिक जगत् में आकस्मिकता (Accidental) नाम की कोई चीज नहीं है।

जब आत्मा प्रत्ययों का ज्ञान करती है तो उसे बुद्धि कहते हैं और जब वह सत्य तथा असत्य को स्वीकार या अस्वीकार करती है तब उसे संकल्प कहते हैं। बुद्धि और संकल्प मन के अधिकरण नहीं हैं अर्थात् आत्मा के अधिकरण नाम की चीजें नहीं हैं। मन में केवल प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार आत्मा को प्रत्यय का रूप दे दिया गया है। आत्मा शरीर का एक प्रत्यय है जो मनोवैज्ञानिक व्यापारों को प्रतिबिम्बित करता है। स्पिनोजा ने बोध, अनुभूति तथा संकल्प में कुछ मौलिक भेद नहीं किया है। संकल्प भी वस्तुओं के प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संकल्प की विशेष क्रिया तथा विशेष प्रत्यय में तादात्म्य है। अतएव बुद्धि और संकल्प एक ही हैं। संकल्प स्वतः अपने को स्वीकृति अथवा निषेध के प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त करता है। किन्तु स्वीकृति तथा निषेध की इस प्रक्रिया को हम संकल्प की स्वतन्त्रता नहीं कह सकते। उसे स्वतंत्र चुनाव भी नहीं कहा जा सकता। संकल्प

भी होता है। उसे ईश्वर का तथा पदार्थों का सही-सही ज्ञान होता है। वह ज्ञान कभी समाप्त नहीं होता। मनुष्य मन की तुष्टि का उपभोग करता है। संक्षेप में, ईश्वरीय प्रेम का मार्ग बड़ा ही कठिन है और उस पर विरले ही व्यक्ति चल पाते हैं। ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम ही मानव जीवन का सर्वोच्च शुभ है।

मन और शरीर का सम्बन्ध (Relation of Mind and Body)

देकार्त ने मन तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या यांत्रिक आधार पर की और उसके उत्तराधिकारियों ने उस सम्बन्ध को संयोगवाद का नाम दिया। स्पिनोजा ने इन विचारों को स्वीकार नहीं किया। उसने मन-शरीर सम्बन्ध के विषय में समानान्तर के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की। उसका यह विचार ईश्वर की धारणा पर आधारित है।

स्पिनोजा ईश्वर को एक पूर्ण तथा सर्वव्याप्त सत्ता मानता है। उसका कहना है कि चिन्तन और विस्तार एक ही द्रव्य के दो विशेष हैं। मन और शरीर एक ही द्रव्य के दो पहलू हैं। अतः मन और शरीर में अन्तर होते हुए भी वे एक ही द्रव्य में अविभूत हैं। दोनों का सम्बन्ध ईश्वर से है। वे उसी सत्ता के चिन्तन और विस्तार के रूप हैं। एक ही द्रव्य के गुण के आकार होने के नाते दोनों सदैव एक दूसरे से मिलते रहते हैं, हालांकि कार्यात्मक रूप में मन तथा शरीर अलग-अलग जान पड़ते हैं। शरीर पर सदैव बाह्य पदार्थों के प्रभाव पड़ते रहते हैं। फलतः शरीर में निरन्तर नये परिवर्तन जान पड़ते हैं। इन नवीन शारीरिक भेदों का बोध मन को होता रहता है। शरीर में जितने परिवर्तन होते हैं, मन उनको उन्हीं रूपों में जान सकता है। उनके वास्तविक रूप में वह उन्हें नहीं जान सकता। इससे यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि शरीर मन को और मन शरीर को प्रभावित नहीं करते। शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन एक ही तत्त्व से सम्बन्धित हैं। वह तत्त्व ईश्वर है। शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन एक दूसरे के समानान्तर हैं। इस प्रकार स्पिनोजा ने देकार्त के द्वैतवाद को स्वीकार न कर, अपने मन-शरीर के सम्बन्ध को अद्वैतवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। सभी क्रियाएँ, चाहे वे मानसिक हों अथवा शारीरिक, पूर्व निर्धारित होती हैं जिनका मूल कारण ईश्वर ही है।

स्पिनोजा यह मानता है कि मनुष्य का मन ईश्वर की असीम बुद्धि का एक आकार मात्र है। जब यह देखा जाता है कि मनुष्य का मन अमुक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है तो इसका अर्थ यही है कि उनके प्रत्यय ईश्वर में विद्यमान हैं। जो परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं वे एक ही मूल सत्ता के विभिन्न पहलू हैं। मन शरीर को प्रभावित नहीं करता और न शरीर मन को प्रभावित करता है। स्पिनोजा के अनुसार, यह शरीर के अधिकार में नहीं है कि वह मन को चिन्तनात्मक कार्यों में लगा सके और न यह मन के अधिकार में है कि वह शरीर को गति या विश्राम में ला सके। मनुष्य अपने मन के आधार पर स्वतन्त्र कार्य नहीं कर सकता। उसकी संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है। मन जो कुछ कार्य करता है

वह पूर्व-निर्धारित कारण से ही करता है। प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि पूर्व-निर्धारित होती है। अतः स्पिनोजा नियतिवाद का समर्थक है। उसके अनुसार, जिस प्रकार चिन्तन के प्रत्यय मन में क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित होते हैं, उसी प्रकार शरीर में पदार्थों के रूप–भेद उनके क्रम के अनुसार क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित होते हैं। इस प्रकार स्पिनोजा शारीरिक तथा मानसिक दोनों क्षेत्रों में नियतिवाद तथा समानान्तरवाद का प्रतिपादन करता है।

नीतिशास्त्र (Ethics)

पूर्व विवरण से यह स्पष्ट लगता है कि स्पिनोजा का तत्व-दर्शन देकार्त के तत्वज्ञान का परिवर्धित रूप है। किन्तु उसका नीतिशास्त्र अपने आप में मौलिक है और उसकी अपनी विशेषता है।

स्पिनोजा आत्मा की स्वतन्त्र अभौतिक सत्ता को नहीं मानता। प्रत्यय केवल मन में विद्यमान रहते हैं और मन विभिन्न प्रकार के बोधों के समूह का ही नाम है। एक ही द्रव्य की सत्ता है जिस पर समस्त शारीरिक तथा मानसिक व्यापार निर्भर हैं। शरीर तथा मन भी उसी के व्यापार हैं। अतः स्पिनोजा के अनुसार आत्मा, अहम् या आध्यात्मिक द्रव्य जैसी विचार अनुभूति तथा इच्छा को धारण करने वाली कोई चीज नहीं हो सकती। मन में उसके विचार, अनुभूति तथा इच्छाएँ होती हैं। ये अवस्थाएँ शारीरिक व्यापार के कार्य नहीं हैं। उनमें साहचर्य है। वे दो रूपों में अभिव्यक्त एक ही द्रव्य के व्यापार हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। उनमें कोई अन्तक्रिया नहीं है। स्पिनोजा मानता है कि दोनों का क्षेत्र अपने अनुकूल स्थितियों से निश्चित होता है अर्थात् दोनों की अलग-अलग कारणात्मक व्यवस्था है। उसका नैतिक दर्शन इसी मौलिक मान्यता से फलित होता है। प्रत्येक चीज निरपेक्षतः तार्किक अनिवार्यता से निर्धारित होती है। मानसिक क्षेत्र में संकल्प-स्वातन्त्र्य (Free-will) और भौतिक जगत् में आकस्मिकता (Accidental) नाम की कोई चीज नहीं है।

`जब आत्मा प्रत्ययों का ज्ञान करती है तो उसे बुद्धि कहते हैं और जब वह सत्य तथा असत्य को स्वीकार या अस्वीकार करती है तब उसे संकल्प कहते हैं। बुद्धि और संकल्प मन के अधिकरण नहीं हैं अर्थात् आत्मा के अधिकरण नाम की चीजें नहीं हैं। मन में केवल प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार आत्मा को प्रत्यय का रूप दे दिया गया है। आत्मा शरीर का एक प्रत्यय है जो मनोवैज्ञानिक व्यापारों को प्रतिबिम्बित करता है। स्पिनोजा ने बोध, अनुभूति तथा संकल्प में कुछ मौलिक भेद नहीं किया है। संकल्प भी वस्तुओं के प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संकल्प की विशेष क्रिया तथा विशेष प्रत्यय में तादात्म्य है। अतएव बुद्धि और संकल्प एक ही हैं। संकल्प स्वतः अपने को स्वीकृति अथवा निषेध के प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त करता है। किन्तु स्वीकृति तथा निषेध की इस प्रक्रिया को हम संकल्प की स्वतन्त्रता नहीं कह सकते। उसे स्वतंत्र चुनाव भी नहीं कहा जा सकता। संकल्प

का प्रत्यय स्वयं अन्य प्रत्ययों से निर्धारित होता है। संकल्प-स्वातंत्र्य नाम की कोई चीज नहीं है। प्रकृति में हरेक वस्तु सार्वभौम द्रव्य के स्वरूप से अवतरित तथा निश्चित होती है। संकल्प का प्रत्येक विशिष्ट काम अन्य प्रकार से निश्चित होता है। मन तथा शरीर में कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। संकल्प शरीर को सक्रिय नहीं कर सकता। समस्त भौतिक वस्तुएँ यांत्रिक नियमों से संचालित होती हैं। संकल्प का निर्णय, इच्छा और शरीर का कारणात्मक नियतिकरण एक ही बात है। चिन्तन के विशेषण की दृष्टि से, हम उसे निर्णय कहते हैं और विस्तार के विशेषण की दृष्टि से, हम उसे नियतिकरण मानते हैं। कारणों से अनभिज्ञ होने से आदमी अपने को स्वतन्त्र समझता है। वस्तुतः वह है नहीं। गिरता हुआ पत्थर भी यदि चेतन होता तो अपने को स्वतन्त्र मानता। अतः इच्छा-स्वातन्त्र्य कल्पना मात्र है। किन्तु ईश्वर अपने स्वभाव के अनुकूल क्रिया करने के अर्थ में स्वतन्त्र है। इस प्रकार स्पिनोजा केवल ईश्वर को ही स्वतन्त्र मानता है।

स्पिनोजा के अनुसार, मानवीय जीवन में तीन प्रवृत्तियाँ होती हैं:—इच्छा, आनन्द और दुःख। इन तीनों का मूलाधार आत्म-रक्षण है। प्रत्येक व्यक्ति, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से, अपनी आत्म-रक्षा के लिए प्रयत्न करता है। मानव स्वभाव जिस बात के लिए प्रयत्नशील है, मन उसे जानता है। आदमी की इच्छा शुभ की ओर प्रेरित होती है। शुभ का विपरीत लक्षण अशुभ है। प्रत्येक आदमी अपने अस्तित्व के विस्तार से भी प्रभावित होता है। जब उसके अस्तित्व का विस्तार होता है, आत्म-रक्षण में सफलता मिलती है और उसे आनन्द का अनुभव होता है, अन्यथा दुःख होता है। आनन्द अपूर्ण से पूर्णता की ओर बढ़ने का एक क्रम है। आनन्द अपने आप में पूर्णता नहीं है। यदि मानव पूर्ण ही पैदा होता तो उसे आनन्द की अनुभूति नहीं होती। मनुष्य आनन्दमय भावनाओं की ओर दौड़ता है और दुःख से मुक्त होना चाहता है। जिन बातों से आदमी को सुख मिलता है वह उनके कारणों से प्रेम करता है और जिनसे क्षति होती है उनसे वह घृणा करता है। सुख-दुःख के कारणों को भविष्य की दृष्टि से देखना ही आशा या भय है।

स्पिनोजा की उपर्युक्त विचारधारा का लक्ष्य नैतिक और धार्मिक है। ईश्वर का ज्ञान मन का सर्वोपरि शुभ है और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना मन का सर्वोत्तम गुण है। प्रत्येक जीव अपनी रक्षा के लिए संघर्ष करता है और संघर्ष गुण है। गुण शक्ति है। मन तथा शरीर की शक्ति को कम करने वाली हर वस्तु अशुभ है। प्रकृति की मांग प्रकृति के विपरीत नहीं होती। प्रकृति की मांग है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने से तथा अपनी उपयोगिता से प्रेम करे और पूर्णता की ओर बढ़ाने वाली प्रत्येक क्रिया का अनुसरण करे। प्रकृति की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। इसलिए सबको अधिकार है कि वे ईश्वर की प्राप्ति करें। आदमी वही ज्ञान प्राप्त करे जो उसके लिए उपयोगी है। स्पिनोजा गुणात्मक बौद्धिक क्रियाओं पर अधिक बल देता है।

ज्ञान जीवन में हरेक उपयोगी वस्तु के पहले होता है और बुद्धि को पूर्ण बनाता है। यही सबसे बड़ा आनन्द है। आनन्द मन की संतुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह मानसिक संतुष्टि प्रज्ञा-ज्ञान की प्राप्ति से उत्पन्न होती है।

जगत् में समस्त प्रत्ययों की समग्रता ईश्वर का चिन्तन है। इसी प्रकार की एकता की कल्पना स्पिनोजा ने मानव प्राणियों के विषय में की। सब प्राणी सबके प्रति सहयोगी हों, यही मार्ग शुभ है। यदि सब लोग बुद्धि के निर्देशन में अपने सच्चे कल्याण की खोज करें तो वे परस्पर बड़े उपयोगी हो सकते हैं। बुद्धि से प्रेरित लोग दूसरों के लिए वही चाहेंगे जो अपने लिए चाहते हैं। इसलिए उनका आचरण न्यायपूर्ण, आस्थावान् तथा सम्माननीय होता है। संघर्ष, विरोध तथा युद्ध तभी होंगे जब लोग अपनी शक्ति को अन्यों की तुलना में बढ़ा-चढ़ाकर रखना चाहेंगे। अतः राज्य का काम है संतुलन बनाये रखना ताकि सामाजिक जीवन सम्भव हो सके। अन्य लोगों के कल्याण की बात करना व्यक्ति के हित में ही है। इस प्रकार स्पिनोजा ने जहाँ व्यक्ति की पूर्णता को सर्वोत्तम माना है वहाँ उसके सामाजिक कर्तव्यों पर भी उचित रूप से ध्यान दिया है।

स्पष्टतः स्पिनोजा का नीति-दर्शन व्यक्तिवादी (Individualist) है क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की पूर्णता का आनन्द है। आदमी अपने ही हित की चिन्ता करता है। उसका सर्वोपरि हित मन को शान्ति देने वाला ईश्वर-ज्ञान है। स्पिनोजा का नीति-शास्त्र इस अर्थ में सार्वभौम है कि मनुष्य का सर्वोपरि शुभ ईश्वर-ज्ञान है और मन का सर्वोत्तम सद्गुण ईश्वर को जानना है। संक्षेप में, मनुष्य का परम हित ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम है जो प्रज्ञा-ज्ञान से उत्पन्न होता है। जीवन का शुभ लक्ष्य सभी का समान लक्ष्य है।

सारांशतः स्पिनोजा ने अपने दर्शन में बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए एक तत्त्ववाद (Monism), नियतिवाद (Determinism) अथवा नियंत्रणवाद की स्थापना की। उसने प्रयोजनवाद और अनियंत्रणवाद का खण्डन किया। स्पिनोजा के एकतत्ववाद की अपनी विशेषता है। जगत् में जो कुछ विविधता तथा अनेकता दिखलाई पड़ती है वह एक ही तत्व के विभिन्न रूप हैं। जगत् में द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं है। परम तत्त्व स्वतन्त्र तथा आत्म-निर्भर है। इस प्रकार परम तत्व दो अथवा अनेक नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा होने पर उनके परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न उठेगा जिसे सुलझाना बड़ा कठिन होगा। अतः परम तत्व एक ही है। वह ईश्वर है जो निरपेक्षतः एक है। स्पिनोजा उसमें किसी प्रकार के गुण नहीं मानता। जो जगत् है वह ईश्वर है जो ईश्वर है वह जगत् है। इस प्रकार उसका दर्शन सर्वेश्वरवादी है। अनेकता स्वयं में कुछ नहीं है। वह केवल ईश्वर में ही परिलक्षित होती है। यही कारण है कि स्पिनोजा को ईश्वरोन्मत्त (God-intoxicated) कहा गया

का प्रत्यय स्वयं अन्य प्रत्ययों से निर्धारित होता है। संकल्प-स्वातंत्र्य नाम की कोई चीज नहीं है। प्रकृति में हरेक वस्तु सार्वभौम द्रव्य के स्वरूप से अवतरित तथा निश्चित होती है। संकल्प का प्रत्येक विशिष्ट काम अन्य प्रकार से निश्चित होता है। मन तथा शरीर में कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। संकल्प शरीर को सक्रिय नहीं कर सकता। समस्त भौतिक वस्तुएँ यांत्रिक नियमों से संचालित होती हैं। संकल्प का निर्णय, इच्छा और शरीर का कारणात्मक नियतिकरण एक ही बात है। चिन्तन के विशेषण की दृष्टि से, हम उसे निर्णय कहते हैं और विस्तार के विशेषण की दृष्टि से, हम उसे नियतिकरण मानते हैं। कारणों से अनभिज्ञ होने से आदमी अपने को स्वतन्त्र समझता है। वस्तुतः वह है नहीं। गिरता हुआ पत्थर भी यदि चेतन होता तो अपने को स्वतन्त्र मानता। अतः इच्छा-स्वातन्त्र्य कल्पना मात्र है। किन्तु ईश्वर अपने स्वभाव के अनुकूल क्रिया करने के अर्थ में स्वतन्त्र है। इस प्रकार स्पिनोजा केवल ईश्वर को ही स्वतन्त्र मानता है।

स्पिनोजा के अनुसार, मानवीय जीवन में तीन प्रवृत्तियाँ होती हैं:—इच्छा, आनन्द और दुःख। इन तीनों का मूलाधार आत्म-रक्षण है। प्रत्येक व्यक्ति, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से, अपनी आत्म-रक्षा के लिए प्रयत्न करता है। मानव स्वभाव जिस बात के लिए प्रयत्नशील है, मन उसे जानता है। आदमी की इच्छा शुभ की ओर प्रेरित होती है। शुभ का विपरीत लक्षण अशुभ है। प्रत्येक आदमी अपने अस्तित्व के विस्तार से भी प्रभावित होता है। जब उसके अस्तित्व का विस्तार होता है, आत्म-रक्षण में सफलता मिलती है और उसे आनन्द का अनुभव होता है, अन्यथा दुःख होता है। आनन्द अपूर्ण से पूर्णता की ओर बढ़ने का एक क्रम है। आनन्द अपने आप में पूर्णता नहीं है। यदि मानव पूर्ण ही पैदा होता तो उसे आनन्द की अनुभूति नहीं होती। मनुष्य आनन्दमय भावनाओं की ओर दौड़ता है और दुःख से मुक्त होना चाहता है। जिन बातों से आदमी को सुख मिलता है वह उनके कारणों से प्रेम करता है और जिनसे क्षति होती है उनसे वह घृणा करता है। सुख-दुःख के कारणों को भविष्य की दृष्टि से देखना ही आशा या भय है।

स्पिनोजा की उपर्युक्त विचारधारा का लक्ष्य नैतिक और धार्मिक है। ईश्वर का ज्ञान मन का सर्वोपरि शुभ है और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना मन का सर्वोत्तम गुण है। प्रत्येक जीव अपनी रक्षा के लिए संघर्ष करता है और संघर्ष गुण है। गुण शक्ति है। मन तथा शरीर की शक्ति को कम करने वाली हर वस्तु अशुभ है। प्रकृति की मांग प्रकृति के विपरीत नहीं होती। प्रकृति की मांग है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने से तथा अपनी उपयोगिता से प्रेम करे और पूर्णता की ओर बढ़ाने वाली प्रत्येक क्रिया का अनुसरण करे। प्रकृति की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। इसलिए सबको अधिकार है कि वे ईश्वर की प्राप्ति करें। आदमी वही ज्ञान प्राप्त करे जो उसके लिए उपयोगी है। स्पिनोजा गुणात्मक बौद्धिक क्रियाओं पर अधिक बल देता है।

हैं। उसका ईश्वर में अटल विश्वास था। इसी परम तत्व के स्वरूप से सब कुछ पूर्व-निश्चित होता है। अतः जगत् में नियतिकरण व्याप्त है। यहाँ प्रयोजन के लिए कोई स्थान नहीं है। जगत् की सभी क्रियाएँ अथवा मानवी इच्छाएँ प्रकृति की अनिवार्यता से इस प्रकार उद्भूत होती हैं कि वे अपने निकटतम कारणों से सम्बन्धित हों। सब कुछ पूर्व-निश्चित एवं नियन्त्रित है।

□

9

गॉटफ्राइ विल्हेल्मड लाइबनित्ज

(Gottfried Wilhelm Leibnitz : 1646–1716)

जर्मनी के लाइपज़िग नामक स्थान में लाइबनित्ज का जन्म हुआ । वह 6 वर्ष की आयु का ही था कि उसके पिता का देहान्त हो गया । उसने जेना तथा आल्टफोर्ड विश्वविद्यालयों में कानून, दर्शन तथा गणित का अध्ययन किया । उसने 20 वर्ष की आयु में ही कानून में डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की । वह देकार्त की भांति गणितज्ञ-दार्शनिक था । देकार्त तथा स्पिनोजा की तुलना में लाइबनित्ज की शिक्षा-दीक्षा अच्छी हुई थी । एक ओर देकार्त ने 'विश्लेपक रेखागणित' की स्थापना की तो दूसरी ओर लाइबनित्ज ने 'अतिसूक्ष्म-गणना' के सिद्धान्त का आविष्कार किया । उसकी विज्ञान में अधिक रुचि थी । सन् 1700 में लाइबनित्ज ने बर्लिन में 'एकेडमी ऑफ साइंसेज' की स्थापना भी की । उसे जब आल्टफोर्ड में प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति का आदेश मिला तो उसने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'मेरे दृष्टिकोण में कुछ भिन्न बातें हैं ।'

लाइबनित्ज को अध्ययन तथा अनुसन्धान के लिए बहुत समय मिला । किन्तु उसमें देकार्त तथा स्पिनोजा की भांति सत्यान्वेषक की भक्ति-भावना नहीं थी। जीवन के अन्तिम 40 वर्ष उन्होंने हैनोवर के राजकीय पुस्तकालय में अध्यक्ष के रूप में व्यतीत किये । लाइबनित्ज बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ था और यही कारण है कि वह लौकिक बड़प्पन का अधिक प्रेमी था । वह अपने मौलिक विचारों की सदैव अभिव्यक्ति करता रहा । वह दर्शन एवं गणित के क्षेत्र में एक अद्वितीय विचारक था । उसका जीवन बड़ा ही स्वच्छ एवं पवित्र था । फिर भी एक चिन्तक के रूप में उसे यथोचित सम्मान नहीं मिला । लाइबनित्ज की मुख्य रचनाएँ ये हैं :—मॉनडोलॉजी (चिद्-विन्दु-विद्या); प्रिन्सिपल्स ऑफ नेचर एण्ड ग्रेस (प्रकृति और कृपा के सिद्धान्त); थ्योडिसी; न्यू सिस्टम ऑफ नेचर (प्रकृति की नवीन व्यवस्था), और करैस्पांडेन्स विद् क्लार्क (क्लार्क के साथ पत्र-व्यवहार), उसने प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में छोटे-

छोटे किन्तु प्रभावशाली निबन्ध प्रकाशित किये। लाइबनित्ज के दर्शन में बुद्धिवाद का विकास दिखलाई पड़ता है।

पद्धति और ज्ञान-सिद्धान्त (Method and Theory of Knowledge)

देकार्त ने ईश्वर को एक निरपेक्ष द्रव्य मानकर, मन तथा शरीर दो और द्रव्यों को स्वीकार किया। उसने मन का विशेषण चिन्तन और शरीर का विशेषण विस्तार बतलाया। स्पिनोजा ने केवल एक ही सार्वभौम द्रव्य को माना और कहाकि चिन्तन तथा विस्तार इसी द्रव्य के विशेषण हैं। एक ने द्वैतवाद की स्थापना की तो दूसरे ने एकत्ववाद की। परन्तु दोनों ही दार्शनिकों ने मानसिक तथा शारीरिक क्षेत्रों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग रखा। अन्तर केवल इतना है कि देकार्त मानव मस्तिष्क की पिनियल-ग्रन्थि के आधार पर मन तथा शरीर में अन्तर्क्रिया स्वीकार कर लेता है जबकि स्पिनोजा किसी प्रकार की अन्तर्क्रिया को नहीं मानता। दोनों का कहना है कि भौतिक वस्तुओं की व्याख्या भौतिक आधार से ही हो सकती है। यह जगत् एक मशीन के समान है जो अपने नियमों के अनुसार संचालित होता है। इस यांत्रिक व्याख्या का विरोध उन लोगों ने किया जो चर्च के अधिकारों को सर्वोच्च मानते थे। इन्हीं लोगों ने स्पिनोजा जैसे विचारकों के दर्शन को नास्तिकता से प्रेरित कहकर उनको निन्दित किया।

अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की भांति लाइबनित्ज शास्त्रीय दर्शन से अच्छी तरह परिचित था। प्रारम्भ में वह परम्परावादी दर्शन से प्रभावित तो हुआ, पर आधुनिक दर्शन के अध्ययन और अपने ही 'अतिसूक्ष्म-गणना सिद्धान्त' के पश्चात् उसके विचारों में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। विज्ञान एवं दर्शन के प्रति न्याय करने की दृष्टि से, लाइबनित्ज ने यंत्रवाद तथा प्रयोजनवाद, प्राचीन तथा आधुनिक चिन्तन, में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। लाइबनित्ज ने अपने शिक्षक तथा जेना के प्रसिद्ध गणितज्ञ व इगेल से 'पाइथेगोरियन-प्लेटोवादी विश्वसामंजस्य' विचारधारा को ग्रहण किया। फलतः लाइबनित्ज ने कभी भी इस विचार का परित्याग नहीं किया कि विश्व एक सामंजस्यपूर्ण सम्पूर्णता है जो गणित तथा तर्क के सिद्धान्तों द्वारा संचालित होती है। अतः गणित तथा तत्त्वज्ञान ही मौलिक विज्ञान हैं और प्रदर्शनात्मक पद्धति ही दर्शन की सच्ची पद्धति है।

लाइबनित्ज को बुद्धिवादी दार्शनिक परम्परा में तीसरा प्रकाण्ड पण्डित कहा जाता है। उसका ज्ञान-सिद्धान्त उसकी तात्विक मान्यताओं पर निर्भर है। वह ज्ञान के बुद्धिवादी सिद्धान्त को मानता है। उसके अनुसार, ज्ञान सार्वभौम तथा अनिवार्य होता है और वह ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित है जो अनुभव से प्राप्त नहीं होते। यह जगत् एक गणितात्मक-तार्किक व्यवस्था है जिसे केवल बुद्धि ही भलीभांति समझ सकती है। आत्मा चिद्‌विन्दु (Monad) के रूप में एक स्वतन्त्र सत्ता है जिस पर किसी बाह्य कारण का प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आ सकता, बल्कि स्वतः अन्दर से ही जाग्रत होता है। आत्मा धुली हुई स्लेट के समान

नहीं है और न बाहर से उस पर कोई प्रभाव अंकित होता है जैसा कि लॉक ने आगे चलकर माना है। समस्त ज्ञान मन में ही जन्म से निहित होता है। यद्यपि अनुभव ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, पर अनुभव के द्वारा ज्ञान स्पष्ट होता है। अर्थात् ज्ञान का प्रदर्शन अनुभव में होता है। अनुभववादी जब यह कह सकते हैं कि बुद्धि में ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जो पहले कभी संवेदन में नहीं रही हो तो यह बात ठीक प्रतीत होती है। परन्तु लाइबनित्ज कहता है कि बुद्धि की प्रधानता तो रहेगी ही।

लाइबनित्ज यह मानता है कि ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होता। यदि यह मान लिया जाये कि वह होता है तो सार्वभौम ज्ञान असंभव हो जायेगा। तथाकथित आनुभाविक तथ्यों में अनिवार्यता नहीं होती। वे आकस्मिक युक्तिवाक्य ही होते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि चूँकि अमुक बात अनुभव में घटी है, वह सदैव वैसे ही घटेगी। सार्वभौम तथा अनिवार्य युक्तिवाक्य इन्द्रियजन्य नहीं हो सकते। उनका मूलाधार स्वतः मन में होता है। अनुभव से निश्चित ज्ञान नहीं मिल सकता। अनुभव में किसी घटना के असंख्य उदाहरण मिल जाते हैं। किन्तु उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि अनिवार्यतः सदैव वैसा ही होगा। यह ठीक है कि अग्नि से जलने के अनेक उदाहरण व्यावहारिक जीवन में मिलते हैं, पर अनुभव यह प्रमाणित नहीं करता कि अग्नि सदैव जलायेगी ही।

लाइबनित्ज के अनुसार, इन्द्रिय अनुभव के बिना भी, सार्वभौम तथा अनिवार्य युक्तिवाक्य प्राप्त हो सकते हैं जैसा कि गणित में होता है। सार्वभौम तथा अनिवार्य युक्तिवाक्यों में मन का कुछ ऐसा योगदान है जिसे इन्द्रियाँ नहीं दे सकतीं। तर्कशास्त्र, नीति-विज्ञान धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र ऐसे युक्तिवाक्यों से भरे पड़े हैं जिनके सिद्धान्तों का मूलाधार मन के अलावा कहीं नहीं हो सकता। लाइबनित्ज यह तो मानता है कि अनुभव के बिना इन सिद्धान्तों से परिचय नहीं हो पाता। इन्द्रियां उन सिद्धान्तों की जानकारी के लिए अवसर प्रदान करती हैं। उनको उत्पन्न नहीं करतीं। इन सार्वभौम सिद्धान्तों के अभाव में किसी विज्ञान की कल्पना नहीं कर सकते। अनिवार्य सत्यों का अन्तिम प्रमाण बुद्धि से ही प्राप्त होता है। अनुभव से अन्य बातें मिलती हैं। मन को इन दोनों का ज्ञान होता है। किन्तु अनिवार्य सत्यों का मूल स्रोत मन ही है। किसी सार्वभौम सत्य के अनेक उदाहरण भले ही हमें अनुभव में मिल जायें। किन्तु आगमन पद्धति (Inductive Method) से सार्वभौम तथा अनिवार्य तर्कवाक्यों की स्थापना नहीं हो सकती। इन्द्रियानुभव में सार्वभौम सत्यों के तथ्य मिल सकते हैं। किन्तु वह उनकी नित्य एवं अनिवार्य निश्चितता को प्रमाणित नहीं कर सकता।

लाइबनित्ज यह मानता है कि प्रत्यय तथा सत्य, प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं प्राकृतिक शक्तियों की भांति जन्मजात होते हैं। वे क्रियाओं की तरह नहीं होते,

हालांकि ये शक्तियाँ कुछ निश्चित किन्तु असंवेदनशील क्रियाओं के साथ ही जुड़ी होती हैं जो उनकी ओर संकेत करती हैं। इस दृष्टि से गणित तथा रेखागणित हमारे मन में विद्यमान हैं। हम उन्हें किसी अनुभव के बिना भी खोज सकते हैं। तादात्म्य जैसे सामान्य सिद्धान्त हमारे चिंतन की जान हैं। मन हर समय उन्हीं पर निर्भर होकर सब कुछ करता है चाहे उन्हें जानने के लिए कितना ही ध्यान क्यों न देना पड़े। इतना अवश्य है कि इन सिद्धान्तों से परिचय करने में अनुभव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य तर्कशास्त्र के नियमों को स्वतः ही अपने तर्कों में प्रयोग करता है। इसी तरह तत्वज्ञान तथा नीतिविज्ञान के क्षेत्र में ऐसे जन्मजात सिद्धान्त होते हैं।

प्रत्ययों को ग्रहण करने वाले किसी अधिकरण (Faculty) की धारणा, लाइबनित्ज के अनुसार, कल्पना मात्र है। शास्त्रीयवाद के विद्वानों ने शुद्ध अधिकरण अथवा शक्तियों की धारणा की स्थापना की जो बिल्कुल निरर्थक है। वे अमूर्त हैं। कोई निष्क्रिय अधिकरण नहीं होता। आत्मा स्वयं जन्मजात सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने के लिए तत्पर रहती है। आत्मा में निश्चित प्रवृत्तियाँ होती हैं। आत्मा को जागरूक करने के लिए, अनुभव आवश्यक है। किन्तु उन प्रत्ययों को उत्पन्न नहीं कर सकता। अनुभववादी यह आपत्ति करते हैं कि बुद्धि में वह कोई बात नहीं हो सकती जो पहले संवेदन में न रही हो। यहाँ तक तो वे ठीक लगते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि बुद्धि तो पहले से ही रहती है। आत्मा में स्वतः सत्, द्रव्य, एकता, तादात्म्य, कारणता, प्रत्यक्ष, तर्क तथा परिणाम की धारणाएँ होती हैं जिन्हें इन्द्रियों द्वारा कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त दृष्टि से, यह स्पष्ट है कि लाइबनित्ज ने प्रागनुभववाद (A Priorism) तथा अनुभववाद का समन्वय करने का प्रयास किया है। अविभाज्य चिदणु की क्रिया होने से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और बुद्धि समान होते हैं। किन्तु उनमें अंशों का भेद होता है। संवेदन अस्पष्ट तथा अस्त व्यस्त प्रत्यय होते हैं। लेकिन बुद्धि के प्रत्यय स्पष्ट और विशिष्ट होते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष वस्तुओं को उनकी सच्ची वास्तविकता, उनको सक्रिय आध्यात्मिक द्रव्य या चिद्बिन्दु के रूप में न जानकर अस्पष्टता के कारण आकाशिक (Spatial) और दृष्टि-विषयक (Phenomenal) समझता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष चिद्बिन्दुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था को उसकी वास्तविकता में नहीं देख पाता। उसे प्रपंचित भौतिक जगत् समझता है। प्रत्यक्ष के द्वारा आध्यात्मिक व्यवस्था आकाशिक दृष्टिगोचर होती है। लाइबनित्ज के अनुसार, आकाश, आकृति, गति, विश्राम. आदि के प्रत्ययों का मूल शुद्ध बुद्धि के प्रत्यय होने के नाते मन में ही होता है और उनका प्रसंग बाह्य जगत् में होता है। इस दृष्टि से, आकाश का प्रत्यय मन में जन्मजात है जैसा कि आगे चलकर काण्ट के दर्शन में

मिलेगा। आकाश यथार्थ नहीं है। चिद्विन्दुओं की व्यवस्था में, आकाश मात्र एक भौतिक प्रतीति है।

लाइवनित्ज ने ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत, तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के उदाहरण प्रस्तुत किए। उसने कहा कि बौद्धिक ज्ञान केवल जन्मजात सिद्धान्तों के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। उन्हीं पर हमारा सही सही चिन्तन निर्भर है। इन जन्मजात सिद्धान्तों में तादात्म्य और विरोध के नियम हैं जो विशुद्ध विचारक्षेत्र में सत्यान्वेषण के लिए मौलिक हैं। दूसरे पर्याप्त कारण का नियम भी है जो अनुभव के क्षेत्र में सत्य की खोज करने के लिए मौलिक सिद्धान्त है। लाइवनित्ज की दृष्टि में, पर्याप्त कारण के सिद्धान्त का केवल तार्किक महत्व ही नहीं कि प्रत्येक निर्णय का पर्याप्त आधार हो ताकि सत्य प्रमाणित हो सके, अपितु उसका तात्त्विक महत्त्व भी अधिक है कि प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के लिए, पर्याप्त कारण अनिवार्य है। वुद्धि के तार्किक तथा यथार्थ दोनों ही आधार हैं। भौतिकशास्त्र, नीतिशास्त्र, तत्वज्ञान तथा धर्मशास्त्र-ये सब पर्याप्त कारण के सिद्धान्त पर निर्भर हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकार किए विना, ईश्वर की सत्ता और अनेक दार्शनिक धारणाओं का प्रमाण छिन्न-भिन्न हो जाता है। विश्व एक बौद्धिक व्यवस्था है जिसमें पर्याप्त आधार के विना कुछ भी सम्भव नहीं हो सकता। जगत् की व्यवस्था तार्किक व्यवस्था के समान है। जिस प्रकार तर्कशास्त्र में सभी तर्कवाक्य एक दूसरे से बौद्धिक ढंग से सम्बन्धित हैं, उसी प्रकार जगत् में भी हरेक वस्तु का दूसरी से बौद्धिक सम्बन्ध है। दर्शन का मूल उद्देश्य उन मौलिक सिद्धान्तों की खोज करना है जो साथ ही यथार्थता के सिद्धान्त भी होते हों। जगत् में वैसी ही अनिवार्यता है जैसी किसी तार्किक व्यवस्था में होती है। इस प्रकार लाइवनित्ज का तर्कशास्त्र उसके तत्वदर्शन को और उसका तत्वदर्शन उसके तर्कशास्त्र को परस्पर पर प्रभावित करते हैं।

जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे लाइवनित्ज के ज्ञान की धारणा जिसके अन्तर्गत मन में निहित सिद्धान्तों का विकास होता है, उसके आध्यात्मवादी चिद्णु व्यवस्था पर आधारित है। उसका व्यक्तिवाद उसकी विश्व तार्किक धारणा का अनिवार्य परिणाम नहीं है। स्वतन्त्र व्यक्तियों के अस्तित्व को तार्किक वुद्धि के आधार पर विश्लेषित नहीं कहा-जा सकता। लाइवनित्ज व्यक्तियों की सत्ता के लिए प्रयोजनवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। व्यक्तियों की सत्ता दैवी सृजनात्मक संकल्प का ध्येय है। इसलिए आदि से ही उन्हें ईश्वर की पूर्णता तथा शुभता की व्यवस्था में होना चाहिए। यहाँ विश्व की तार्किक व्यवस्था में मानव महत्त्व को स्वीकार किया गया है। लाइवनित्ज उस महान् दार्शनिक परम्परा से सम्बन्ध रखता है जो मूल्य को यथार्थता का अपृथक् अंग मानती है।

लाइवनित्ज के अनुसार, स्पष्ट ज्ञान के अतिरिक्त अस्पष्ट ज्ञान भी होता है। सामंजस्य तथा सौन्दर्य निश्चित आनुपातिक सम्बन्धों पर आधारित हैं। विद्वान लोग उनको जान सकते हैं। किन्तु उन्हें जानना आवश्यक नहीं है। वे अपने को सौन्दर्य की

अनुभूति के उपभोग में अभिव्यक्त करते हैं जिसका मनुष्य को अस्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। इस तरह आत्मा भी वस्तुओं की व्यवस्था अथवा विश्व के सामंजस्य का प्रत्यक्ष, उसके स्पष्ट ज्ञान के बिना भी कर सकती है। ऐसा करने में, आत्मा को ईश्वर की अस्पष्ट अनुभूति (Intuition) होती है, हालांकि यह संदिग्ध ज्ञान स्पष्ट ज्ञान हो सकता है।

शक्ति का सिद्धान्त (Doctrine of Force)

लाइबनित्ज ने जब नवीन विज्ञान की मान्यताओं की परीक्षा की तो उन्हें अस्पष्ट पाया। विस्तारयुक्त वस्तुओं तथा गति की धारणा मात्र से भौतिक विज्ञान के तथ्यों की भी संतोषजनक व्याख्या नहीं हो पाती। देकार्त ने यह बतलाया कि गति का परिणाम स्थिर है, पर विभिन्न वस्तुएं चल तथा अचल भी हैं। लगता है गति उत्पन्न होती है और नष्ट भी हो जाती है। यह निरन्तरता के सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार प्रकृति में कोई विच्छेद नहीं है। लाइबनित्ज का कहना है कि जब वस्तुओं में गति नहीं होती तब उनमें ऐसी कोई चीज होनी चाहिए जो उनकी स्थिरता को निरन्तर संभव बनाती है और जो गति का भी आधार है। यह आधार शक्ति (Force) है। गति स्वभावतः शक्ति की ओर संकेत करती है। शक्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है जो वस्तुओं को गति प्रदान करती है और गतिहीन अवस्था में उनकी निरन्तरता को संभव बनाती है। शक्ति का परिणाम स्थाई है। अतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो इस शक्ति का प्रदर्शन न करता हो। प्रत्येक पदार्थ में क्रिया है। जो क्रियाशील नहीं है उसकी सत्ता नहीं है। सत् वही है जिसमें क्रियाकारित्व है जैसा कि बौद्ध दर्शन में माना गया है। अतएव पुद्गल के प्रमुख विशेषण विस्तार न होकर शक्ति है। इसलिए गति संरक्षण के स्थान पर शक्ति संरक्षण का नियम लागू होता है। पुद्गल का मुख्य विशेषण विस्तार नहीं हो सकता। विस्तार मिश्रित जान पड़ता है जो अवयवों से मिलकर बनता है। वह प्रमुख सिद्धान्त नहीं हो सकता। उस सिद्धान्त को निरवयव होना चाहिए और शक्ति ऐसी ही निरवयव अविभाज्य यथार्थता है।

लाइबनित्ज ने अपने दर्शन में जगत् की गतिहीन धारणा को स्वीकार नहीं किया। वह जगत् के गतिशील अथवा शक्तियुक्त स्वरूप को मानता है। वस्तुओं का अस्तित्व विस्तार के कारण नहीं है, बल्कि विस्तार का अस्तित्व वस्तुओं में निहित शक्तियों के कारण है। शक्ति के बिना विस्तार नहीं हो सकता। देकार्त के दर्शन में वस्तुओं की सत्ता के लिए विस्तार को मानना आवश्यक है। किन्तु लाइबनित्ज के अनुसार, विस्तार के लिए वस्तुओं की शक्ति की सत्ता को स्वीकार करना अनिवा है। शक्ति यांत्रिक जगत् का उद्गम है और यह यांत्रिक जगत् अन्तर्निहित शक्ति व दृश्य प्रतीति है। प्रकृति में स्वयं ऐसा गुण है जो उसे विस्तारमय बनाता है। उस गुण के कारण वह निरन्तर बनी रहती है। प्रकृति में ऐसी शक्ति है जो समस्त विस्ता

के पूर्व विद्यमान है। शक्ति की प्रत्येक इकाई आत्मा तथा पुद्गल, सक्रियता एवं निष्क्रियता, का अविभाज्य संगठन है। प्रत्येक इकाई आत्म-संगठित और आत्म-निर्धारित होती है। उसमें प्रयोजन होता है जिसके कारण उसमें सीमित होने की प्रवृत्ति है अथवा फिर उसमें प्रतिरोध की ताकत होती है।

आकाश जैसा कि इन्द्रियों को प्रतीत होता है और भौतिकशास्त्र में माना जाता है यथार्थ नहीं है। लाइबनित्ज ने शक्तियों के सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व को ही आकाश कहा है। आकाश का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ऐसा कोई निरपेक्ष आकाश नहीं है जिसमें वस्तुओं की सत्ता होती हो। आकाश पदार्थ-सापेक्ष है और पदार्थों के विलीन होने से वह भी विलीन हो जाता है। शक्तियां आकाश पर निर्भर नहीं होतीं, बल्कि आकाश की स्थिति शक्तियों पर निर्भर होती है। इसलिए वस्तुओं के मध्य अथवा उनके परे कोई रिक्त आकाश नहीं है। जब शक्तियां क्रिया करना बन्द कर देती हैं तो जगत् का अन्त हो जाता है। ये शक्तियां भौतिक नहीं हैं। वे चेतन व आध्यात्मिक हैं। इस प्रकार लाइबनित्ज शक्ति सिद्धान्त के आधार पर आध्यात्मिक बहुतत्ववाद (Pluralism) अथवा चिद्णुवाद (Monadism) की स्थापना करता है।

चिद्‌बिन्दुओं का सिद्धान्त (Doctrine of Monads)

लाइबनित्ज के अनुसार, जगत् में अनेक वस्तुओं का अस्तित्व है। अतएव प्रकृति में एक शक्ति न होकर असीम संख्यक शक्तियाँ हैं। प्रत्येक शक्ति एक विशिष्ट, पृथक् द्रव्य है। शक्ति अविभाज्य तथा निरवयव होने से, अभौतिक तथा विस्तारहीन होती है। लाइबनित्ज निरवयव शक्तियों अथवा द्रव्यों को तात्विक विन्दु (Metaphysical Points), रूपात्मक परमाणु, प्रधान रूप, द्रव्यात्मक रूप, मोनड्स (चिद्-बिंदु) या द्रव्यात्मक इकाई कहता है। ये चिद्‌बिंदु भौतिक बिन्दु नहीं हैं क्योंकि भौतिक बिन्दु संकुचित वस्तुओं के अलावा और कुछ नहीं है। चिद्‌बिन्दु गणित के बिन्दु भी नहीं हैं क्योंकि वे सही बिन्दु होते हुए भी यथार्थ नहीं हैं। वे केवल मान्य दृष्टिकोण मात्र हैं। तात्विक बिन्दु ही सही और यथार्थ होते हैं। उनके बिना कोई यथार्थता नहीं हो सकती क्योंकि इकाइयों के बिना अनेकता असंभव है। लाइबनित्ज के अनुसार, ये चिद्‌बिन्दु शाश्वत हैं। वे उत्पन्न नहीं होते और न ही वे नष्ट किए जा सकते हैं। केवल कोई चमत्कार ही उनको नष्ट कर सकता है। चिद्‌बिन्दु न तो प्रकट हो सकते हैं और न ही अप्रकट। अन्य शब्दों में, विशिष्ट सक्रिय द्रव्यात्मक रूपों की शास्त्रीय धारणा जिसे लाइबनित्ज ने अपने विश्वविद्यालय जीवन में ग्रहण किया था, उसके दर्शन में वैयक्तिक शक्तियों की धारणा बन गई।

यह भौतिक जगत् असीम संख्यक गतिशील इकाइयों या अभौतिक, विस्तारहीन, निरवयव शक्तियों की इकाइयों से निर्मित है। हमें कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। इन चिद्‌बिन्दुओं का अध्ययन अपने ही अन्दर कर सकते हैं। आत्मा

हमारे आन्तरिक जीवन का निरवयव अभौतिक द्रव्य है। जो बात आत्मा के विषय में सही है, वह समस्त चिद्बिन्दुओं के सम्बन्ध में सही होगी। सादृश्यानुमान से तर्क देते हुए, लाइबनित्ज चिद्बिन्दुओं की मानसिक या आध्यात्मिक शक्तियों के रूप में व्याख्या देता है। हमारे संवेदनों, प्रवृत्तियों और चिद्बिन्दुओं में कुछ सादृश्य है। उनमें प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति दोनों हैं। जो सिद्धान्त मानव जीवन में अभिव्यक्त होता है वही अजीव पुद्गल, पेड़-पौधों तथा पशुओं में भी काम आता है। शक्ति हर स्थान में है अर्थात् शून्य कहीं पर नहीं है। पुद्गल का हरेक अंग पौधों से भरे उपवन के समान है। अतः समस्त पुद्गल सूक्ष्मतर अंगों तक जीवनमय तथा सक्रिय है।

पत्थर तथा पौधों में मन कैसे हो सकता है? लाइबनित्ज का कहना है कि मन पत्थर, पौधों और मनुष्यों में समान नहीं होता। देकार्त ने यह माना था कि मन में कुछ भी अचेतन और पुद्गल में कुछ भी चेतन नहीं है। लाइबनित्ज ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया। उसके दृष्टिकोण से, पत्थर, पौधों तथा मनुष्यों का अस्तित्व चिद्बिन्दुओं की अभिव्यक्ति मात्र है। इन चिद्बिन्दुओं में भिन्नता होती है और यही भिन्नता वस्तुओं की स्थिति का स्वरूप निर्धारित करती है। समस्त चिद्-बिन्दुओं में प्रत्यक्ष तथा प्रवृत्ति होती हैं। दोनों ही चिद्बिन्दुओं में अलग-अलग रूप से मिलते हैं। प्रत्येक चिद्बिन्दु में प्रत्यक्ष की अपनी स्पष्टता तथा विशिष्टता की भिन्नता होती है। ये प्रत्यक्ष स्पष्ट तथा अस्पष्ट दोनों ही प्रकार के होते हैं। अस्पष्ट प्रत्यक्षों को 'लघु प्रत्यक्ष' कहते हैं। जिस तरह चिद्बिन्दुओं में प्रत्यक्ष की स्पष्टता के अंश होते हैं इसी तरह चिद्बिन्दुओं में परस्पर भेद अपने प्रत्यक्षों की स्पष्टता के कारण होते हैं। निम्न स्तर के चिद्बिन्दुओं में प्रत्येक बात अस्पष्ट और अस्त-व्यस्त होती है। यह अत्यन्त सुसुप्त अवस्था है। ऐसे चिद्बिन्दुओं का अस्तित्व निरन्तर संज्ञाहीन, अचेत, तथा तामसी निद्रा से ग्रस्त है। ऐसा सुसुप्त तथा तामसी जीवन हमें पौधों में मिलता है। पत्थर की स्थिति तो उनसे और भी निम्न स्तर की होती है। पशुओं का प्रत्यक्ष स्मृति या चेतनता में निहित होता है। मानव जीवन में चेत-नता और भी स्पष्ट होती है। इसलिए उसे आत्मज्ञान, आत्मबोध या आन्तरिक अवस्था का चिन्तनात्मक ज्ञान होने के कारण आत्म-चेतनता कहा जाता है।

प्रत्येक चिद्बिन्दु में प्रत्यक्ष तथा प्रतिनिधित्व की शक्ति होती है। वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष, अभिव्यक्ति तथा प्रतिनिधित्व करता है। इस अर्थ में प्रत्येक चिद्-बिन्दु स्वयं एक सूक्ष्मरूपेण विश्व (Microcosm) है। एक चिद्बिन्दु समस्त विश्व का दर्पण है। वह अपने लिए जगत् है। प्रत्येक चिद्बिन्दु विश्व की अभिव्यक्ति तथा प्रतिनिधित्व अपने-अपने ढंग से करता है क्योंकि हरेक में प्रत्यक्ष तथा आत्म-बोध की स्पष्टता अलग-अलग होती है। चिद्बिन्दु सीमित होता है। उससे बाहर तथा उससे अन्य चिद्बिन्दु भी हैं। चिद्बिन्दु जितनी उच्च श्रेणी का होगा वह जगत् के अपने अंश का उतना ही स्पष्ट तथा अच्छा प्रतिनिधित्व करेगा। इसका अर्थ है कि विश्व

में होने वाली हर घटना की अनुभूति प्रत्येक चिद्‌विन्दु को होती है। जो सब कुछ देखता है वह हरेक वस्तु में हर जगह होने वाली चीज को देख सकता है। एक ही चिद्‌विन्दु के सही अध्ययन से समस्त विश्व के स्वरूप की सच्ची झलक मिल सकती है। लाइवनित्ज के शब्दों में, 'चिद्‌विन्दु जगत्‌ का जीता जागता आइना है'।

इन चिद्‌विन्दुओं में क्रमिक व्यवस्था होती है। उनमें अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। उनमें कुछ निम्न स्तर के हैं और कुछ उच्च स्तर के हैं। विश्व असीम संख्यक चिद्‌विन्दुओं से निर्मित है। हरेक में अपने स्तर के अनुसार प्रत्यक्ष तथा आत्मवोध की स्पष्टता होती है। दो चिद्‌विन्दु कभी भी समान नहीं होते। यदि उनमें समानता होती तो उनमें भेद करना मुश्किल हो जाता। इन चिद्‌विन्दुओं में किसी प्रकार का गुणात्मक (Qualitative) भेद नहीं होता। उनका मौलिक स्वरूप एकसा ही है। उनमें केवल परिमाण (Quantity) का भेद होता है। परिमाणात्मक भेद के अनुसार, लाइवनित्ज ने चिद्‌विन्दुओं को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है।

(1) वे चिद्‌विन्दु जिनमें जड़ तत्व (Matter) अधिक होता है। उनमें चैतन्य सुप्त या मूर्छित अवस्था में रहता है। यह चैतन्य का क्षीणतम स्तर है। इनमें जगत्‌ का प्रतिविम्बीकरण लगभग नहीं के वरावर होता है। इन्हें अचेतन भी कहा जा सकता है। जगत्‌ की विभिन्न जड़ वस्तुएँ इन्हीं के समग्र रूप हैं।

(2) वे चिद्‌विन्दु जिनसे वनस्पति जगत्‌ वना है। ये उपचेतन अवस्था में होते हैं। इन चिद्‌विन्दुओं में चेतन स्वप्न की सी स्थिति में रहता है। ये चैतन्य का क्षीणतर स्तर है। यहाँ प्राण स्पंदन होने लगता है।

(3) इस स्तर में चेतन चिद्‌विन्दु होते हैं। यह पशु जगत्‌ का संसार है। उनमें स्मृति तथा चेतन होता है। स्मृति के कारण इनसे भूत तथा वर्तमान के विभिन्न प्रत्यक्षों में साहचर्य सम्वन्ध होता है।

(4) इस श्रेणी में स्व: चेतन चिद्‌विन्दु आते हैं जिन्हें मानव प्राणी कहते हैं। इनमें आत्मवोध अथवा आत्म-दर्शन की शक्ति होती है। इनके माध्यम से अनिवार्य और शाश्वत सत्यों को जाना जा सकता है। ये चिद्‌विन्दु मनुष्यों को पशुओं से अलग करते हैं। ये चिद्‌विन्दु ही वौद्धिक आत्मा हैं।

(5) यह परम चिद्‌विन्दु है जिसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर का ज्ञान विलकुल स्पष्ट तथा पूर्ण है। यह परम चिद्‌विन्दु अन्य सभी चिद्‌विन्दुओं का स्रष्टा है। ईश्वर विशुद्ध सक्रिय मौलिक चिद्‌विन्दु है। निरन्तरता के सिद्धान्त के संचालन की प्रक्रिया में ऐसे सर्वोच्च चिद्‌विन्दु का होना परमावश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि चिद्‌विन्दु असीम, सरल, विस्तारहीन असंख्यक शक्तियाँ हैं। लाइवनित्ज के अनुसार, वे तात्त्विक विन्दु हैं जिनके स्पष्ट लक्षण इस प्रकार हैं :—

(i) **विशिष्टता (Uniqueness)**—सभी चिद्बिन्दु एक दूसरे से निरपेक्ष और स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक चिद्विन्दु विशिष्ट अर्थात् वह अनोखा है। प्रत्येक चिद्विन्दु अपनी सत्ता के लिए ईश्वर के अतिरिक्त और किसी पर आश्रित नहीं है।

(ii) **गवाक्षहीनता (Windowlessness)**—हरेक चिद्विन्दु एक ऐसे कमरे के समान है जिसमें कोई खिड़की नहीं है। चिद्विन्दुओं में परस्पर कोई सम्वन्ध नहीं है और न उनमें किसी प्रकार का आदान-प्रदान होता है। इतना अवश्य है कि उनका मौलिक स्वरूप समान है।

(iii) **अविभाज्यता (Indivisibility)**—लाइबनित्ज ने अनेक द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार किया है। अविभाज्यता द्रव्य का अनिवार्य गुण है। द्रव्य के सरलतम रूप होने के कारण चिद्बिन्दु अविभाज्य हैं। अतएव उनका कोई आकार नहीं है। वे किसी आकाश जैसी कल्पना में स्थान नहीं घेरते। वस्तुओं तथा जीव के निर्माण में चिद्विन्दु संयुक्त तथा पृथक् होते हैं। किन्तु इससे स्वयं चिद्बिन्दुओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(iv) **शाश्वतता (Eternity)**—समस्त चिद्विन्दु शाश्वत हैं। जब से सृष्टि हुई है तब से मोनड्स हैं। उनको कोई नष्ट नहीं कर सकता। केवल कोई चमत्कार ही उन्हें नष्ट कर सकता है। जब तक सृष्टि रहेगी तब तक सभी चिद्विन्दु रहेंगे।

(v) **गतिशीलता (Mobility)**—सभी चिद्बिन्दु सरल तात्विक बिन्दु होने के कारण गतिशील हैं। यह सही है कि वे परस्पर न किसी को प्रभावित करते हैं और न स्वयं प्रभावित होते हैं, पर उनमें क्रिया जुड़ी हुई है। चिद्विन्दु अपने स्वभाव से ही विकासोन्मुख तथा सक्रिय होते हैं, उनमें प्रत्यक्ष एवं प्रयास दोनों होते हैं। इसलिए उनमें गतिशीलता पाई जाती है।

पूर्व-स्थापित सामंजस्य (Pre-established Harmony)

जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट है विभिन्न चिद्बिन्दुओं में कोई परस्पर सम्वन्ध नहीं है। न किसी से प्रभावित होते हैं और न ही किसी को प्रभावित करते हैं। किन्तु यह प्रश्न उठता है कि जब चिद्विन्दुओं में कोई सम्पर्क नहीं है तो जगत् में सामंजस्य कैसे संभव है ?

लाइवनित्ज के अनुसार, ईश्वर ने समस्त चिद्विन्दुओं को इस तरह वनाया है कि उनमें आदि से ही साहचर्य (Association) है। समस्त चिद्विन्दुओं में ईश्वरकृत पूर्व-स्थापित सामंजस्य है। उनमें कारणात्मक सम्वन्ध नहीं है। जिस प्रकार विपरीत प्रकार के वाद्य यंत्र अपना पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व तथा स्वर विशिष्टता रखते हुए भी अन्य वाद्ययंत्रों के स्वरों से एकतान-संगीत की सृष्टि करते हैं, उसी भांति प्रत्येक चिद्विन्दु अपनी स्वतन्त्र सत्ता और विशेषता रखते हुए भी इस विराट् सृष्टि का एक-एक अंग है। इस विश्व में जो कुछ हो रहा है वह हरेक चिद्विन्दु में प्रतिबिम्बित होता है। प्रत्येक चिद्विन्दु में चित्-शक्ति के रूप में समस्त विश्व-भूत, वर्तमान तथा भविष्य, वीजरूप में हैं। चिद्विन्दु

का ज्यों-ज्यों विकास होता है उसमें स्पष्ट प्रत्यक्ष की शक्ति की अभिवृद्धि होती जाती है। वह अधिकाधिक चैतन्य अवस्था को प्राप्त करता है और उसका ज्ञान भी उसी अनुपात में स्पष्ट होता चला जाता है।

लाइबनित्ज मन और शरीर में किसी प्रकार की अन्तर्क्रिया को स्वीकार नहीं करता और न उनकी यांत्रिक बनावट को घड़ी के समान मानता है जो बनाने के पश्चात् स्वतः चलती रहती है। वह संयोगवाद का भी विरोध करता है। ईश्वर ने मन तथा शरीर को इस तरह बनाया है कि दोनों में आदि से ही साहचर्य है। आत्मा (मन) और शरीर का सम्बन्ध ईश्वरकृत पूर्व-स्थापित सामंजस्य पर आश्रित है। यह लाइबनित्ज का समानान्तरवाद है। मन और शरीर में कोई कारणात्मक क्रिया नहीं है। मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाओं में साहचर्य। वे सहवर्ती हैं। इस अर्थ में शरीर आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति है। सुप्त पदार्थों में अनन्त चिद्‌बिन्दु होते हैं। आदमी के शरीर में भी अनन्त चिद्‌बिन्दु हैं जिनमें मुख्य चिद्‌बिन्दु आत्मा है। शरीर का प्रत्येक चिद्‌बिन्दु अपनी प्रकृति के पूर्व-नियोजित नियमों के अनुसार क्रिया करता है। आत्माएं लक्ष्यात्मक कारणों के अनुसार, इच्छा, उद्देश्य, साधनों द्वारा करती हैं, जबकि वस्तुएं निमित्त कारणों या गति के नियमों के अनुसार क्रिया करती हैं. दोनों एक दूसरे से सामंजस्य रखती हैं। अन्य शब्दों में, आवयविक शरीर तथा उनकी क्रियाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंग ईश्वर द्वारा पूर्व-निर्मित होते हैं। वे दैविक यंत्र हैं। आवयव जितना ही उच्च होगा उसमें चिद्‌बिन्दुओं की व्यवस्था उतनी ही अच्छी होगी जैसा कि मानव प्राणियों में मिलता है।

लाइबनित्ज के अनुसार, जगत् में पूर्ण सामंजस्य है। यह विश्व की आवयवी (Organic) धारणा पर बल देता है। विश्व का प्रत्येक अंग स्वतन्त्र रूप से अपना-अपना काम करता है। हरेक वस्तु कारण-रूप में सम्बद्ध है। लेकिन कारण-कार्य का सह-परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विभिन्न अंगों में सामंजस्यपूर्ण क्रियाओं का रूप ही कारण-कार्य है जिसे ईश्वर ने पहले से ही स्थापित कर दिया था। ईश्वर ने विश्व का प्रबन्ध इस ढंग से किया है कि वह उसके हस्तक्षेप के बिना ही चलता रहता है। चिद् बिन्दु की हरेक पूर्व अवस्था आने वाली अवस्था के साथ अनिवार्यतः घटित होती है। विश्व में पूर्ण सामंजस्य है। वैसे प्रकृति में प्रत्येक वस्तु की व्याख्या यांत्रिक ढंग से की जा सकती है क्योंकि उसमें नियम हैं, व्यवस्था और एकरूपता है, लेकिन समस्त व्यवस्था एक उच्च आधार की ओर संकेत करती है। वह आधार ईश्वर है। ईश्वर समस्त घटनाओं का परम कारण है। अतएव लाइबनित्ज के दर्शन का आदर्शवाक्य है : 'यंत्रविद्या का उद्‌गम तत्वज्ञान से है।'

हम प्रकृति और गति के नियमों की अनिवार्यता का प्रदर्शन नहीं कर सकते। वे तर्कशास्त्र, गणित तथा रेखागणित के नियमों की भांति अनिवार्य नहीं हैं।

उनकी सत्ता उनकी उपयोगिता पर निर्भर करती है जिसका आधार ईश्वर की बुद्धिमता में निहित है। ईश्वर ने नियमों का निर्धारण इस ढंग से किया है कि उनके द्वारा उसके प्रयोजन की प्राप्ति हो सके। अतएव जगत् की सत्ता ईश्वर के मन में जो प्रयोजन है उस पर ही आश्रित है। ईश्वर लक्ष्यात्मक कारण (Final Cause) है जो निमित्त कारणों को साधनों के रूप में प्रयोग करता है। यहाँ पर लाइबनित्ज यंत्रवाद तथा प्रयोजनवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। हम उद्देश्य की धारणा के बिना प्रकृति की व्याख्या कर सकते हैं। किन्तु यंत्र-वादी दर्शन हमें ईश्वर तक ले जाता है क्योंकि हम दैविक उद्देश्य के बिना भौतिक विज्ञान और यंत्रविद्या के सार्वभौम सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं कर सकते। इस प्रकार धर्म और बुद्धि का सामंजस्य हो जाता है। प्रकृति के भौतिक साम्राज्य और कृपा के नैतिक साम्राज्य में भी सामंजस्य है। नैतिक साम्राज्य में ईश्वर एवं समस्त आत्माएं सम्मिलित हैं। आत्माएं ईश्वर की ही प्रतियां हैं। अपने क्षेत्र में वे लघुदेव-रूप हैं। मनुष्य की बुद्धि अपने स्वरूप में ईश्वर के ही समान है, पर दोनों में मात्रा का भेद है। अतएव भौतिक साम्राज्य की तुलना में, आत्माओं की एकता का साम्राज्य भी है। किन्तु दोनों में सामंजस्य है। ईश्वर जगत् रूपी मशीन का रचयिता है और साथ-साथ दैविक आध्यात्मिक साम्राज्य का सम्राट् भी है।

लाइबनित्ज के बहुतत्त्ववाद की द्वैतवाद के साथ आसानी से तुलना की जा सकती है। स्पिनोजा ने केवल एक परम तत्व को स्वीकार किया। यह परम तत्व निरपेक्ष द्रव्य है। देकार्त ने ईश्वर को परम तत्व स्वीकार तो किया, लेकिन दो उस पर आश्रित द्रव्यों (मन और शरीर) को भी माना। मन और शरीर के विशेषण क्रमशः चिंतन और विस्तार हैं। स्पिनोजा ने कहा कि द्रव्य तो एक ही है; चिन्तन और विस्तार उसके अनिवार्य विशेषण हैं। किन्तु लाइबनित्ज चिद्बिन्दुओं के रूप में अनेक द्रव्यों की सत्ता में विश्वास करता है। ये चिद्बिन्दु मौलिक रूप से समान हैं। किन्तु उनमें श्रेणी भेद है। उनमें परिमाणात्मक अन्तर हैं। परमाणुवादियों को भी बहुतत्त्ववादी कहते हैं। असंख्य परमाणु भी यथार्थ हैं। किन्तु उनके परमाणु भौतिक हैं, जबकि लाइबनित्ज के चिद्बिन्दु आध्यात्मिक हैं। वह ईश्वर को परम-चिद्बिन्दु मानता है। परमाणुवादी ईश्वर को सर्वोच्च परमाणु के रूप में नहीं मानते।

ईश्वर का स्वरूप (Nature of God)

लाइबनित्ज का धर्मशास्त्र (ईश्वरवाद) उसके तत्वज्ञान का ही अनिवार्य अंग है। ईश्वर सर्वोपरि है। वह ईश्वर को सर्वोच्च चिद्बिन्दु मानता है। ईश्वर चिद्बिन्दुओं का सरताज है। उसकी सत्ता कई प्रकार से सिद्ध की जा सकती है। सर्वप्रथम, निरन्तरता का सिद्धान्त शक्तियों की शृंखला के अन्त में सर्वोच्च चिद्बिन्दु की सत्ता की अपेक्षा रखता है। पर्याप्त कारण का सिद्धान्त भी यह कहता है कि समस्त चिद्बिन्दुओं का कोई मूल कारण होना चाहिए और वह ईश्वर है। ईश्वर

निरपेक्ष तथा नित्य है और समस्त चिद्‌बिन्दुओं का मूल कारण है। तीसरे प्रकृति की व्यवस्था तथा सामंजस्यता किसी कर्त्ता की ओर संकेत करती है। वह ईश्वर है। यह लाइबनित्ज की भौतिक-ईश्वरवादी युक्ति है। जगत्‌ का कारण जगत्‌ से बाहर होना चाहिए। विश्व एक है। अतएव उसका कारण भी एक है। विश्व में व्यवस्था है। इसलिए कारण को बुद्धिपरक होना चाहिए। लाइबनित्ज ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में ज्ञानात्मक युक्ति और देता है। तर्कशास्त्र और रेखागणित के सत्य शाश्वत और अनिवार्य होते हैं जिनकी सत्ता के लिए किसी शाश्वत बुद्धि की अपेक्षा है। वह ईश्वर ही हो सकता है।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि लाइबनित्ज ईश्वर की सत्ता के लिए चार प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत करता है; (i) सत्तामूलक प्रमाण; (ii) सृष्टिमूलक प्रमाण; (iii) नित्य सत्यों के आधार पर प्रमाण; और (iv) पूर्व-स्थापित सामंजस्य के आधार पर प्रमाण जिसे आकृतिमूलक या भौतिक-धर्मशास्त्रीय प्रमाण भी कह सकते हैं।

(1) लाइबनित्ज का सत्तामूलक प्रमाण 'सत्ता और सार' (Existence and Essence) के भेद पर आधारित है। किसी भी सामान्य वस्तु की एक ओर सत्ता होती है और दूसरी ओर उसमें कुछ गुण होते हैं जो उसके सार की ओर संकेत करते हैं। यदि ईश्वर को भी इस दृष्टि से देखा जाय तो उसकी सत्ता सम्भव है। इस तर्क के अनुसार, ईश्वर सबसे अधिक पूर्ण सत्‌ है अर्थात्‌ समस्त पूर्णताओं का ध्येय (Subject) है। पूर्णता से लाइबनित्ज का तात्पर्य उस 'सरल गुण' से है जो भावात्मक तथा निरपेक्ष है और जिस चीज को वह अभिव्यक्त करता है उसे असीम रूप में करता है। पूर्णताओं में विरोध नहीं होता। अतएव ईश्वर सबसे अधिक पूर्ण सत्‌ (Being) है। ईश्वर की सत्ता है क्योंकि ईश्वर असंख्य पूर्णताओं में एक ध्येय के रूप में है।

(2) लाइबनित्ज का सृष्टिमूलक प्रमाण इससे भी अधिक स्पष्ट है। वह कहता है कि जगत्‌ में हरेक विशेष वस्तु आकस्मिक है अर्थात्‌ तार्किक दृष्टि से यह आवश्यक नहीं कि उसकी सत्ता होनी ही चाहिए थी। यह बात केवल विशेष वस्तु पर ही लागू नहीं होती, वरन्‌ समस्त विश्व के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यदि हम यह कहें कि विश्व सदैव विद्यमान होता है तो भी विश्व में ऐसी कोई बात नहीं है जो यह प्रमाणित करे कि उसकी सत्ता क्यों है ? किन्तु हरेक वस्तु का पर्याप्त कारण होता ही है। अतएव सम्पूर्ण विश्व का भी कोई पर्याप्त कारण होना चाहिए जो विश्व से पृथक्‌ हो। यद्यपि ईश्वर की सत्ता है, किन्तु वह तर्क की दृष्टि से जगत्‌ की सृष्टि करने के लिए बाध्य नहीं था। यह तो ईश्वर की इच्छा थी जो उसकी उत्तमता से प्रेरित होकर, सृष्टि का कारण बनी, न कि कोई बाध्यता या तार्किक अनिवार्यता जिससे ईश्वर को सृष्टि करनी ही थी। दरअसल जगत्‌ का पर्याप्त कारण ईश्वर है।

लाइबनित्ज की यह युक्ति 'प्रथम कारण' पर आधारित युक्ति से कहीं अधिक सुदृढ़ है। उसे आसानी से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'प्रथम कारण' की युक्ति इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक शृंखला में प्रथम पद होता है। यह दोषपूर्ण है क्योंकि सही अंशों की शृंखला में कोई प्रथम पद होता ही नहीं। लाइबनित्ज की यह युक्ति उसी सीमा तक सही है जिस तक हम 'पर्याप्त कारण' की धारणा को मानते हैं। ज्योंही इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दें त्योंही उसका प्रमाण सारहीन हो जाता है।

(2) 'नित्य सत्यों' पर आश्रित युक्ति यह मानती है कि कुछ कथन ऐसे होते हैं जो कभी सत्य और कभी असत्य हो सकते हैं जैसे वर्षा होती है। किन्तु दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह सदैव सत्य है। वे कथन जिनका सम्बन्ध सार से होता है, न कि अस्तित्व से, या तो सदैव सत्य होंगे या फिर कभी भी सत्य नहीं होंगे। वे कथन जो सदैव सत्य हैं 'नित्य सत्य' कहे जाते हैं। लाइबनित्ज का कहना है कि जो आकस्मिक सत्य हैं उनका मूल कारण नित्य सत्यों में ही खोजना चाहिए। यह युक्ति सृष्टिमूलक युक्ति जैसी जान पड़ती है। समस्त आकस्मिक जगत् का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वह कारण स्वतः आकस्मिक नहीं हो सकता। वह केवल नित्य सत्यों में ही मिल सकता है। इन नित्य सत्यों की सत्ता केवल ईश्वर के मन में ही हो सकती है। वास्तव में, यह युक्ति सृष्टिमूलक का ही एक रूप कहा जा सकता है।

(3) पूर्व-स्थापित सामंजस्य की दृष्टि पर आश्रित यह युक्ति गवाक्षहीन चिद्-विन्दुओं (Windowless monads) की पूर्वमान्यता पर निर्भर है। ये चिद्बिन्दु ही समस्त विश्व का दर्पण हैं। चूँकि सभी घड़ियाँ अपना-अपना नियत समय बतलाती हैं और अन्तर्क्रिया के बिना स्वतः चलती हैं, इसलिए उन्हें नियमित करने वाला कोई बाह्य कारण तो होना ही चाहिए। अतएव ईश्वर की सत्ता पूर्व-स्थापित सामंजस्य की व्यवस्था करने वाले के रूप में है। यह युक्ति मूलतः जगत् की आकृति पर आधारित है। यह युक्ति इस बात पर बल देती है कि जगत् की वस्तुओं की उत्पत्ति निरुद्देश्य तथा अकारण ही सम्भव नहीं है। इनसे उस सत्ता का संकेत मिलता है जो वास्तव में उद्देश्य को लेकर उनकी रचना करती है।

ईश्वर और चिद्विन्दु सह-नित्य हैं। लाइबनित्ज के अनुसार, सभी चिद्विन्दु नित्य द्रव्य हैं। केवल चमत्कार ही उन्हें नष्ट कर सकता है। ईश्वर ने सभी चिद्-विन्दुओं को उत्पन्न किया है। वही उन्हें नष्ट कर सकता है। धर्मशास्त्र में लाइबनित्ज की स्थिति सर्वेश्वरवाद के स्थान पर ईश्वरवाद के अधिक समीप है, चिद्बिन्दुओं के रूप में ईश्वर वैयक्तिक है। फिर वह सभी चिद्विन्दुओं से परे है। वह अतिप्राकृतिक तथा अतीन्द्रिय है। ईश्वर पूर्ण तथा यथार्थ सत्ता है। मनुष्य ईश्वर का बिल्कुल स्पष्ट प्रत्यय नहीं बना सकता क्योंकि ईश्वर सबसे बड़ा चिद्बिन्दु है और मनुष्य सीमित

हैं। पूर्ण मन को एक पूर्ण मन ही समझ सकता है। मनुष्य में जो गुण हैं वे आंशिक रूप से सब चिद्बिन्दुओं में हैं। मनुष्य ईश्वर में सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता और पूर्ण सत् का निरूपण करता है। इस प्रकार ईश्वर की धारणा हम बनाते हैं। ईश्वर बुद्धि से परे है। किन्तु बुद्धि के विपरीत नहीं है। मनुष्य को ईश्वर के अस्पष्ट प्रत्यय भी होते हैं, मनुष्य में ईश्वर प्राप्ति की लालसा होती है। ईश्वर को हम विभिन्न अंगों की स्पष्टता से जानते हैं।

ईश्वर नितान्ततः पूर्ण है। पूर्ण होने के कारण ईश्वर में अन्य चिद्बिन्दुओं की भांति परिवर्तन अथवा विकास नहीं होता। वह स्वयं में पूर्ण है और उसका ज्ञान भी पूर्ण है। ईश्वर एक ही दृष्टि में सभी वस्तुओं को पूर्णतः देख लेता है। वह वास्तविकता प्राप्त यथार्थता है। उसने जगत् की रचना अपनी योजनानुसार की है और इस जगत् को उसने सम्भव जगतों में सबसे उत्तम बनाया है। उसका यह चुनाव, नैतिक अनिवार्यता से ओतप्रोत होने से आधारहीन नहीं है। ईश्वर की योजना तार्किक आवश्यकता से भी निर्धारित है। मनुष्य की भांति चिन्तन के मूल-भूत नियम ईश्वर पर भी लागू होते हैं।

इस सिद्धान्त के मानने से पाप की व्याख्या कैसे की जा सकती है ? अनेक सम्भव उत्तम जगतों में से यह जगत् एक है जिसमें सर्वोच्च संभव भिन्नता के साथ-साथ सामंजस्यता भी है। किन्तु फिर भी यह जगत् पूर्ण नहीं है। उसमें दोष भी हैं। जब ईश्वर ने अपने स्वरूप की ससीम रूपों में अभिव्यक्ति की तो वह उनको सीमाओं से पृथक् नहीं रख सका। ये सीमाएँ तात्त्विक दोष हैं। वे दुःख, कष्ट (भौतिक पाप) तथा नैतिक अशुभ का कारण हैं। अशुभ का अर्थ शुभ तथा सौन्दर्य को नष्ट-भ्रष्ट करना है। सद्गुण की उत्पत्ति अशुभ से संघर्ष करने से होती है। अन्य शब्दों में, ये सब युक्तियाँ हमें पहले से ही स्टोइक्स तथा नव्य-प्लेटोवादियों में मिलती हैं जिनके प्रभाव से ये बातें मध्य युग में ईसाई ईश्वरवाद के अंग बन गईं।

अपने ईश्वरवाद के आधार पर लाइबनित्ज ने 'अनेक सम्भव जगतों' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो उसके दर्शन की एक रुचिकर विशेषता है। यदि तर्कशास्त्र के नियमों का उल्लंघन न हो तो कोई भी जगत् सम्भव हो सकता है। 'सम्भव जगतों' की संख्या असीमित है जिन पर इस यथार्थ जगत् की सृष्टि के पूर्व ईश्वर ने मनन किया था। कृपालु होने के कारण, ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि सम्भव उत्तम जगतों में से की और उसे उत्तम बनाने के लिए, उसने अशुभ की तुलना में शुभ की मात्रा अधिक रखी। वह अशुभ को रखे बिना ही इस जगत् की सृष्टि कर सकता था। किन्तु वह जगत् इस यथार्थ जगत् से उत्तम नहीं होता। यह ईश्वर ने इसलिए किया कि ऊँचे शुभ तार्किक दृष्टि से कुछ निश्चित बुराइयों के साथ सम्बन्धित हैं। यह भली-भाँति विदित है कि गर्मी के दिनों में प्यास लगने से अधिक कष्ट

होता है और जैसे ही ठण्डे पानी का गिलास मिलता है उससे प्राप्त होने वाला सुख अधिक होता है। यही कारण है कि कष्टों की अनुभूति की दृष्टि से सुखों की प्राप्ति में और अधिक आनन्द मिलता है। यह बात पाप और संकल्प-स्वातंत्र्य पर कैसे घटाई जा सकती है? संकल्प-स्वातंत्र्य बहुत बड़ा शुभ है। किन्तु ईश्वर के लिए तार्किक दृष्टि से यह असम्भव था कि इसके साथ वह किसी पाप का प्राविधान नहीं रखता। ईश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्र पैदा करने का निश्चय किया, हालांकि वह जानता था कि एडम सेब खाकर पाप करेगा और इसलिए, पाप के प्राविधान के अनुसार उसे दण्ड मिला। यद्यपि इस जगत् में अशुभ है किन्तु शुभ की मात्रा अधिक है। अतएव यह सम्भव जगतों में उत्तम है और उसमें जो बुराई है वह ईश्वर की सत्ता को अप्रमाणित नहीं करती।

नीति शास्त्र (Ethics)

लाइबनित्ज के अनुसार, नीतिशास्त्र एक बौद्धिक विज्ञान है। नैतिक सिद्धान्त आत्मा में निहित हैं। आत्मा में कुछ ऐसे जन्मजात सिद्धान्त होते हैं जिनका प्रदर्शन नहीं हो सकता। किन्तु जिनसे अन्य नैतिक सत्य अनिवार्यतः अवतरित होते हैं। नैतिक सिद्धान्त हमारे अन्तर्गत, मूल-प्रवृत्तियों के रूप में, अचेतन ढंग से, क्रियाशील रहते हैं। हमें उनका बोध हो सकता है। यह नैतिक कथन कि दुःख का परित्याग तथा सुख का अनुसरण करना चाहिए आनन्द प्राप्ति की मूल प्रवृत्ति इच्छा पर आश्रित है, हालाँकि यह आन्तरिक अनुभव के अस्पष्ट ज्ञान पर आधारित है। इस सिद्धान्त को नैतिक सत्य मानकर अन्य नैतिक धारणाओं का अवतरण किया जा सकता है। नैतिक मूल-प्रवृत्तियाँ बिना सोचे-विचारे प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य का मार्ग प्रदर्शन करती हैं। किन्तु पापयुक्त आदतों से नैतिक स्वभाव भ्रष्ट भी हो सकता है। न्याय का सिद्धान्त जंगली मनुष्यों में भी पाया जाता है और वह प्रकृति का अंग भी होता है। यहाँ तक कि डकैत भी अपनी एकता बनाये रखने के लिये न्याय के सिद्धान्त का पालन करते हैं। यद्यपि परम्परा, आदत और शिक्षाओं से आत्मा की इन प्रवृत्तियों का विकास होता है किन्तु वे मानव प्रकृति में पहले से ही होती हैं।

यह ठीक है कि मनुष्य सदैव नैतिकता के जन्मजात सिद्धान्तों को नहीं मानते किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वे उनसे अनभिज्ञ होते हैं। नैतिकता के किसी सिद्धान्त को स्वीकार न करना और सर्व साधारण द्वारा उसका खण्डन होना, उस सिद्धान्त के जन्मजात होने के विरुद्ध की युक्ति नहीं है। वह उनसे अनभिज्ञ होने की युक्ति है। नैतिक सिद्धान्त सदैव स्पष्ट नहीं होते। अतः रेखागणित की प्रस्तावनाओं के प्रदर्शन की भांति उनका प्रमाण देने की आवश्यकता होती है। उनको जानने के लिए ध्यान और पद्धति आवश्यक है और यह भी हो सकता है कि विद्वानों को भी उनका पूर्ण बोध न हो।

संकल्प के विषय में लाइबनित्ज का मत है कि संकल्प तटस्थ या मनमौजी नहीं हो सकता क्योंकि संकल्प किसी न किसी प्रत्यय पर निर्धारित रहता है। मानसिक जीवन अनिवार्यतः प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति है अर्थात् बोध और भावना है। प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति का मेल इच्छा कहलाता है। संकल्प स्पष्ट प्रत्यक्ष द्वारा निर्देशित चेतन-इच्छा है। मनुष्य इस अर्थ में स्वतन्त्र है कि वह बाहर से निर्धारित नहीं है। चिद्बिन्दु में कोई झरोखा नहीं होता जिसमें कोई बाह्य वस्तु प्रवेश करके बाध्य करे। उसका अपना आन्तरिक निर्धारण होता है। प्रत्येक चिद्बिन्दु अथवा व्यक्ति अपने स्वभाव, इच्छाओं तथा प्रत्ययों से अनुशासित होता है। चुनाव सबसे बलवती इच्छा का परिणाम है। संक्षेप में, एक कार्य से दूसरे कार्य का निर्णय करने की स्वतन्त्रता की इच्छा करना मूर्ख होने की इच्छा करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि लाइबनित्ज संकल्प की स्वतन्त्रता का कट्टर समर्थक है। लेकिन वह स्वतन्त्रता जिस पर उसने इतना बल दिया मनमौजीपन की स्वतंत्रता नहीं है और ऐसा भी नहीं कि सब कुछ अनिर्धारित है। वह यह मानता है कि चिद्बिन्दु आन्तरिक रूप से स्वतः निर्धारित है। वह अपने में स्वतन्त्र है। वैसे लाइबनित्ज प्रयोजन को स्थान देता है, किन्तु उसका दर्शन उसी भाँति नियतिवादी है जिस भाँति स्पिनोजा आदि का। प्रत्येक विधेय (Predicate), चाहे अनिवार्य हो या आकस्मिक, भूत, वर्तमान या भविष्य से सम्बन्धित हो, ध्येय (Subject) के विचार से ही सम्भव है। इस तर्क से लाइबनित्ज यह कहता है कि प्रत्येक आत्मा अपने में ईश्वर के अतिरिक्त सबसे स्वतन्त्र है, अतएव जो कुछ आत्मा में होता है, वह ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं है। वह आगे कहता है कि द्रव्यों में अन्तर्क्रिया नहीं है, और सम्भव भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य (चिद्बिन्दु) अपने में स्वतन्त्र है। वह अपने ही दृष्टिकोण से जगत् का प्रतिनिधित्व करता है। वह स्वतः निर्धारित है स्पष्टतः यह व्यवस्था नियतिवादी कही जा सकती है जो पाप और संकल्प-स्वातन्त्र्य के ईसाई सिद्धान्त के विपरीत है। लेकिन साथ-साथ लाइबनित्ज जगत् को ईश्वर की स्वतंत्र-इच्छा की अभिव्यक्ति मानता है। ईश्वर ने अपनी शुभेच्छा के कारण ही, सम्भव जगतों में से इस उत्तम जगत् की सृष्टि की।

सारांशतः आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में देकार्त से बुद्धिवाद का उद्भव हुआ। स्पिनोजा के दर्शन में बुद्धिवाद का परिष्कृत रूप दिखलाई पड़ता है। बुद्धिवाद का चरम उत्कर्ष लाइबनित्ज के दर्शन में होता है। बुद्धिवाद से अभिप्राय ज्ञान के क्षेत्र में उस सिद्धान्त से है जो कि समस्त ज्ञान को बुद्धि पर आधारित मानता है। इसी बुद्धिवादी दृष्टिकोण को लेकर लाइबनित्ज ने एक समन्वयवादी विचार की स्थापना का प्रयास किया, हालांकि वह उसमें सफल नहीं हो पाया। उसने एकतत्ववाद तथा द्वैतवाद के स्थान पर बहुतत्ववाद का प्रतिपादन किया, जिसमें चिद्णुवाद उसकी प्रमुख देन है। उसका चिद्णुवाद आध्यात्मिक बहुतत्व-

वाद का ही एक रूप है। लाइबनित्ज ने मन और शरीर के सम्बन्ध के विषय में समानान्तरवाद को माना और उसने अपने दर्शन में यंत्रवाद तथा आध्यात्मिकता का समन्वय करने का प्रयास किया। संक्षेप में, उसने पूर्व-स्थापित सामंजस्य के आधार पर विभिन्न प्रकार के तथ्यों एवं सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जो उसकी प्रखर तर्क बुद्धि का प्रमाण है।

□

10

जॉन लॉक

(John Locke: 1632–1704)

जॉन लॉक का जन्म इंग्लैण्ड के समरसेट नामक नगर के एक धार्मिक परिवार में हुआ। सन् 1658 में उसने आक्सफोर्ड से एम.ए. की उपाधि प्राप्त की और बाद में चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन भी किया। उसकी राजनीतिक क्रियाओं में गहरी रुचि थी। वह तत्कालीन राजनीति से प्रभावित होकर उसी में लीन हो गया। उसका परिचय लार्ड एश्ले से हुआ। लॉक उसी के घर जाकर रहने लगा और उसके पुत्र का शिक्षक बन गया। वह एश्ले का परामर्शदाता तथा परिवार का वैद्य भी था। जब लार्ड एश्ले को, जो अर्ल शेफ्ट्सबरी तथा लार्ड चांसलर बन गया था, देश से भागकर हॉलैण्ड जाना पड़ा तो लॉक भी उसके साथ चला गया। सन् 1688 की रक्तहीन क्रान्ति के बाद लॉक इंग्लैण्ड लौट आया और उसने कई उच्च पदों पर काम किया। साथ ही उसने दर्शनशास्त्र तथा यूनानी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। जीवन के शेष वर्ष (1700–1704) उसने सर फ्रांसिस मेशाम के परिवार में बिताये जिसकी पत्नी दार्शनिक कडवर्थ की पुत्री थी।

लॉक ने दर्शन तथा राजनीति पर कई प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे जिनमें प्रमुख ये हैं: सहनशीलता से सम्बन्धित पत्र (लैटर्स कन्सर्निंग टॉलरेन्स); नागरिक शासन (सिविल गवर्नमेन्ट) आदि। जगत् प्रसिद्ध 'मानव बुद्धि से सम्बन्धित निबन्ध' (ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टेण्डिंग) उसकी ही कृति है जिसके कारण उनका नाम दूर-दूर तक प्रख्यात हुआ। राजनीति दर्शन में उसे 'दार्शनिक उदारवाद' (Philosophical Liberalism) का जनक उसी प्रकार माना जाता है जिस प्रकार ज्ञानमीमांसा में 'अनुभववाद' (Empiricism) का। लॉक ने जो कुछ लिखा वह उसकी प्रौढ़ावस्था का परिपक्व परिणाम था।

ज्ञान की उत्पत्ति (Origin of Knowledge)

दर्शन, लॉक के अनुसार वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान है। उसके दर्शन में ज्ञान की समस्या मौलिक है। निश्चित रूप से, कुछ कहने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक

है कि मानव बुद्धि क्या है तथा बुद्धि की सीमाएँ कौन-सी हैं ? कौन-सा ज्ञान निश्चित तथा स्पष्ट है ? क्या ज्ञान के सिद्धान्त पूर्वानुभव हैं ? लॉक ने इन प्रश्नों को अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार की गवेषणा ज्ञान-मीमांसा कहलाती है जिसके अन्तर्गत सर्व-प्रथम उसने देकार्त के 'जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त' की परीक्षा की। प्रत्ययों के सम्बन्ध में, देकार्त ने यह कहा था कि सभी प्रत्ययों की सत्ता पहले से ही मन में होती है अर्थात् वे ईश्वर-प्रदत्त हैं और किसी अनुभूति के बिना, सभी व्यक्तियों में स्पष्टतया पाये जाते हैं।

जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन (Refutation of Innate Ideas)

यह मानते हुए कि मन को अपने जन्मजात सिद्धान्तों का, यदि उनकी सत्ता है तो बोध होना चाहिए और यदि मन को जिस चीज का अनुभव न हो उसे हम मन में नहीं मान सकते, लॉक जन्मजात सत्यों की धारणा का विरोध करने के लिए ही नहीं, बल्कि उसे असत्य सिद्ध करने के लिए प्रमाण देता है। लॉक ने कहा कि आदमी के मन में कोई भी कल्पनात्मक तथा व्यावहारिक सिद्धान्त पहले से नहीं होते। यदि उनकी सत्ता हो भी तो उनको भी अन्य सत्यों की भाँति ही प्राप्त किया गया होगा। यदि आत्मा में किसी ऐसे सिद्धान्त की सत्ता हो सकती है जिसका उसे बोध न हुआ हो तो यह भेद करना असम्भव हो जायेगा कि क्या जन्मजात है और क्या नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम आदमी जब बुद्धि का प्रयोग करता है तो इन सिद्धान्तों से परिचय कर लेता है क्योंकि बच्चे अशिक्षित। तथा जंगली लोगों को बुद्धि के स्तर तक पहुँचने में बड़ा समय लगता है। किसी तर्कवाक्य की तत्काल स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि वह जन्मजात है। यदि सभी प्रत्यय जन्मजात हैं तो उनका ज्ञान स्वतः होना चाहिए जो जीवन में संभव नहीं है।

लॉक के अनुसार, जो बात बौद्धिक प्रत्ययों के विषय में कही जा सकती है वही नैतिक और धार्मिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। नैतिक नियमों को भी जन्मजात नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे स्वयंसिद्ध या सार्वभौम रूप से मान्य नहीं हैं और वे मनुष्यों को क्रिया करने की प्रेरणा नहीं देते। जो बहुत से लोगों की दृष्टि में पाप है वह अन्यों के लिए कर्तव्य है। जो कुछ लोगों के लिए शुभ है, अन्यों के लिए अशुभ है। कुछ विद्वान नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं और कुछ निरपेक्ष। यदि यह कहा जाये कि जन्मजात प्रत्ययों को पक्षपात, शिक्षा आदि से अस्पष्ट बना दिया जाता है तो उनकी सार्वभौम मान्यता से इन्कार करना है। यदि यह भी मान लें कि जन्मजात प्रत्ययों को नष्ट नहीं किया जा सकता तो उन्हें आदमी बच्चे तथा असभ्य लोगों में समान रूप से प्रकट होना चाहिए जो व्यवहार में असत्य प्रतीत होता है।

देकार्त ने ईश्वर की जन्मजात धारणा पर अधिक बल दिया और यह कहा कि ईश्वर का प्रत्यय सार्वभौम है। लॉक ने इसे स्वीकार नहीं किया। तथ्य यह है

कि अनेक कबीले ईश्वर के प्रत्यय को या तो जानते नहीं या फिर ईश्वर की धारणा उनके मन में स्पष्ट नहीं है। यदि समस्त मानव जाति ईश्वर की धारणा से परिचित भी हो तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह जन्मजात है। वस्तुतः अनेक लोग ईश्वर की धारणा से पहले तो परिचित ही नहीं हैं और हैं भी तो उसका अनुभव में कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता। अतएव ईश्वर सम्बन्धी प्रत्यय भी सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। अग्नि, सूर्य, गर्मी तथा संख्या ऐसे प्रत्यय हैं जिन्हें समस्त मानव प्राणी जानते हैं। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे जन्मजात हैं। एक बुद्धिशील प्राणी जब सृष्टि में दैवी शक्ति और ज्ञान का आभास देखने का प्रयत्न करेगा तो वह एक ईश्वर की धारणा तो बना ही लेगा। इस प्रकार लॉक देकार्त के जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त को अस्वीकार कर देता है।

अन्त में, यदि जन्मजात प्रत्ययों के समर्थन में यह कहा जाय कि जन्मजात प्रत्यय अस्फुट रूप में रहते हैं और कालान्तर में स्पष्ट हो जाते हैं तो जन्मजात प्रत्ययों की विशेषता जाती रहती है क्योंकि यही बात अन्य सभी प्रत्ययों के प्रति भी लागू होती है कि वे कालान्तर में स्पष्ट हो जाते हैं। दूसरे देकार्त ने जन्मजात प्रत्ययों की निश्चित तालिका तो नहीं दी, किंतु उसने यह बतलाया कि जन्मजात (सहज) प्रत्यय वे हैं जो सार्वभौमिक हैं। इस प्रसंग में लॉक का कहना है कि शायद ही ऐसा कोई प्रत्यय हो जिसे सार्वभौमिक सिद्ध किया जा सके और यदि कुछ प्रत्ययों को सार्वभौम मान लिया जाये तो उनकी सार्वभौमिकता की व्याख्या सहजता या जन्मजात के आधार पर न होकर, अनुभव से ही स्पष्ट हो सकती है।

लॉक के अनुसार, प्रत्यय और सिद्धान्त, कला और विज्ञान की भाँति जन्मजात नहीं हैं। वह कहता है कि मन एक धुली स्लेट (Tabula rasa), अन्ध कोठरी, सफेद कागज के समान है। प्रारम्भिक स्थिति में, मन गुणहीन या प्रत्यय रहित होता है। मन में पहले से कोई विचार नहीं होता और न उसमें ज्ञान की सामग्री ही होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि मन ज्ञान की समस्त सामग्री कहाँ से प्राप्त करता है ? लॉक इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में दे देता है: 'अनुभव' से। हमारा समस्त ज्ञान अन्ततः अनुभव (Experience) पर आधारित है। लॉक के ज्ञानशास्त्र का यही सार है। यहीं से उसके अनुभववादी दर्शन का प्रारम्भ होता है।

अनुभववाद की यह मौलिक मान्यता है कि प्रत्ययों की सत्ता पहले से मन में नहीं होती क्योंकि जन्म के समय हरेक व्यक्ति का मन सफेद कागज के समान होता है। फिर प्रत्यय मन में कहां से आते हैं ? प्रत्ययों को प्राप्त करने के दो ही मार्ग होते हैं-संवेदन तथा आत्म-चिन्तन (Sensation and Reflection). संवेदन और आत्म-चिन्तन ऐसी दो ही खिड़कियां हैं जिनके द्वारा मन रूपी कूप में ज्ञान-रश्मियाँ

आती हैं। जो कुछ भी ज्ञान है इन्हीं दो द्वारों से प्राप्त होता है। अतएव हमें इन दोनों को भलीभाँति समझ लेना चाहिए:—

संवेदन (Sensation)–भौतिक वस्तुओं से जब शारीरिक इन्द्रियों को प्रभावित होती हैं तो संवेदन उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थ शारीरिक इन्द्रियों को उद्दीप्त करता है और वह उत्तेजना मस्तिष्क में पहुँचकर संवेदन उत्पन्न करती है। वस्तुओं की सत्ता मन से स्वतन्त्र है और हमारी सभी संवेदनाएँ इनकी नकल (Copies) हैं। वस्तुओं का प्रतिनिधित्व संवेदनाओं के द्वारा ही होता है। संवेदन से बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होता है।

आत्म-चिन्तन (Reflection)–जिस प्रकार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान संवेदनाओं से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार आभ्यन्तरिक दशाओं का ज्ञान आत्म-चिन्तन के आधार पर होता है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में अन्तर्निरीक्षण कहा जा सकता है। इसी के द्वारा हमें अपने अन्दर भय, क्रोध, सुख-दु:ख, आदि अवस्थाओं का ज्ञान होता है। इस प्रकार चिन्तन मन की आन्तरिक प्रतिक्रियाओ का प्रत्यक्ष है।

संवेदन के द्वारा मन को इन्द्रियजन्य गुणों की प्राप्ति होती है। चिन्तन मन को उसकी ही क्रियाओं जैसे प्रत्यक्ष, विचारणा, संदेह, विश्वास, युक्ति, जानना, संकल्प, आदि की जानकारी देता है। मानव बुद्धि की प्रथम क्षमता यह है कि वह अपने ऊपर या तो इन्द्रियों द्वारा बाह्य वस्तुओं की या जब वह उन पर चिन्तन करती है तो अपनी क्रियाओं द्वारा अंकित बातों को ग्रहण करती है। प्रत्यय से लॉक का तात्पर्य उससे है जिसका मन को प्रत्यक्ष रूप से बोध होता है अथवा जो प्रत्यक्ष, विचार या बुद्धि का तात्कालिक विषय हो।

सरल तथा जटिल प्रत्यय (Simple and Complex Ideas)

उपरोक्त प्रकार से प्राप्त होने वाले प्रत्यय 'सरल प्रत्यय' होते हैं अर्थात जो प्रत्यय संवेदन तथा आत्म-चिन्तन से प्राप्त होते हैं, उन्हें लॉक सरल प्रत्यय कहता है। मन इन सरल प्रत्ययों की अनन्त रूप से तुलना (Comparison), संगठन (Organisation) और पुनरावृत्ति (Repetition) करके 'जटिल प्रत्यय' बना सकता है। जब मन निष्क्रिय रूप से प्रत्ययों को ग्रहण करता है तब वे सरल कहे जाते हैं और जब मन सक्रिय हो जाता है तब जटिल प्रत्यय उत्पन्न होते हैं लेकिन बुद्धि में किसी नये 'सरल प्रत्यय, को बनाने या मन में विद्यमान सरल प्रत्यय को नष्ट कर सकने की शक्ति नहीं है। कुछ सरल प्रत्यय एक-एक इन्द्रिय द्वारा मन में आते हैं जैसे रंग, ध्वनि, स्वाद, गर्मी, सर्दी, ठोसपन, आदि के प्रत्यय, कुछ प्रत्यय एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा आते हैं जैसे आकाश या विस्तार आकृति, विश्राम और गति जो देखने तथा स्पर्श से उत्पन्न होते हैं। कुछ प्रत्यय केवल आत्म–चिन्तन के द्वारा ही प्राप्त होते हैं अर्थात् मन अपने

क्रियाओं का अवलोकन करके उनके प्रत्ययों को प्राप्त करता है जैसे स्मृति, विवेक, तुलना, नामकरण, अवतरण, आदि। कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जिनको मन संवेदन और चिन्तन दोनों द्वारा प्राप्त करता है जैसे सुख, दुःख, शक्ति, सत्ता, एकता, अनुक्रम तथा अवधि।

यद्यपि संवेदन के बहुत से प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के गुणों से मिलते-जुलते हैं किन्तु बहुत से प्रत्यय ऐसे हैं जो बाह्य वस्तुओं से नहीं मिलते। वस्तुओं में हमारे मन के अन्तर्गत निश्चित प्रत्यय उत्पन्न करने की शक्तियाँ होती है। लॉक इन्हें 'गुण (Qu. alities) कहता है। कुछ गुण स्वयं वस्तुओं में ही होते हैं। वे वस्तुओं से अलग नहीं किए जा सकते। ऐसे गुणों को लॉक ने 'प्रमुख गुण' (Primary-qualities) कहा है जैसे ठोसपन (Solidity), विस्तार (Extension), आकृति (Figure), गति या विश्राम (Motion or Rest), और संख्या (Number)। ये प्रमुख गुण वास्तव में वस्तुओं में ही निहित होते हैं। अन्य सभी गुणों को जैसे रंग, ध्वनि, गंध, आदि को लॉक गौण गुण कहता है। गौण गुण वे हैं जो स्वयं वस्तुओं में तो नहीं होते, किन्तु हमारे अन्तर्गत विभिन्न संवेदनाएँ उत्पन्न करने की शक्तियों के सिवाय और कुछ नहीं होते। गौण गुण ज्ञाता के ऊपर निर्भर होते हैं। आँख के बिना रंग नहीं हो सकता। कान के बिना कोई ध्वनि सुनाई नहीं दे सकती और नाक के बिना कोई गंध महसूस नहीं हो सकती। यहाँ पर लॉक ने उदाहरण दिया है कि यदि किसी बर्तन में गर्म पानी रखा है और दाहिने हाथ को उसमें थोड़ी देर तक डाले रहें तो दाहिने हाथ के लिए पानी ठंडा सा मालूम देगा। किन्तु यदि एकाएक बांया हाथ उसमें डालें तो वही पानी गर्म प्रतीत होगा। यदि जल का ताप वास्तव में जल में रहता तो वह दोनों हाथों के लिए एक समान होता। पर ऐसी बात देखने में नहीं आती। इससे स्पष्ट होता है कि गौण गुण इन्द्रियों पर निर्भर होते हैं। किन्तु उनका वास्तविक आधार प्रमुख गुण ही है क्योंकि ठोसपन, विस्तार, आदि का प्रभाव हमारी इन्द्रियों पर पड़ता है और तब हमारे अन्दर गौण गुण उत्पन्न होते हैं।

सभी सरल प्रत्यय मन को संवेदन तथा आत्म-चिंतन के द्वारा प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार अंग्रेजी वर्णमाला के 26 अक्षरों से सभी शब्दों का चयन होता है, उसी प्रकार समस्त ज्ञान इन्हीं सरल प्रत्ययों से मिलता है। संवेदन और आत्म-चिंतन ऐसी दो बाह्य और आन्तरिक खिड़कियाँ हैं जिनके द्वारा बुद्धि रूपी अन्ध कोठरी में प्रकाश पहुँचता है। मन अपनी शक्ति द्वारा सरल प्रत्ययों को संगठित करके 'जटिल प्रत्यय' बनाता है। मन दो प्रत्ययों को साथ-साथ मिला सकता है। दोनों के बारे में विचार कर सकता है। इस प्रकार वह सम्बन्ध के सभी प्रत्ययों को प्राप्त करता है। जिन प्रत्ययों का सह-अस्तित्व होता है, मन उनको अलग-अलग कर सकता है। इस क्रिया को अनुचयन (Abstraction) कहते हैं। सरल प्रत्ययों को ग्रहण करने में मन निष्क्रिय

होता है, किन्तु जटिल प्रत्ययों का निर्माण करते समय वह सक्रिय हो जाता है।

लॉक के अनुसार, जब मन को सरल प्रत्यय प्राप्त होते हैं तब वह सक्रिय हो कर उन्हें असंख्य विधेयों से जोड़कर जटिल प्रत्यय बना सकता है। जोड़ना या मिश्र करना मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा संवेदन और आत्म-चिंतन से प्राप्त सरल प्रत्ययों को एक साथ सजाकर जटिल प्रत्यय बनाया जाता है। मिश्रण में केवल सरल प्रत्ययों को एकत्रित ही नहीं किया जाता उनमें एकत्व भी पैदा किया जाता है पीलापन, सुगन्ध, चिकनापन, आदि के सरल प्रत्ययों को जोड़कर हमें आम का जटिल प्रत्यय मिलता है जिसमें एकत्व है। यह एकत्व की धारणा न तो सरल प्रत्ययों में थी और न मिश्रण प्रक्रिया में। वास्तव में, जटिल प्रत्ययों की रचना में मन की यह अपनी विशेष देन है।

मिश्रण के अतिरिक्त, लॉक ने दो और मानसिक प्रक्रियाओं—तुलना और अमूर्त बोधन (Comparison and Abstraction) को भी स्वीकार किया है। तुलना वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमें हम दो प्रत्ययों को, चाहे सरल हों या जटिल, एक साथ ऐसे अपने सामने रखते हैं कि उन्हें मिलाए बिना ही, हम उन्हें एक साथ देख सकें प्रत्ययों की एक साथ तुलना करने से हम उनके बीच निहित सम्बन्ध को जान लेते हैं जैसे एक प्रत्यय दूसरे के पहले या बाद में आता है, अथवा एक दूसरे के समान है या भिन्न है, इत्यादि। यहाँ पर समानता और भिन्नता के प्रत्यय मानसिक प्रक्रिया की देन हैं। किन्तु लॉक यह भी कहता है कि इनका मूलाधार संवेदन ही है, हालांकि एकत्व, समानता, भिन्नता, आदि संवेदन से अलग प्रतीत होते हैं।

मन अमूर्तबोधन की प्रक्रिया भी करता है। लॉक ने कहा भी है कि वैज्ञानिक ज्ञान में अमूर्तबोधन विशेष रूप से पाया जाता है। अमूर्तबोधन से सामान्य प्रत्यय मिलता है जो वैज्ञानिक ज्ञान का आधार है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि अनुभव से हमें केवल मूर्त (Concrete) और विशेष वस्तुओं का ही ज्ञान मिल सकता है। यह ज्ञात रहे कि अमूर्तबोधन से प्राप्त सामान्य प्रत्ययों को ज्ञानमीमांसा में विशेष स्थान देकर लॉक ने अपने को असंगत अनुभववादी बना दिया है। अमूर्तबोधन में दो प्रक्रियाएँ पाई जाती हैं (i) वह लक्षण. जिसे हमें सामान्य बनाना है, हमें अकेले ही अन्य लक्षणों से पृथक् कर देखना पड़ता है; और (ii) फिर उस पृथक कृत लक्षण में उस प्रकार के सभी गुणों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता निहित होनी चाहिए। यदि हमें त्रिभुज का सामान्य प्रत्यय बनाना हो तो हमें किसी भी त्रिभुज-विशेष के आकार, रंग. क्षेत्र, इत्यादि की अवहेलना कर केवल उसके त्रिभुजाकार पर ध्यान देना चाहिये फिर उस त्रिभुजाकारपन को सभी त्रिभुजों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। सामान्य प्रत्यय की विशेषता किसी गुण के पृथक्करण में नहीं, किन्तु उसके प्रतिनिधित्व

करने की क्षमता में पाई जाती है । लॉक का 'सामान्य प्रत्यय' न तो कोई प्रतिमा है और न ही प्रतिमाओं का योग । वह अमूर्तबोधन का परिणाम है । **जटिल प्रत्ययों का विभाजन**–असंख्य जटिल प्रत्ययों की प्राप्ति हमें संयोजन, वियोजन, तुलना तथा अमूर्तबोधन के द्वारा होती है जिन्हें तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—प्रकार (Modes), द्रव्य (Substances), और सम्बन्ध (Relations) । इनकी अलग-अलग व्याख्या इस प्रकार है:—

(i) प्रकार (modes) दो तरह के होते हैं, सरल तथा जटिल । सरल प्रकार वह होता है जो एक से ही सरल प्रत्ययों की पुनरावृत्ति से बन जाता है जैसे एक दर्जन इकाइयों का जोड़ । एक और दस संख्याओं के द्वारा अनेक प्रकार (modes = 100, 1000, etc.) बनाए जा सकते हैं । यदि हम संख्या की इकाईयों को जोड़ते चले जायें तो बड़ी से बड़ी संख्या बन जायेगी । उन सबको सरल प्रकार ही कहा जायेगा । मिश्रित प्रकार में विभिन्न तरह के सरल प्रत्ययों का संगठन होता है । 'सुन्दरता' मिश्रित प्रकार का उदाहरण है जिसमें रंग, रूप, आकार, मोहकता, इत्यादि सरल प्रत्ययों का योग है, वह एक ऐसा मिश्रण होता है जो देखने वालों को हर्ष या सुख देता है । अतएव यदि प्रकार भिन्न तरह के सरल प्रत्ययों से बनें तो हम उसे मिश्रित प्रकार कहते हैं । आकाश के सरल प्रत्यय को लेकर और उसे मिलाने पर हमें आकृति, स्थान, असीम विस्तार के सरल प्रकार मिलते हैं । घण्टे, दिन, वर्ष, काल तथा नित्यता, अनुक्रम आदि अवधि के सरल प्रकार मिलते हैं । आत्म-चिन्तन अथवा मन की क्रियाओं के भी सरल प्रकार होते हैं ।

प्र (ii) द्रव्य के प्रत्यय भी जटिल प्रत्यय हैं जिन्हें मन सरल प्रत्ययों को एकत्रित एक [illegible]ाता है । द्रव्य का जटिल प्रत्यय गुणों के सरल प्रत्ययों के मेल से बनता है गुण विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन गुणों का एक अस्पष्ट प्रत्यय भी होता क्यों [illegible]नका आधार है । इस आधार को लॉक द्रव्य कहता है । जो गुणों का आधार है द्रव्य है क्योंकि गुण स्वतः विद्यमान नहीं रह सकते । हम देखते हैं कि संवेदन और आत्म-चिन्तन से प्राप्त कुछ सरल प्रत्यय सदैव एक साथ दिखाई देते हैं तो हम मान लेते हैं कि वे एक ही वस्तु में होते हैं और हम उनके इस मिश्रण को एक ही नाम से पुकारते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ये गुण या प्रत्यय स्वतः विद्यमान होते हैं । उनका ऐसा कोई आधार होना आवश्यक है जिनमें वे निहित हैं । जिन पर उनका अस्तित्व सम्भव है । यही आधार द्रव्य है । लेकिन इस आधार को प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा जा सकता । उसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है । मीठापन, सुगन्धि, गोलाकार आदि गुण जो सेब में पाए जाते हैं स्वतः अपने आप विद्यमान नहीं रह सकते । उन्हें किसी आधार की आवश्यकता है ताकि वे उसमें निहित हों । स्वयं सरल प्रत्ययों में द्रव्य प्रत्यय नहीं पाया जाता है किन्तु उसके आधार पर सरल प्रत्ययों को व्यवस्थित किया

जाता है। अतएव द्रव्य का जटिल प्रत्यय मन की अपनी देन है। जिसे संवेदन तथा आत्म-चिन्तन के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता। दूसरे लॉक के अनुसार, द्रव्य धारणा विचारों की बाध्यता पर निर्भर है। हम सोच ही नहीं सकते कि द्रव्य नामक आधार के बिना गुणों की स्वतन्त्र सत्ता हो सकती है। इसलिए हम बाध्य हो जाते हैं कि गुणों को द्रव्य-धारणा के आधार पर व्यवस्थित करें। किन्तु यह द्रव्य-आधार अज्ञात है। भौतिक द्रव्य, आत्म-द्रव्य तथा ईश्वर के प्रत्यय हमारे अन्दर पाये जाते हैं।

(iii) जब मन एक वस्तु की दूसरी वस्तु के साथ तुलना करता है तो हमें सम्बन्ध के प्रत्यय प्राप्त होते हैं। सभी वस्तुओं का किसी न किसी से सम्बन्ध होता है और सभी सम्बन्ध के जटिल प्रत्ययों का निर्माण सरल प्रत्ययों के आधार पर होता है। कारण और कार्य का प्रत्यय ऐसा व्यापक सम्बन्ध है जो सभी वस्तुओं में मिलता है। इन्द्रियों के द्वारा यह पता लगता है कि वस्तुएँ परिवर्तित होती हैं, गुणों और द्रव्यों का अस्तित्त्व है और उनका अस्तित्त्व अन्य गुणों तथा द्रव्यों की क्रिया के कारण है। जो सरल प्रत्यय को उत्पन्न करता है उसे कारण (Cause) कहते हैं और जो उत्पन्न होता है उसे कार्य (Effect) मानते हैं। मोम के पिघलने का कारण ताप है। कारण वह है जो किसी अन्य वस्तु—सरल प्रत्यय, द्रव्य या प्रकार की सत्ता को सम्भव करता है। कार्य वह है जिसका प्रारम्भ किसी अन्य वस्तु से होता है। कारणों की विभिन्न किस्में सृजन, उत्पत्ति, निर्माण और परिवर्तन हैं। कारण और कार्य का प्रत्यय बहुत ही व्यापक है और वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। असंख्य सम्बन्ध और भी हैं जैसे काल, स्थान, और विस्तार। तादात्म्य, भिन्नता, नैतिकता, आदि के सम्बन्ध भी हैं।

ज्ञान का स्वरूप और प्रामाणिकता (Nature and Validity of knowledge)

मन को ज्ञान की सामग्री संवेदन और आत्म-चिन्तन से प्राप्त होती है। मन उन पर क्रिया करके जटिल प्रत्ययों का निर्माण करता है। लेकिन ऐसे प्रत्ययों का ज्ञेय-मूल्य क्या है और ज्ञान बनने के लिए, उन्हें क्या शर्त पूरी करनी चाहिए ? ज्ञान की वास्तविकता कैसे निर्धारित की जाय ? प्रत्ययों को ज्ञान तब कहा जा सकता है जब वे स्पष्ट तथा विशिष्ट हों क्योंकि अस्पष्ट तथा संदिग्ध प्रत्ययों के द्वारा शब्दों का अनिश्चित प्रयोग किया जाता है जिनको ज्ञान कहना सम्भव नहीं। वास्तविक प्रत्यय वे हैं जिनका आधार प्रकृति में हो और जो यथार्थ वस्तुओं के अनुरूप हों। यथार्थ वस्तुएँ ही उनके मूल स्रोत हैं। सरल प्रत्यय यथार्थ होते हैं। इसलिए नहीं कि वे वाह्य वस्तुओं की प्रतियां हैं, बल्कि वे मन के बाहर जो शक्तियां हैं उनके कार्य हैं।

सरल प्रत्ययों की वास्तविकता में कोई आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उनके निर्माण एवं विनाश में मानव इच्छा का कोई अधिकार नहीं है। हम अपने मन में

सफेदी, कालापन, ताप या ठण्डापन पैदा नहीं कर सकते, और जब हम ध्यानस्थ हों और हमारे सामने लाल या हरा रंग हो तो हम उन्हें अवश्य ही देख सकते हैं। अतएव लॉक के अनुसार, सरल प्रत्ययों में अपनी बाध्यता होती है जिससे हमें उन्हें जानना पड़ता है। उनकी वास्तविकता इसी में है कि उनकी सत्ता बाह्य वस्तुओं के अनुरूप होती है और इसी कारण वे वास्तविक कहे जा सकते हैं।

मिश्रित प्रकारों तथा सम्बन्ध के प्रत्ययों की सत्ता मन के सिवाय और कहीं नहीं होती। वे बाह्य वस्तुओं की प्रतियां मात्र नहीं हैं। अतएव उनको सरल प्रत्ययों की भाँति यथार्थ नहीं कहा जा सकता। उनको केवल इस अर्थ में यथार्थ कहा जा सकता है कि उनके अनुरूप बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व की सम्भावना है। वे स्वयं मूलादर्श (Archetypes) हैं। इसलिए वे जब तक काल्पनिक नहीं हो सकते तब तक उनके साथ असंगत विचार मिश्रित न हो जायं। किन्तु द्रव्यों के जटिल प्रत्यय हमारे द्वारा बाह्य द्रव्यों के प्रतिनिधि माने जाते हैं और वे ऐसे हो भी सकते हैं। इसलिए उनको इस अर्थ में यथार्थ कहा जा सकता है कि वे सरल प्रत्ययों के संगठन, सह-अस्तित्व के रूप में हमारे मन के बाहर वस्तुओं में विद्यमान रहते हैं। प्रत्यय उसी स्थिति में पर्याप्त होते हैं जब वे उन मूलादर्शों का सही प्रतिनिधित्व करें जिनसे उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। अपर्याप्त प्रत्यय वे हैं जो मूलादर्शों का अपूर्ण या आंशिक प्रतिनिधित्व करते हैं। समस्त सरल प्रत्यय तथा सरल प्रकार पर्याप्त होते हैं। किन्तु द्रव्यों के सभी प्रत्यय अपर्याप्त होते हैं क्योंकि वे वस्तुओं की वास्तविक सत्ता का प्रतिरूप होना चाहते हैं, हालांकि वे ऐसा करने में सफल नहीं होते। जब मन अपने प्रत्ययों का मेल उनसे बाहर किसी चीज से करता है तो हम उन्हें सत्य या असत्य कह सकते हैं। ऐसा करते समय मन प्रत्ययों की बाह्य वस्तुओं के साथ अनुरूपता की मान्यता बना लेता है जो सत्य या असत्य हो सकती है। इस दृष्टि से तीन प्रकार का ज्ञान होता है :—

(i) यह भलीभांति स्पष्ट है कि समस्त ज्ञान प्रत्ययों के माध्यम से प्राप्त होता है। इसलिए सबसे निश्चित ज्ञान हमारे प्रत्ययों के बीच सहमति (agreement) या असहमति के प्रत्यक्ष के अलावा और कुछ नहीं है। लॉक के अनुसार "प्रत्ययों के बीच संगति (Agreement) या असंगति (Disagreement) के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को ज्ञान कहते हैं।" हम यह देख सकते हैं कि सफेद वस्तु काली नहीं है। सफेद और काले के प्रत्ययों में सहमति नहीं है। ज्ञान में साक्ष्य के अनेक अंश होते हैं। कभी-कभी मन अन्य प्रत्यय की मध्यस्थता के बिना दो प्रत्ययों की सहमति और असहमति को तत्काल देख लेता है। लॉक इसे प्रज्ञा-ज्ञान (Intuitive Knowledge) कहता है। इसे सहज प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहते हैं। मन शीघ्र ही यह जान लेता है कि काला सफेद नहीं है। वृत्त त्रिकोण नहीं है। तीन दो से अधिक है। यह सबसे स्पष्ट तथा निश्चित ज्ञान है। उसे प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह स्वयं सिद्ध ज्ञान है। समस्त ज्ञान की निश्चितता और साक्ष्यता इसी पर निर्भर है।

(ii) कभी-कभी मन दो प्रत्ययों की सहमति तथा असहमति को शीघ्र नहीं देख पाता। वह उनकी तुलना अन्य प्रत्ययों के साथ करता है और उनकी सहमति तथा असहमति को जान पाता है। इस प्रकार मध्यस्थता द्वारा प्राप्त किया हुआ बौद्धिक या प्रदर्शनात्मक (Rational or Demonstrative Knowledge) कहा जाता है। इस ज्ञान की प्रामाणिकता तो निश्चित है, किन्तु इसकी मान्यता उतनी स्पष्ट और तात्कालिक नहीं है जितनी कि प्रज्ञा-ज्ञान में मिलती है। इस ज्ञान के प्रत्येक अंग में प्रज्ञात्मक निश्चितता होनी चाहिए ताकि निष्कर्षों को निश्चित बनाया जा सके। इस प्रकार का प्रदर्शन गणित में मिलता है या फिर मन जहाँ भी अन्य प्रत्ययों की मध्यस्थता की सहायता से प्रत्ययों की सहमति और असहमति देखता है वहाँ होता है। प्रदर्शनात्मक ज्ञान में कई पग होते हैं विशेषकर गणित में। इस ज्ञान को असंदिग्ध बनाए रखने के लिए, प्रत्येक पग का सहज प्रत्यक्ष होना आवश्यक है-अन्यथा उसमें दोप की गुंजाइश रहती है। प्रथम ध्यान बंटने से गलती हो सकती है। फिर जब तक हमें सन्देह न हो, तब तक नाना पगों के आधार पर प्रदर्शनात्मक प्रक्रिया नहीं दुहराते हैं। अतएव इसमें सन्देह छिपे रूप में रह सकता है। अन्त में प्राय: प्रदर्शनात्मक ज्ञान में अनेक पग रहते हैं। इसलिए पिछले पगों की स्मृति रखनी पड़ती है और हम जानते हैं कि स्मृति से धोखा होता है। इसलिए स्मृति पर आधारित रहने के कारण प्रदर्शनात्मक ज्ञान उतना असंदिग्ध नहीं समझा जा सकता है जितना सहज प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। संक्षेप में, प्रज्ञात्मक तथा प्रदर्शनात्मक ज्ञान में निश्चितता होती है। इन दोनों में से कम निश्चितता रखने वाली बात को हम विश्वास या मत कह सकते हैं, ज्ञान नहीं।

(iii) यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या मन के अतिरिक्त और कोई बाह्य सत्ता है? क्या बाह्य जगत् यथार्थ है? लॉक के अनुसार, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष जो स्वप्न तथा भ्रम से भिन्न है, ससीम तथा विशेप वस्तुओं की सत्ता को बतलाता है। प्रत्यय हमें बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का प्रमाण देता है जिसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष इतना निश्चित नहीं होता जितना कि प्रज्ञा-ज्ञान और प्रदर्शनात्मक ज्ञान होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान को लॉक संवेदनात्मक ज्ञान (Sensitive Knowledge) कहता है। हमें स्वयं अपने आपको तथा ईश्वर को छोड़कर किसी और वास्तविक सत्ता का स्वयं-सिद्ध ज्ञान नहीं है। अपनी सत्ता को हम प्रज्ञा से जानते हैं और ईश्वर की सत्ता को बुद्धि द्वारा जान लेते हैं। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त बाह्य वस्तुओं के ज्ञान को ज्ञान तो कहा जा सकता है, हालांकि उसमें प्रज्ञात्मक या बुद्धि से निगमन द्वारा प्राप्त ज्ञान जैसी निश्चितता नहीं होती। संवेदनात्मक ज्ञान को मानने के और भी कारण हैं। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है। परन्तु फिर भी स्मृति-प्रतिमाओं, भ्रमों, विभ्रमों, स्वप्नों आदि से अधिक प्रमाणित तथा यथार्थ होने के कारण लॉक इसको भी ज्ञान का एक प्रकार

मानता है। इन्द्रियों के साथ कष्ट भी जुड़ा होता है और इन्द्रियां स्वयं एक दूसरे को प्रमाणित करती हैं।

ज्ञान की सीमाएँ (Limits of Knowledge)

लॉक ज्ञान की सीमाओं की विवेचना भी करता है। ज्ञान का क्षेत्र क्या है? ज्ञान की पहुँच कहाँ तक है? उसने ये मौलिक प्रश्न उठाये। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है ज्ञान प्रत्ययों के बीच सहमति तथा असहमति के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष है। इसलिए हमारा ज्ञान प्रत्ययों के बाहर नहीं जा सकता। जहाँ प्रत्ययों का अभाव है, वहाँ ज्ञान नहीं हो सकता। हमारा ज्ञान केवल उसी सूचना तक सीमित है जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होती है। हमारा ज्ञान हमारे प्रत्ययों से भी संकुचित है। हम अपने अनुभव के बाहर नहीं जा सकते और न हम उन प्रत्ययों का ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें हम चाहते हैं। हम अपनी इच्छानुसार प्रत्ययों का सृजन नहीं कर सकते। वस्तुतः हम जो देखते हैं उसे भी पूर्णतः नहीं समझ पाते। प्रत्ययों का अभाव अज्ञान का मूल कारण है।

लॉक के अनुसार, कुछ वस्तुएँ हमारे देखने की सीमा से अत्यन्त दूर हैं जैसे आकाश में तारे। कुछ अन्य वस्तुएं बहुत ही सूक्ष्म हैं जैसे परमाणु। उनका निरीक्षण करना असंभव है। इसके अलावा हम अपने बहुत से प्रत्ययों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध भी नहीं खोज पाते। मनुष्य यह नहीं जानता कि आकृति, आकार या वस्तु के अदृश्य भागों की गति में और उसके रंग, स्वाद या ध्वनि में क्या सम्बन्ध है। वह नहीं समझता कि सोने के पीले रंग, वजन, कठोरता और पिघल सकने की क्षमता में क्या सम्बन्ध है। एक गुण की जानकारी से दूसरे गुण की समझ अनिवार्य नहीं दिखती। त्रिभुज की परिभाषा से यह सदा अवतरित होता है कि उसके तीनों कोणों का योग 180 डिग्री के बराबर होगा। यह बात समस्त त्रिभुजों के लिए स्वयंसिद्ध है। किन्तु सोने के पीले होने, उसके वजन से, यह निश्चिततापूर्वक निगमन नहीं होता कि उसमें पिघलने की भी क्षमता होनी चाहिए। अनुभव से सिद्ध होता है कि सोना पिघल सकता है। किन्तु समस्त सोना गलाया जा सकता है यह स्वयंसिद्ध सत्य नहीं है। केवल ज्ञान जो वास्तव में मुझे संतुष्टि प्रदान करता है वह सार्वभौम स्वयंसिद्ध सत्यों का ज्ञान है। किन्तु अनुभव के अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

ज्ञान की दूसरी सीमा यह है कि वास्तविक ज्ञान होने के लिए समस्त प्रत्ययों को किसी न किसी तरह वस्तुओं की वास्तविकता से संगत (Coherent) होना चाहिए। सभी सरल प्रत्यय बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति आवश्यक रूप से मन पर बाह्य वस्तुओं की क्रिया होने से ही होती है। हम इतना तो जानते हैं कि हमारे बाहर वस्तुएं हैं जो सफेद आदि के संवेदन उत्पन्न करती हैं। किन्तु हम यह नहीं जान पाते कि वह क्या है जो सफेद आदि के संवेदन उत्पन्न करता

है। हम यह जानते हैं कि कुछ है जो संवेदन उत्पन्न करता है, पर कैसे करता है हम यह नहीं जान पाते हैं। हमारे जटिल प्रत्यय भी बहुत सीमा तक ज्ञान प्रदान करते हैं। लेकिन ये बाह्य वस्तुओं की प्रतियाँ या नकल (Copies) मात्र नहीं हैं और न उनका अस्तित्व प्रारम्भिक वस्तुओं की तरह है। वे मानसिक क्रिया के प्रारूप हैं। जटिल प्रत्ययों का प्राकृतिक वस्तुओं की तरह अस्तित्व नहीं होता। मन अपनी इच्छा से जटिल प्रत्ययों को मिलता है चाहे प्रकृति में उनका कोई सम्बन्ध हो या न हो। किन्तु उनसे हमें निश्चित ज्ञान मिलता है। ऐसा ज्ञान हमें गणित से प्राप्त होता है। गणित में त्रिकोण का प्रत्यय बनाया जाता है जो मन में ही रहता है क्योंकि मन स्वयं उसे बनाता है। उस त्रिकोण की परिभाषा से अवतरित युक्तिवाक्य अवश्य ही सत्य होंगे। यदि त्रिकोण नाम की कोई धारणा है, चाहें उसका अस्तित्व कहीं भी हो, तो उससे फलित तर्कवाक्य सत्य होते हैं। किन्तु यथार्थ त्रिकोण की सत्ता प्रकृति में है उसकी प्रतिष्ठापना इन प्रत्ययों द्वारा नहीं हो सकती।

द्रव्यों के जटिल प्रत्ययों की स्थिति भिन्न है। द्रव्यों के प्रत्यय हमारे बाहर प्रारूपों के प्रतिरूप माने जाते हैं और उन्हीं से उद्दिष्ट किए जाते हैं। द्रव्यों के प्रत्यय प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं होते। उनका अस्तित्व वास्तविक ज्ञान में अवश्य सम्मिलित है। किन्तु हम द्रव्यों के विषय में कोई सार्वभौम वाक्य नहीं बना सकते क्योंकि जिन प्रत्ययों को हम एक साथ रखते हैं उनमें कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं देखते। अनुभव यह बतलाता है गुणो का कोई अज्ञात आधार है। गुणों का स्वयं अस्तित्व संभव नहीं है। वही अज्ञात आधार द्रव्य के प्रत्यय के रूप में हमारे सामने आता है। हम यह नहीं जान पाते कि गुणों में पारस्परिक निर्भरता है क्योंकि कुछ गुणों के होने या न होने से हम अन्य गुणों के बारे में कुछ नहीं कह सकते अर्थात् अन्य गुणों को किस प्रकार रहना चाहिए अथवा नहीं। उनमें कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं दिखता। सोने के वजन और उसके पिघलने की सामर्थ्य में कोई आवश्यक सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। यदि उनमें अनिवार्य सम्बन्ध मिल जाता तो शायद यह सार्वभौम तर्कवाक्य बना लिया जाता कि 'समस्त सोना पिघलने योग्य है।' अतएव द्रव्यों को इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता। द्रव्यों की सत्ता है इसमें सन्देह नहीं है क्योंकि स्थायी आधार के बिना गुणों का अस्तित्व ही संभव नहीं हो सकता है। द्रव्य को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। वह अज्ञात है।

द्रव्य के सम्बन्ध में एक और कठिनाई है जो प्रस्तुत समस्या को अधिक जटिल बना देती है। प्रकृति में जो द्रव्य हैं वे स्वतन्त्र नहीं हैं। उनको पृथक्कृत वस्तुएं नहीं कहा जा सकता। उनके अन्तर्गत पाये जाने वाले गुण प्रकृति में अनेक अदृष्ट स्थितियों पर निर्भर हैं। वे शक्तियां कहाँ से आती हैं जो इन सब गुणों या यंत्रों को गतिमान बनाती हैं, उनकी मरम्मत करती हैं, और उनमें परिवर्तन कैसे होता है, हमारे प्रत्यक्ष तथा प्रशंसा के बाहर हैं। उनको सही रूप में समझने के लिए,

हमें समस्त विश्व को सम्पूर्णता में समझना चाहिए। किन्तु सभी वस्तुओं के मौलिक आधारों को सूक्ष्म आधार, रूप, आदि को हम भलीभांति जान नहीं सकते। हम उन अंगों को भी नहीं जान पाते जो उनके पार्श्व में क्रियाशील हैं। अतएव हम नहीं जान पाते कि एक वस्तु के प्रमुख गुण दूसरी वस्तु के प्रमुख गुणों में कैसे नियमित परिवर्तन लाते हैं और यह भी नहीं जान पाते कि वे उत्पन्न कैसे होते हैं। संक्षेप में, हम प्रमुख गुणों और उनके द्वारा उत्पन्न कार्यों में किसी अनिवार्य सम्बन्ध को नहीं जान पाते। ज्ञान के इस क्षेत्र में सार्वभौम निश्चितता प्राप्त करना संभव नहीं है, हमें केवल संभाव्यता पर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

लॉक के अनुसार, प्रत्ययों की सहमति तथा असहमति के अतिरिक्त एक प्रकार की सामान्य निश्चितता और कहीं नहीं हो सकती। किन्तु उसको भी निरपेक्षतः निश्चित नहीं कहा जा सकता। 'सामान्य ज्ञान' (Universal Knowledge) हमें अपने स्वयं के अमूर्त प्रत्ययों पर आत्म-चिन्तन करने से ही मिलता है। ईश्वर तथा अपने को छोड़कर वास्तविक सत्ता के विषय में हमारे पास कोई अन्य स्वयं-सिद्ध तर्कवाक्य नहीं है। इस प्रकार सामान्य अस्तित्वात्मक सत्यों के आधार पर विज्ञान का निर्माण करना असम्भव है।

बहुत से युक्तिवाक्य जिन पर हम विचार एवं क्रिया करते हैं ऐसे हैं जिनके विषय में निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। उनमें कुछ निश्चितता के इतने निकट हैं कि बिना सन्देह किये हुए हम उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। तथ्यों के विषय में संभाव्यता के भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं क्योंकि वह अपने तथा अन्य लोगों के अनुभव की प्रामाणिकता पर आधारित होती हैं। फिर भी लॉक श्रुति (Revelation) के प्रमाण को सर्वोच्च निश्चितता मानता है जिसको स्वीकार करना ही आस्था है। आस्था स्वीकृति देने और विश्वास करने का निश्चित सिद्धान्त है। उसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु हमें यह मान लेना चाहिए कि वह 'दैविक श्रुति' है। अतएव हमारी स्वीकृति बौद्धिक दृष्टि से उतनी ही होगी जितनी कि श्रुति की प्रामाणिकता का अस्तित्व है। यदि कोई वाक्य स्पष्ट प्रज्ञा-ज्ञान का विरोध करे तो उसे दैविक श्रुति के रूप में नहीं लिया जा सकता। श्रुति में विरोधी बातों का कोई स्थान नहीं है। जो बात हमारे ज्ञान का विरोध करती हो उसको आस्था हमसे मनवा नहीं सकती। यद्यपि श्रुति के सत्य उतने स्पष्ट तथा विशिष्ट नहीं होते जितने बुद्धि के सिद्धान्त होते हैं। फिर भी वे सत्य जो प्राकृतिक शक्तियों तथा बुद्धि से परे हैं और जब उनका अभिव्यक्तिकरण हो जाता है, आस्था के सही विषय बन जाते हैं। यह विश्वास कि मुर्दे पुनः उठकर जीवित होंगे, यह आस्था का ही विषय है। इसका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्पष्टतः लॉक की ज्ञान-मीमांसा में हमारा मन वस्तुओं तक नहीं पहुँच सकता। बाह्य वस्तुओं की प्रतियां मात्र हमारे मन में अंकित होती हैं अर्थात् प्रत्ययों

के माध्यम से ही बाह्य वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है। यह लॉक का प्रतिनिधित्ववादी यथार्थवाद है। किन्तु प्रश्न उठता है कि हमारा ज्ञान बाह्य जगत् में उपस्थित वस्तुओं के अनुरूप है अथवा नहीं ? ऐसी स्थिति में एक मात्र प्रमाण विभिन्न वस्तुओं तथा उनके प्रत्ययों के बीच अनुरूपता ही है। किन्तु सत्य की यह कसौटी वस्तुगत अनुरूपता न होकर आत्मगत अनुरूपता ही हो सकती है। इस प्रकार लॉक का प्रतिनिधि ज्ञान सिद्धान्त पूर्णतः वस्तुगत नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा यद्यपि उसे अनुभववाद का जनक माना जाता है परन्तु उसके मत में अनेक बुद्धिवादी विचार भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए ज्ञान की प्रामाणिकता को निश्चित करने में लॉक अनुभववादी आधार को त्याग कर प्लेटो तथा कान्ट जैसे विचारकों के निकट आ जाता है क्योंकि प्रत्ययों के परस्पर सम्बन्धों की सार्वभौम प्रामाणिकता का आधार मानव प्राणियों की समान बौद्धिक रचना है। दूसरे सरल प्रत्ययों से जटिल प्रत्ययों के निर्माण की प्रक्रिया में लॉक स्पष्ट रूप से मानव बुद्धि का महत्त्व स्वीकार करता है। अनुभव से भले ही ज्ञान की सामग्री मिलती है, पर अनुभव को ज्ञान का रूप देना बुद्धि का ही काम है। श्रुति एवं धर्मशास्त्र के विषय में भी लॉक बुद्धि को ही सर्वोच्च कसौटी मानता है। इस प्रकार उसके अनुभववाद में अनेक बुद्धिवादी प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं। अतएव लॉक को पूर्ण अनुभववादी कहना न्याय-संगत नहीं होगा।

ज्ञान में शिक्षाप्रदता (Instructive Knowledge)

लॉक ने अपनी ज्ञान मीमांसा में सभी वाक्यों को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा क्योंकि कुछ वाक्यों से कोई ज्ञान वृद्धि नहीं होती। उसने सभी वाक्यों को दो भागों में बांट दिया—तुच्छ एवं शिक्षाप्रद। तुच्छ वाक्य वे हैं जिनसे ज्ञानवृद्धि नहीं होती है। ऐसे वाक्य तादात्म्यात्मक और विश्लेषणात्मक होते हैं। तादात्म्यात्मक वाक्य इस प्रकार होता है—'जेम्स जेम्स है' अथवा 'क' 'क' है। इसी प्रकार विश्लेषणात्मक वाक्य वे हैं जिनमें हम उद्देश्य के पूरे या कुछ गुणों को विधेय में व्यक्त करते हैं जैसे 'सभी मानव पशु हैं' अथवा 'मानव विवेकशील प्राणी है।' यद्यपि तादात्म्यात्मक और विश्लेषणात्मक वाक्य अनिवार्यतः सत्य होते हैं, लेकिन लॉक उन्हें तुच्छ इसलिए कहता है कि उनसे ज्ञान वृद्धि नहीं होती अथवा उनमें नूतन ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इनके अतिरिक्त, शिक्षाप्रद वाक्य वे हैं जिनसे ज्ञान वृद्धि होती है और इसलिए इन वाक्यों के विधेय में उन गुणों को व्यक्त किया जाता है जो उद्देश्य की गुणवाचकता में नहीं पाये जाते हैं। लॉक का उदाहरण इस प्रसंग में है कि किसी भी त्रिभुज का बहिष्कोण उसके सामने के अन्तःकोण से बड़ा होता है। इन्हीं वाक्यों को आगे चलकर काण्ट ने विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक वाक्यों में विभाजित किया है।

तत्वज्ञान (Metaphysics)

अभी तक लॉक के अनुसार, ज्ञान की उत्पत्ति (Origin), उसकी प्रामाणिकता

(Validity) और क्षेत्र (Scope) की विवेचना हुई। यहाँ उसके जगत्-विषयक दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जायेगा जिस पर उसकी समस्त विचारधारा निर्भर है। ज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न सीमाओं को मानते हुए तथा सन्देहास्पद बातों को दर्शाते हुए भी, लॉक ने उस तात्विक व्यवस्था को कुछ हेर-फेर के साथ रखा जिसे देकार्त ने प्रारम्भ किया था।

यह जगत् विभिन्न द्रव्यों से निर्मित है। द्रव्य ही गुणों, शक्तियों तथा क्रियाओं के कारण तथा आधार हैं। द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—भौतिक पदार्थ और आत्माएं। भौतिक पदार्थ (पुद्गल) ऐसा द्रव्य है जिसके छः विशेषण होते हैं: विस्तार, ठोसपन, आकार, गति, विश्राम और संख्या। ये द्रव्य के प्रमुख गुण (Primary qualities) हैं जिनको हम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। प्रमुख गुण वास्तव में भौतिक पदार्थ में होते हैं। उन्हें भौतिक द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रमुख गुणों के अतिरिक्त गौण गुण भी होते हैं जैसे रंग, स्वाद, ध्वनि। ये गुण वास्तव में भौतिक द्रव्यों में नहीं होते। वे पूर्णतया ज्ञाता पर आश्रित होते हैं। यदि मनुष्य में आँख न हों तो रंग का गुण न होगा और यदि कान न हो ध्वनि नहीं होगी। इस प्रकार सभी गौण गुण मानव इन्द्रियों पर आश्रित हैं। फिर गौण गुण सापेक्ष होते हैं क्योंकि एक ही प्रकार का गौण गुण व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न मालूम होता है। अतएव गौण गुण इन्द्रियों पर निर्भर होते हैं और प्रमुख गुण इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं। किन्तु उनसे स्वतन्त्र होते हैं।

भौतिक द्रव्यों के अतिरिक्त आत्माएं अथवा आध्यात्मिक द्रव्यों की सत्ता भी होती है। आत्मा यथार्थ सत्ता है। चिन्तन (प्रत्यक्ष की शक्ति) और संकल्प अर्थात् शरीर को गतिमय बनाने की शक्ति आत्मा के दो प्रमुख विशेषण हैं। इन गुणों को हम आन्तरिक संवेदन (Reflexion) के द्वारा जानते हैं। लॉक के अनुसार, चिन्तन आत्मा का सार नहीं है। उसकी क्रिया है। आत्मा अभौतिक द्रव्य है। उसे आध्यात्मिक द्रव्य कहते हैं। आत्मा का प्रत्यय उतना ही स्पष्ट होता है जितना मूर्त द्रव्य का। कुछ मूर्त गुणों को एक साथ रखकर और उनके आधार को मानकर शरीरमय द्रव्य का प्रत्यय बनाया जाता है। अपने मन की क्रियाओं, जैसे विचार करना, जानना, समझना, कल्पना करना, गति को प्रारम्भ करने की शक्ति पर विमर्श करके और इन सबको किसी आधार से संयुक्त करके आत्म-द्रव्य का प्रत्यय बनता है। लेकिन यह स्मरण रहे कि आत्मा तथा भौतिक द्रव्यों की सत्ता होते हुए भी वे अज्ञेय हैं। वे विभिन्न गुणों के आधार तो हैं और यही उनके अस्तित्व का एक मात्र प्रमाण है। किन्तु उनका वास्तविक स्वरूप क्या है यह अज्ञात है। कहीं-कहीं असंगत रूप से लॉक यह भी कह देता है कि हम अपनी आत्मा को साक्षात् रीति से सहज ज्ञान या प्रज्ञा द्वारा जान लेते हैं। इस प्रकार के ज्ञान को उसने स्पष्ट तथा परिस्पष्ट कहा है।

विशुद्ध आत्मा अथवा ईश्वर ही केवल सक्रिय है। पुद्गल (भौतिक द्रव्य) निष्क्रिय है। किन्तु आदमी की आत्मा सक्रिय एवं निष्क्रिय दोनों ही है। उसमें शरीर

को गति प्रदान करने की शक्ति है जो कि अनुभव से स्पष्ट है। बाह्य वस्तुओं की दृष्टि से, आत्मा निष्क्रिय है क्योंकि बाह्य वस्तुएं आत्मा में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। बाह्य वस्तुएं आत्मा को विभिन्न रूप में प्रभावित करती हैं। मन पर शरीर की क्रिया से हमारे समस्त प्रत्यय पैदा होते हैं। यह अन्तर्क्रिया का सिद्धान्त कहलाता है। लॉक के अनुसार, अन्तर्क्रिया सत्य है, पर हम यह नहीं जान पाते कि यह कैसे होता है। हम यह भी नहीं जान पाते कि एक शरीर दूसरे शरीर को किस प्रकार गति प्रदान करता है। यह प्रमाण अवश्य मिलता है कि आत्मा में गति उत्पन्न करने की शक्ति है। इस शक्ति को चिन्तनशील द्रव्य में जड़ द्रव्य की अपेक्षा अधिक आसानी तथा स्पष्टता से देखा जा सकता है।

लॉक के अनुसार, मन और शरीर दोनों ही यथार्थ (Real) हैं जिनमें अन्तर्क्रिया होती है। वस्तुएं मन पर क्रिया करके रंग, ध्वनि, स्पर्श, ठोसपन, विस्तार आदि के संवेदन उत्पन्न करती हैं। इनमें से गौण गुण बाह्य वस्तुओं का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। वस्तुएं रंगमय, ध्वनियुक्त, गन्धमय अथवा स्वादयुक्त नहीं होतीं। ये ऐसे गुण हैं जो ठोस विस्तारमय वस्तुओं द्वारा उत्पन्न मन में प्रभाव हैं। विस्तार, ठोसपन तथा गति के प्रत्यय यथार्थ वस्तुओं की सच्ची नकल हैं जो वस्तुओं में वस्तुतः विद्यमान हैं। वस्तुएं गतिशील ठोस विस्तारयुक्त चीजें हैं किन्तु लॉक का कहना है कि गति गति को ही उत्पन्न करती है। यदि गति गति को ही उत्पन्न करती है तो उससे चेतना की विभिन्न अवस्थाएं कैसे उत्पन्न होती हैं? इस कठिनाई को दूर करने के लिए लॉक कहता है कि ईश्वर ने ही गति में वे गुण निहित कर दिये हैं जिनसे चेतना की अवस्थाएं उत्पन्न हों, हालांकि हम उनको देख नहीं पाते। इस प्रकार लॉक संयोगवाद की ओर चला जाता है। वह यह नहीं बतला पाता कि मन गति को कैसे उत्पन्न या प्रारम्भ कर सकता है अर्थात् संकल्प किसी क्रिया के होने का कारण कैसे बन सकता है। लॉक अन्तर्क्रिया की समस्या को पूर्णतः सुलझा नहीं पाता। वह आत्मा के अभौतिक स्वरूप की भी अच्छी तरह व्याख्या नहीं कर पाता। उसकी सामान्य स्थिति ऐसी लगती है कि मानसिक क्रियाएं असंवेदनशील पुद्गल की क्रियाएँ मात्र नहीं हो सकतीं। अभौतिक चिन्तनशील द्रव्य के बिना कोई संवेदन संभव नहीं हो सकता। आदमी में ऐसा आध्यात्मिक सत् (Being) है जो स्वतः देखता, सुनता, तथा चिन्तन करता है। किन्तु लॉक इस आध्यात्मिक सत् के सच्चे स्वरूप को अच्छी तरह विश्लेषित नहीं कर पाता है। वह यह भी नहीं समझ पाता कि ठोस विस्तारमय वस्तुएं चिन्तन से परे कैसे हो सकती हैं? वह द्रव्यों के वास्तविक स्वरूप को विश्लेपित करने में असफल रहा। ऐसी स्थिति में लॉक ईश्वर का सहारा लेकर अपनी कठिनाइयों का समाधान ढूंढ़ निकालना चाहता है।

लॉक की धारणा प्रधानतः द्वैत की रही है। मानसिक तथा भौतिक, चेतन और जड़, दो द्रव्य हैं। यहाँ वह देकार्त से सहमत हैं सिवाय इसके कि वह विस्तार

की अपेक्षा ठोसपन को वस्तु का अनिवार्य विशेषण मानता है। तथ्यों की सबसे अच्छी व्याख्या के लिए देकार्त की भाँति वह परमाणुवादी धारणा को भी स्वीकार करता है। आकृति, आकार और गति तथा शक्ति रखने वाली अत्यन्त लघु वस्तुएं अथवा परमाणु भी होते हैं। ये अदृश्य या अतीन्द्रिय परमाणु पुद्गल के सक्रिय अंश हैं और प्रकृति के ऐसे साधन होते हैं जिन पर उनके गौण गुण ही नहीं बल्कि प्राय: समस्त प्राकृतिक क्रियाएं भी निर्भर होती हैं। किन्तु उनके प्रमुख गुणों का कोई निश्चित तथा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। किसी ने उनकी आकृति या गति को नहीं देखा है और न ही उनको एक सूत्र में ग्रन्थि रखने वाली चीज को समझा है। यदि हम किन्हीं दो वस्तुओं के अत्यन्त सूक्ष्म भागों के आकार, रंग तथा गति को जान सकते होते तो हम बिना परीक्षा के उनकी एक दूसरे पर विभिन्न क्रियाओं को भी जान सकते जैसे कि हम त्रिभुज के गुणों को जानते हैं। हम यह नहीं जानते कि इन परमाणुओं को एकता में आबद्ध रखने वाली चीज क्या है और यह भी नहीं जानते कि एक परमाणु दूसरे को गति कैसे देता है ? लॉक के अनुसार, यह परमाणुवादी मत हमारे मूर्त द्रव्यों के ज्ञान को बहुत कम आगे बढ़ाता है। जब तक हम वस्तुओं के गुणों और उनकी शक्तियों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं देखते तब तक मानव ज्ञान अल्प है। अत: वस्तुओं का कोई विज्ञान नहीं है। परमाणुवादी दर्शन का सार्वभौम मत अथवा जगत्-विषयक दृष्टिकोण होना असंभव है।

भौतिक तथा मानसिक द्रव्यों के अतिरिक्त, लॉक ईश्वर को एक अन्य आध्यात्मिक द्रव्यों के रूप में मानता है। उसके अनुसार, ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात नहीं है। किन्तु मनुष्य अपनी स्वाभाविक क्षमताओं का भलीभाँति प्रयोग करके उसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार त्रिभुज के तीनों कोणों का जोड़ 180 डिग्री के बराबर स्पष्ट है और स्वत: प्रमाणित है उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान निश्चित्त एवं स्पष्ट है। अनुभव तथा अवधि सुख और आनन्द आदि से जनित प्रत्ययों को लेकर हम असीमता के प्रत्यय के साथ उन्हें विस्तृत करते हैं और इस प्रकार उन सबको एक साथ रखकर ईश्वर का जटिल प्रत्यय बनाते हैं। यद्यपि लॉक ईश्वर के प्रत्यय की व्याख्या इस रूप में करता है, पर हम उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। वह भी ईश्वर के यथार्थ सार को नहीं बतला पाता। अन्य शब्दों में, ईश्वर के प्रत्यय की उत्पत्ति अन्य प्रत्ययों की भांति अनुभवात्मक तथा नामात्मक है। अपने दर्शन के इस क्षेत्र में लॉक बुद्धिवाद तथा सार्वभौम की यथार्थता को कोई स्थान नहीं देता है।

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए लॉक सामान्यत: कारणात्मक तथा प्रयोजनात्मक युक्तियों का प्रयोग करता है। आदमी यह जानता है कि उसका अस्तित्व है जो स्पष्ट एवं निश्चित है। वह यह भी जानता है कि यथार्थ वस्तुओं की उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती। अतएव मनुष्य का अस्तित्व निश्चित है और

यदि वह यथार्थ सत्ता है तो कोई ऐसा सिद्धान्त अवश्य होगा जो उसे उत्पन्न करता है। समस्त सत्ता का ऐसा कोई आधार है जो सर्वशक्तिमान है और सर्वज्ञानी भी है। चिन्तन रहित पुद्गल चिन्तनशील प्राणी की उत्पत्ति नहीं कर सकता। यदि ईश्वर ने चिन्तनशील प्राणियों को उत्पन्न किया है तो उसने विश्व को विभिन्न सुन्दर भागों में बनाया है जो उसकी असीम बुद्धि, शक्ति तथा दैविकता को प्रमाणित करते हैं। हम ईश्वर की भौतिक धारणा नहीं बना सकते। किन्तु यदि ईश्वर भौतिक भी हो तो भी वह ईश्वर ही रहेगा। पुद्गल एक शाश्वत मन के साथ शाश्वत नही हो सकता। यदि लॉक से यह पूछा जाये कि ईश्वर शून्य से किसी वस्तु को कैसे पैदा करता है तो वह यह उत्तर देता है कि हम यह नहीं बतला सकते कि विचार गति कैसे उत्पन्न कर सकता है। फिर भी जगत् में सर्वत्र दिखलाई पड़ने वाले प्रयोजन से यह सिद्ध होता है कि उसकी रचना ईश्वर ने की है जो सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक है।

ईश्वर के सम्बन्ध में लॉक का मत बिल्कुल स्पष्ट है। वह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि ईश्वर अज्ञात अथवा अज्ञेय है। उसके अनुसार, ईश्वर ज्ञात है और इस प्रकार के ज्ञान को हमें असंदिग्ध ही समझना चाहिए। ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान को लॉक ने प्रदर्शनात्मक या निर्देशात्मक ज्ञान कहा है। ईश्वर के गुणों के विषय में उसने बतलाया कि ईश्वर में वे सब गुण पाये जाते हैं जिन्हें हम आत्म-चिन्तन के आधार पर अभीष्ट समझते हैं। किन्तु ये समस्त गुण ईश्वर में अपरिमित रूप में विद्यमान होते हैं।

नीतिशास्त्र (Ethics)

अपने सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए लॉक ने नीति-शास्त्र के अनुभववादी सिद्धान्त की स्थापना की जो अन्त: अहम्वादी सुखवाद (Ego stic Hedonism) में परिणित हो जाता है। जिस प्रकार जन्मजात काल्प-निक सत्य नहीं है उसी तरह जन्मजात व्यावहारिक नैतिक सत्य भी नहीं है। हृदय में ऐसा कोई लिखित या अलिखित नियम नहीं है जिसके आधार पर हम नैतिक निर्णय लेते हों। इस प्रकार लॉक नैतिकता के सार्वभौमिक तथा निरपेक्ष पक्षों के प्रति उदासीन है।

लॉक के अनुसार, नैतिक नियम जन्मजात नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य को अन्य बातों की जानकारी अनुभव से होती है उसी प्रकार वह नैतिक नियमों का ज्ञान भी अनुभव से प्राप्त करता है। इस तरह के नियमों का ज्ञान शिक्षा, वाता-वरण और देश की सम्बन्धित परम्पराओं से होता है। बचपन से ही हम बच्चों के मन में अथवा अन्तरात्मा (Conscience) में नैतिक नियमों को भर देते हैं। फलस्वरूप जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो यह समझते हैं कि उन नियमों को ईश्वर ने ही उनके मन में अंकित किया है, हलाँकि ऐसा समझना नितान्त दोषपूर्ण है। नैतिक नियम

जन्मजात नहीं होते। क्रियाओं का सम्बन्ध नियमों से है और इच्छित क्रियाओं की किसी नियम से सहमति या असहमति ही नैतिकता है।

प्रश्न उठता है कि ये नैतिक नियम किस प्रकार उत्पन्न हुए? उचित या अनुचित, शुभ या अशुभ, का ज्ञान कैसे हुआ? लॉक के अनुसार सुख और दुःख नैतिकता के महान् शिक्षक हैं। प्रकृति ने मनुष्य में सुख की इच्छा तथा दुःख से निवृत्ति की भावना का संचार किया है। ये ही प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ या व्यावहारिक सिद्धान्त हैं जो मनुष्य की समस्त क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। किन्तु वे बुद्धि के सत्य न होकर, केवल प्रवृत्तियाँ हैं। जिससे सुख मिलता है वह उचित या शुभ है और जिससे दुःख मिलता है वह अनुचित या अशुभ है। प्रत्येक मानव बराबर सुख चाहता है और यही चाहना संकल्प को निर्धारित करती है। आनन्द आदमी का सुख है और कष्ट दुःख। मानव आचरण के कुछ ऐसे पक्ष हैं जो कर्ता को ही नहीं, वरन् सामाजिक सुख भी पहुँचाते हैं। ईश्वर ने गुणों और सामाजिक सुखों को साथ-साथ जोड़ रखा है और गुणों के व्यवहार को समाज के लिये अनिवार्य कर दिया है। व्यवहार के इन रूपों को मनुष्य खोजते हैं और उन्हें नियम मान लेते हैं। नैतिक नियमों का पालन करने से मनुष्य को लाभ होता है। इसलिये वह इन नियमों को अन्य लोगों के लिये सुझाता है।

समाज के नियम ही मनुष्य के संकल्पों को निर्धारित करते हैं क्योंकि उनमें दण्ड तथा पारितोषिक मिलने की प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। लॉक के अनुसार, नियम तीन प्रकार के होते हैं—दैविक, सामाजिक तथा प्रतिष्ठा के नियम। दैविक नियम ईश्वर द्वारा बनाये जाते हैं जिन्हें प्रकृति या श्रुति से प्राप्त किया जाता है। ये नियम भावी जीवन में असीम दण्ड या इनाम देने की ईश्वरीय शक्ति हैं। ये नियम कर्त्तव्य तथा पाप को निर्धारित करने के नियम हैं। राष्ट्रकुल द्वारा स्थापित नियम सामाजिक नियम होते हैं और उन पर वैधानिक इनाम और दण्ड मिलता है। इनमें अपराध अथवा निरपराध की धारणा सन्निहित है। किन्तु अधिकांशतः मनुष्य प्रतिष्ठा की भावना से भी शासित होते हैं। वह उन कामों से बचता है जिनसे उसके प्रति घृणा की भावना बढ़े और उन कामों को करना चाहता है जिनसे उसकी प्रतिष्ठा में सम्वृद्धि हो। सद्गुणों का आदर हर जगह होता है और सद्गुण वही है जो समाज को प्रिय है। मनुष्य इन नियमों से अपने कर्मों की तुलना करते हैं और उनसे सहमति या असहमति होने को ही शुभ या अशुभ कहते हैं। किन्तु सद्गुणों का अन्तिम स्वरूप ईश्वर द्वारा ही निर्धारित होता है। ईश्वरीय संकल्प और नियम ही नैतिकता की कसौटी हैं।

गुण और दोष सब स्थान में समान मिलते हैं। ईश्वर द्वारा स्थापित अच्छाई और बुराई के अटल नियमों से ही वे प्रभावित होते हैं। ईश्वरीय नियमों का पालन करना समस्त मानव जाति के लिये लाभप्रद है। अतः बुद्धिवादी लोग जिन्हें अपने हित का ध्यान है शुभ का पक्ष लेने और अशुभ को दोष देने में नहीं चूक सकते।

लॉक की यह नैतिक व्याख्या ईसाई धर्मशास्त्र से प्रभावित है। वह अपने प्रति या दूसरों के लिये अच्छाई करना ही सद्गुण मानता है। सबसे अधिक स्थायी सुखों को लॉक ने स्वास्थ्य, प्रतिष्ठा, ज्ञान, भलाई करना, और दूसरे संसार में नित्यानन्द की आशा रखना स्वीकार किया है। लॉक नैतिक ज्ञान के तीन रूपों को मानता है--शुभाशुभ का सांसारिक ज्ञान, प्रदर्शनात्मक ज्ञान तथा श्रुत ज्ञान। इन तीनों में साम्य है। ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था की है कि मनुष्य सुख तथा आनन्द की प्राप्ति के लिये सांसारिक नैतिक संहिता बना लेते हैं। ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि भी दी है जिसके आधार पर प्रदर्शन से वह नैतिक सत्य भी प्राप्त कर सकता है। ईश्वर ने उन्हीं नैतिक नियमों को धर्मग्रन्थों में सन्निहित किया है जो तर्क तथा अनुभव से जाने जा सकते हैं।

संकल्प-स्वातंत्र्य की समस्या को लॉक अर्थहीन मानता है क्योंकि संकल्प तथा स्वतन्त्रता दोनों अलग-अलग हैं। संकल्प मनुष्य को अपने कामों को करने या न करने की शक्ति या योग्यता है। स्वतन्त्रता दूसरी शक्ति या योग्यता है जो मनुष्य से किसी काम को उसके संकल्प के अनुसार कराती या नहीं कराती है। अतएव जब यह पूछा जाता है कि क्या संकल्प स्वतन्त्र है तो हम वास्तव में यह पूछते हैं कि क्या एक शक्ति में दूसरी शक्ति है ? इसे लॉक निरर्थक मानता है। मनुष्य उसी सीमा तक स्वतन्त्र है जिस तक वह अपने मन के आदेशानुसार सोचने या न सोचने, करने या न करने की शक्ति रखता है। जब मनुष्य अपने मन के अनुसार किसी काम को करने न करने की शक्ति नहीं रखता तो वह स्वतन्त्र नहीं होता यद्यपि उसकी क्रिया ऐच्छिक हो सकती है। उसका संकल्प किसी दबाव की व्यग्रता से ही उससे वह कराता है जो वह करता है। व्यग्रता तथा मानवी इच्छाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईश्वर ने मनुष्य को भूख, प्यास तथा अन्य प्राकृतिक इच्छाओं की व्यग्रता दी है जिससे उसका संकल्प उनको संरक्षित और उनकी जाति को अक्षुण्ण रखता तथा बढ़ाता है। जिस इच्छा की व्यग्रता का दबाव अधिक होता है वही संकल्प को निर्धारित करती है। इच्छा को जन्म देने वाली प्रवृत्ति सुख है। संक्षेप में, लॉक संकल्प और स्वातंत्र्य को साथ-साथ रखने में हिचकिचाता है क्योंकि दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

अन्त में, लॉक के प्रभाव एवं योगदान की ओर भी मुड़ा जाये जो पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में स्मरणीय है। लॉक की शिक्षाएँ अनेक विचारधाओं का प्रारम्भिक बिन्दु हैं और देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइबनित्ज की भाँति उसका प्रभाव उसके देश तथा काल की सीमाओं से बहुत आगे तक जाता है। मानवी ज्ञान से सम्बन्धित उसका निबन्ध ऐसा विशद प्रयास रहा जिसके द्वारा उत्पन्न आन्दोलन से बर्कले, ह्यूम और काण्ट जैसे विचारक पैदा हुये। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में लॉक का सबसे बड़ा योगदान उसका अनुभववाद है। उसे अनुभववादी सम्प्रदाय

का जनक माना जाता है। उसने यह बतलाया कि जड़ वस्तुएँ मन में विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ उत्पन्न करती हैं। यही उसके प्रतिनिधि-यथार्थवाद का मूलाधार है अर्थात् बाह्य वस्तुओं की सत्ता मन से स्वतन्त्र होती है। उसके अनुभववाद का मूल मंत्र यही है कि समस्त ज्ञान अनुभव से प्राप्त है।

यहाँ यह स्मरण रहे कि लॉक में भी देकार्त की भाँति अनेक असंगतियाँ मिलती हैं। चूँकि उसने नये सिरे से कुछ मौलिक प्रश्नों को उठाया इसलिए उसके चिन्तन में कमियों का रहना स्वाभाविक है। लॉक ने ज्ञान सम्बन्धी समस्या में तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक खोजों को मिश्रित कर दिया जिसके कारण तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान के तथ्यों में अस्पष्टता आ गई। लॉक की द्रव्य विषयक धारणा में भी असंगति रह जाती है। वह कहता है कि द्रव्य अज्ञात अधार है। यदि वास्तव में द्रव्य अज्ञात है तो वह अनुभवातीत होना चाहिए। इस बात को एक अनुभववादी किस प्रकार प्रमाणित कर सकता है समझ में आना कठिन है। अतः अज्ञात द्रव्य धारणा को मानकर लॉक असंगत अनुभवादी हो जाता है। फिर यदि द्रव्य का स्वरूप अज्ञात है तो हम भौतिक अथवा आत्मिक किसी भी द्रव्य को नहीं जान सकते। यहाँ लॉक संशयवाद की धारा में फँस जाता है, हालांकि वह संशयवादी नहीं था। संशयवादी न होने के कारण ही, उसने द्रव्य-विवेचन में तात्विक दृष्टिकोण की सहायता ली। उसके प्रमुख तथा गौण गुणों के सिद्धान्त की भी आलोचना की गई और उसके गुणों सम्बन्धी द्वैतवाद को बर्कले ने निरर्थक सिद्ध कर दिया। लॉक मन और शरीर में भी द्वैत सम्बन्ध स्थापित करता है। किन्तु वह उनकी परस्पर अन्त-र्क्रिया की समुचित व्याख्या नहीं कर सका। संक्षेप में, लॉक के अधूरे अनुभववाद को बर्कले ने अधिक व्यापक बनाया और ह्यूम ने उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। इस प्रकार लॉक की दार्शनिक असंगतियों ने भी भावी विचारकों को गम्भीर चिन्तन का अवसर प्रदान किया।

□

11

जार्ज बर्कले

(George Berkeley : 1685–1753)

जार्ज वर्कले का जन्म आयरलैण्ड में हुआ। स्कूली शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् उसने डब्लिन के ट्रिनिटी कालेज में विद्या अध्ययन प्रारम्भ किया और डिग्री लेने के बाद वह वहीं पर 13 वर्ष तक अध्यापन कार्य करता रहा। बर्कले ने अनेक यात्राएँ कीं। पादरी होने के नाते उसे रोह्ड द्वीप में ईसाई मिशन की स्थापना के लिए भेजा गया। फिर उसे क्लोयन में बिशप के पद पर नियुक्त किया गया। लन्दन आकर विख्यात विद्वानों से उसने घनिष्ठ-सम्बन्ध स्थापित किये। उसे साधारण जीवन अधिक पसन्द था और धर्म-प्रचार तथा रोगियों की सेवा में उसकी विशेष रुचि थी। सन् 1752 में वह ऑक्सफोर्ड भी गया जहाँ एक दिन चाय पीते समय उसका देहान्त हो गया। 29 वर्ष की अल्पायु में ही बर्कले ने अपनी प्रमुख रचनाएँ समाप्त कर लीं थीं। उसकी प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं : मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त (प्रिन्सिपिल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज); हॉयलस और फिलोनाउस के तीन संवाद (थ्री डायलॉग्स बिट्वीन हायलस एण्ड फिलोनाउस); सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक (द् मायनूट फिलॉस्फर); और सिरिस (सिरिस).

लॉक ने जिस अनुभववादी परम्परा को ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में प्रारम्भ किया उसी का परिवर्तित रूप जार्ज वर्कले ने प्रस्तुत किया। लॉक ने यह बतलाया कि बाह्य वस्तुएँ मन में संवेदन उत्पन्न करती हैं जिनमें विस्तार, ठोसपन, गति, रंग, ध्वनि, स्वाद आदि सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ वस्तुओं के प्रमुख गुण होते हैं। वस्तुओं के प्रमुख गुणों की प्रतियाँ ही संवेदन हैं। अन्य संवेदन वस्तुओं में निहित शक्तियों के प्रभाव मात्र होते हैं जो हमारे मन में पैदा होते हैं। संवेदन ही मन को ज्ञान की प्रारम्भिक सामग्री प्रदान करते हैं। आत्मा उन पर क्रिया करती है। आत्मा ही उस सामग्री को व्यवस्थित करती, मिलाती, उसमें विभेद एवं सम्बन्ध स्थापित करती है। वह अपनी आन्तरिक अवस्थाओं पर भी चिन्तन करती है। इसलिए

समस्त ज्ञान अनुभव के तथ्यों तक ही सीमित है। हमें केवल अपने प्रत्ययों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। हम यह जानते हैं कि बाह्य जगत् है किन्तु उसका ज्ञान हमारे प्रत्ययों के ज्ञान की भाँति स्पष्ट तथा स्वयंसिद्ध नहीं है। लॉक की दृष्टि में, ज्ञान प्रत्ययों का ही खेल है, हालांकि बाह्य वस्तुओं की सत्ता है जो हमारे मन से स्वतन्त्र है।

बर्कले ने लॉक के इस प्रत्यय-सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन किया। उसी के आधार पर उसने आत्मगत प्रत्ययवाद (Subjective Idealism) की प्रतिष्ठापना की और भौतिकवाद तथा नास्तिकवाद का प्रबल खण्डन किया। स्मरण रहे कि बर्कले एक पादरी था और ऐसा करना उसके लिए स्वाभाविक था। अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए, बर्कले ने स्वयं एक प्रश्न किया : यदि लॉक यह मानता है कि ज्ञान का मूलाधार संवेदन तथा आत्म-चिन्तन है और यदि हम प्रत्ययों को ही अच्छी तरह जान पाते हैं तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि उनके अतिरिक्त कोई बाह्य वस्तुओं का जगत् है ? बर्कले के अनुसार, हम अपनी मानसिक अवस्थाओं तक ही सीमित हैं। प्रत्ययों की तुलना मूर्त द्रव्यों से नहीं की जा सकती। हम यह नहीं जान सकते कि वे क्या हैं ? जब लॉक भौतिक द्रव्यों को अज्ञात ही मानता है और हम उन्हें जान नहीं सकते तब हम सन्देह में पड़ जाते हैं। भौतिक द्रव्य को अस्वीकार ही क्यों न कर दिया जाये ? यदि पुद्गल के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य है और शुद्ध आकाश की सत्ता है, तो ईश्वर के साथ-साथ एक असीम, शाश्वत, कूटस्थ सत्य की भी सत्ता है जो ईश्वर के अस्तित्व को सीमित बताती है। यहाँ तक कि वह ईश्वर के अस्तित्व का ही निषेध करता है। अतएव पुद्गल में विश्वास करना भौतिकवाद और नास्तिकवाद की ओर जाना है। बर्कले का तात्पर्य यह है कि सन्देहवाद, नास्तिकता और अधार्मिकता का मूल कारण पुद्गल में विश्वास करना है। पुद्गल की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करके अनेक अधार्मिक बातों से बचा जा सकता है। पुद्गल को स्वतन्त्र न मानकर भी जगत् की व्याख्या की जा सकती है। जगत् की व्याख्या ईश्वर तथा अन्य आध्यात्मिक सत्ताओं से की जा सकती है। बर्कले की यह मान्यता है कि यदि भौतिकवाद का खण्डन कर दिया जाये तो आध्यात्मवाद की जड़ें अपने आप सुदृढ़ हो जायेंगी। अतएव बर्कले इस प्रश्न का समाधान ढूंढना चाहता है : क्या मन के बिना जगत् की सत्ता है अर्थात् क्या पुद्गल की स्वतन्त्र स्थिति है ?

अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन (Rejection of Abstract Ideas)

भौतिक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करने का प्रथम कारण, बर्कले के अनुसार, अमूर्त प्रत्यय हैं। इसलिए वह लॉक के अमूर्त प्रत्ययों के सिद्धान्त का खण्डन करता है।

11

जार्ज बर्कले

(George Berkeley : 1685–1753)

जार्ज वर्कले का जन्म आयरलैण्ड में हुआ। स्कूली शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् उसने डब्लिन के ट्रिनिटी कालेज में विद्या अध्ययन प्रारम्भ किया और डिग्री लेने के बाद वह वहीं पर 13 वर्ष तक अध्यापन कार्य करता रहा। वर्कले ने अनेक यात्राएँ कीं। पादरी होने के नाते उसे रोह्ड द्वीप में ईसाई मिशन की स्थापना के लिए भेजा गया। फिर उसे क्लोयन में विशप के पद पर नियुक्त किया गया। लन्दन आकर विख्यात विद्वानों से उसने घनिष्ठ-सम्बन्ध स्थापित किये। उसे साधारण जीवन अधिक पसन्द था और धर्म-प्रचार तथा रोगियों की सेवा में उसकी विशेष रुचि थी। सन् 1752 में वह ऑक्सफोर्ड भी गया जहाँ एक दिन चाय पीते समय उसका देहान्त हो गया। 29 वर्ष की अल्पायु में ही वर्कले ने अपनी प्रमुख रचनाएँ समाप्त कर लीं थीं। उसकी प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं : मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त (प्रिन्सिपिल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज); हॉयलस और फिलोनाउस के तीन संवाद (थ्री डायलॉग्स बिट्वीन हायलस एण्ड फिलोनाउस); सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक (द् मायनूट फिलॉस्फर); और सिरिस (सिरिस).

लॉक ने जिस अनुभववादी परम्परा को ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में प्रारम्भ किया उसी का परिवर्तित रूप जार्ज वर्कले ने प्रस्तुत किया। लॉक ने यह बतलाया कि बाह्य वस्तुएँ मन में संवेदन उत्पन्न करती हैं जिनमें विस्तार, ठोसपन, गति, रंग, ध्वनि, स्वाद आदि सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ वस्तुओं के प्रमुख गुण होते हैं। वस्तुओं के प्रमुख गुणों की प्रतियाँ ही संवेदन हैं। अन्य संवेदन वस्तुओं में निहित शक्तियों के प्रभाव मात्र होते हैं जो हमारे मन में पैदा होते हैं। संवेदन ही मन को ज्ञान की प्रारम्भिक सामग्री प्रदान करते हैं। आत्मा उन पर क्रिया करती है। आत्मा ही उस सामग्री को व्यवस्थित करती, मिलाती, उसमें विभेद एवं सम्बन्ध स्थापित करती है। वह अपनी आन्तरिक अवस्थाओं पर भी चिन्तन करती है। इसलिए

समस्त ज्ञान अनुभव के तथ्यों तक ही सीमित है। हमें केवल अपने प्रत्ययों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। हम यह जानते हैं कि बाह्य जगत् है किन्तु उसका ज्ञान हमारे प्रत्ययों के ज्ञान की भाँति स्पष्ट तथा स्वयंसिद्ध नहीं है। लॉक की दृष्टि में, ज्ञान प्रत्ययों का ही खेल है, हालांकि बाह्य वस्तुओं की सत्ता है जो हमारे मन से स्वतन्त्र है।

बर्कले ने लॉक के इस प्रत्यय-सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन किया। उसी के आधार पर उसने आत्मगत प्रत्ययवाद (Subjective Idealism) की प्रतिष्ठापना की और भौतिकवाद तथा नास्तिकवाद का प्रबल खण्डन किया। स्मरण रहे कि बर्कले एक पादरी था और ऐसा करना उसके लिए स्वाभाविक था। अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए, बर्कले ने स्वयं एक प्रश्न किया : यदि लॉक यह मानता है कि ज्ञान का मूलाधार संवेदन तथा आत्म-चिन्तन है और यदि हम प्रत्ययों को ही अच्छी तरह जान पाते हैं तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि उनके अतिरिक्त कोई बाह्य वस्तुओं का जगत् है ? बर्कले के अनुसार, हम अपनी मानसिक अवस्थाओं तक ही सीमित हैं। प्रत्ययों की तुलना मूर्त द्रव्यों से नहीं की जा सकती। हम यह नहीं जान सकते कि वे क्या हैं ? जब लॉक भौतिक द्रव्यों को अज्ञात ही मानता है और हम उन्हें जान नहीं सकते तब हम सन्देह में पड़ जाते हैं। भौतिक द्रव्य को अस्वीकार ही क्यों न कर दिया जाये ? यदि पुद्गल के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य है और शुद्ध आकाश की सत्ता है, तो ईश्वर के साथ-साथ एक असीम, शाश्वत, कूटस्थ सत्य की भी सत्ता है जो ईश्वर के अस्तित्व को सीमित बताती है। यहाँ तक कि वह ईश्वर के अस्तित्व का ही निषेध करता है। अतएव पुद्गल में विश्वास करना भौतिकवाद और नास्तिकवाद की ओर जाना है। बर्कले का तात्पर्य यह है कि सन्देहवाद, नास्तिकता और अधार्मिकता का मूल कारण पुद्गल में विश्वास करना है। पुद्गल की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करके अनेक अधार्मिक बातों से बचा जा सकता है। पुद्गल को स्वतन्त्र न मानकर भी जगत् की व्याख्या की जा सकती है। जगत् की व्याख्या ईश्वर तथा अन्य आध्यात्मिक सत्ताओं से की जा सकती है। बर्कले की यह मान्यता है कि यदि भौतिकवाद का खण्डन कर दिया जाये तो आध्यात्मवाद की जड़ें अपने आप सुदृढ़ हो जायेंगी। अतएव बर्कले इस प्रश्न का समाधान ढूंढना चाहता है : क्या मन के बिना जगत् की सत्ता है अर्थात् क्या पुद्गल की स्वतन्त्र स्थिति है ?

अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन (Rejection of Abstract Ideas)

भौतिक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करने का प्रथम कारण, बर्कले के अनुसार, अमूर्त प्रत्यय हैं। इसलिए वह लॉक के अमूर्त प्रत्ययों के सिद्धान्त का खण्डन करता है।

प्रत्यक्ष से अलग बाह्य वस्तुओं की प्राकृतिक (वास्तविक) सत्ता में विश्वास करने का मुख्य कारण यह मान्यता है कि मन में अमूर्त प्रत्ययों का निर्माण कर सकता है। वस्तुतः मन अमूर्त प्रत्ययों को बना नहीं सकता। मन केवल उन्हीं विशेष वस्तुओं के प्रत्ययों के बारे में कल्पना कर सकता है, उन्हें पृथक् या मिश्रित बना सकता है जिनका उसने प्रत्यक्ष किया है। रेखाओं के बिना त्रिकोण के सामान्य रूप की कल्पना करना असंभव है। इसी प्रकार गतिशील शरीर के अतिरिक्त गति के सामान्य प्रत्यय की कल्पना करना भी असंभव है। केवल एक ही अर्थ में सामान्य प्रत्यय बन सकता है कि किसी सामान्य प्रत्यय के द्वारा एकसी समस्त वस्तुओं का प्रतिनिधित्व किया जाये। सभी समान विशेष वस्तुओं के लिए, हम एक नाम का प्रयोग करते हैं। इसलिये हमें यह विश्वास हो जाता है कि उनके समकक्ष एक अमूर्त प्रत्यय होता है। ऐसे अमूर्त प्रत्यय हमारे ज्ञान वृद्धि के लिये आवश्यक हों, ऐसी बात नहीं है। मन के बिना किसी जगत् के प्रत्यय की कल्पना करना अर्थात् भौतिक जगत् को मानना, अमूर्त प्रत्यय (Abstract Ideas) के समान है। हम वस्तु को उसके प्रत्यय से अलग कर देते हैं और यह समझ बैठते हैं कि प्रत्यक्ष के बिना भी पुद्गल की सत्ता हो सकती है। यह असम्भव है। जिस वस्तु का कोई वास्तविक संवेदन ही न हो, उसको हम कैसे देख सकते हैं अथवा उसका अनुभव नहीं कर सकते। संवेदन या प्रत्यक्ष के बिना हम उस वस्तु की धारणा भी नहीं कर सकते। अप्रत्यक्षित पुद्गल को बर्कले एक अमूर्त प्रत्यय मानता है जिसकी कोई स्वतन्त्र वास्तविक सत्ता नहीं है। अमूर्तबोधन (Abstraction) एक अनाधिकार प्रक्रिया है और इसलिए भौतिक द्रव्य की वास्तविकता भी अप्रमाणित है।

बर्कले के 'मानव' के अमूर्तबोधित प्रत्यय का उदाहरण दिया। उसने कहा कि यदि हम 'मानव' के विषय में सोचते हैं तो हमारे सामने कोई एक प्रतिमा चली आती है और यह प्रतिमा काले व्यक्ति या गोरे व्यक्ति, लम्बे या नाटे व्यक्ति की हो सकती है। किन्तु कोई भी प्रतिमा या प्रत्यय ऐसा नहीं हो सकता जो काले-गोरे, नाटे-लम्बे, मोटे-दुबले आदि सभी गुणों से सम्पन्न हो। लेकिन अमूर्तबोधित प्रत्यय वह है जो सभी प्रकार के व्यक्तियों का बोध कराये जो किसी भी प्रतिमा के आधार पर संभव नहीं हो सकता। भौतिक द्रव्य भी इसी अमूर्तबोधन की प्रक्रिया से बनाया गया है। कल्पित भौतिक द्रव्य वह है जो गतिशील हो और स्थित भी, ठोस हो और मुलायम भी। इस प्रकार के भौतिक द्रव्य का होना लॉक द्वारा संभव बतलाया गया है। इस भौतिक द्रव्य की सत्ता को आत्मा के चिन्तन से पृथक् समझ लिया जाता है जो असंभव है क्योंकि चिन्तनशील मन के बिना उसकी स्वतन्त्र वास्तविकता सिद्ध नहीं हो सकती। अतएव भौतिक द्रव्य अनाधिकार अमूर्तबोधन का उदाहरण है। इसलिए बर्कले उसे अमान्य धारणा कहता है।

बर्कले लॉक की इस बात को मानता है कि मानवी ज्ञान के विषय या तो मूलतः मन में इन्द्रियों द्वारा अंकित किये जाते हैं या फिर मन की क्रियाओं से उत्पन्न किये जाते हैं। इन प्रत्ययों को हम मिलाते, उनमें विभेद करते तथा उन्हें मिश्रित बनाते हैं। इन प्रत्ययों के अतिरिक्त ऐसी कोई चीज है जो उन्हें ज्ञात करती है और देखती है। उन प्रत्ययों पर विभिन्न क्रियाएँ जैसे इच्छा, कल्पना, स्मृति करती है। यह चीज मेरे से बिल्कुल भिन्न है। यह वह 'मन, आत्मा या मैं' है जिसमें समस्त प्रत्यय विद्यमान रहते हैं और जिसके द्वारा प्रत्यक्ष होता है क्योंकि प्रत्ययों की सत्ता उनके प्रत्यक्ष में ही है।

लॉक के अनुसार ये सामान्य प्रत्यय मानव चिन्तन में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इनके बिना किसी भी क्षेत्र में चिन्तन का विकास नहीं हो सकता। यदि मनुष्य में अमूर्तबोधन या सामान्य प्रत्यय बनाने की क्षमता न होती तो उसे विशिष्ट चित्रों अथवा विषयों की भाषा का प्रयोग करना पड़ता जैसाकि आदिम युग में होता था। अमूर्तबोधन ही मनुष्य को पशुओं से अलग करता है। लॉक यह मानता है कि सामान्यीकरण की प्रक्रिया जो कि अमूर्त प्रत्ययों का मूलाधार है अत्यन्त दुर्बोध एवं जटिल है। परन्तु बर्कले इस प्रक्रिया को बिल्कुल ही असंभव मानता है। उसके अनुसार, अमूर्त प्रत्यय कोरे नाम मात्र हैं और उनके अनुरूप जगत् में कोई भी यथार्थ सत्ता नहीं है। संक्षेप में, बर्कले केवल दो ही प्रकार की सताएँ मानता है— एक तो दृष्टा आत्मा और दूसरे प्रत्यय जो कि आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त जगत् में अन्य कुछ नहीं है। इस प्रकार वह अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन के साथ-साथ स्वतन्त्र भौतिक द्रव्य अथवा भौतिक पदार्थों की सत्ता को अमान्य कर देता है और अपने आत्मगत प्रत्ययवाद की स्थापना करता है।

दृष्टि ही सृष्टि है (To be is to be Perceived)

बर्कले के अनुसार, हमारे विचार, भावना तथा कल्पना के दृश्यों का अस्तित्व मन के बाहर नहीं होता। उनकी सत्ता मन पर आश्रित है। उनका अस्तित्व मन को मन द्वारा प्रत्यक्ष करने में है। अतः समस्त बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मन पर निर्भर है। हमारे संवेदनों के विषय में भी यही बात सही है। संवेदन का अस्तित्व भी प्रत्यक्ष के साथ जुड़ा हुआ है। यहाँ भी सत्ता दृष्टता है अर्थात् दृष्टि ही सृष्टि है (Esse est percipi), जब मैं यह कहता हूँ कि जिस मेज पर मैं लिख रहा हूँ उसका अस्तित्व है तो इसका अर्थ है कि मैं उसे देखता हूँ अर्थात् उसका अनुभव करता हूँ। यह कहना कि मन द्वारा देखे बिना ही वस्तुओं का अस्तित्व है समझ में नहीं आता। अस्तित्व का अर्थ ही प्रत्यक्ष का विषय होना अथवा मन द्वारा देखा जाना है। सत्ता का होना प्रत्यक्ष (Perceiving) में ही है। अतः बर्कले के अनुसार मन के बिना पदार्थों या वस्तुओं की सत्ता नहीं होती। वस्तुओं का जब तक प्रत्यक्ष

नहीं होता तब तक उनकी सत्ता के विषय में कुछ कहना असंभव है। किसी वाह्य वस्तु के अस्तित्व का अर्थ उसको मेरे मन में या अन्य किसी के मन या नित्य आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष होना ही है। अन्य शब्दों में, यह कहना बहुत बड़ा विरोधाभास होगा कि द्रव्य अथवा पुद्गल का अस्तित्व मन के प्रत्यक्ष बिना ही संभव है।

वर्कले लॉक के प्रमुख तथा गौण गुणों के भेदों को स्वीकार नहीं करता। लॉक का कहना है कि प्रमुख गुण जैसे विस्तार, आकृति, गति, ठोसपन, वस्तुओं में विद्यमान होते हैं, परन्तु गौण गुण वस्तुओं के मन में प्रभाव मात्र हैं। उनका अस्तित्व स्वयं वस्तुओं में न होकर प्रत्यक्ष कर्त्ता की इन्द्रियों पर ही निर्भर होता है। यहाँ वर्कले का कहना है कि ये तथाकथित प्रमुख गुण वैसे ही गौण हैं जैसे अन्य गौण गुण हैं। विस्तार तथा ठोसपन के प्रत्ययों को मैं स्पर्श द्वारा जान लेता हूँ। वे भी मेरे मन के संवेदन ही हैं। मैं अपने विस्तार के प्रत्यय को रंग के प्रत्यय तथा अन्य गौण गुणों से अलग नहीं कर सकता। मैं कभी भी ऐसी विस्तारमय वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं करता अथवा नहीं देखता जो साथ-साथ रंगमय भी न हो। मेरे मन में ऐसे किसी पदार्थ का कोई प्रत्यय नहीं है जो अमूर्त तथा अस्तित्वहीन हो। अतः प्रमुख तथा गौण गुणों में अविभाज्य सम्बन्ध है। उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में देखा जाय तो प्रमुख गुण मन पर उतना ही अधिक आश्रित रहता है जितना गौण गुण। इसलिए प्रमुख गुण, गौण गुण के समान, मन पर आश्रित होने के कारण मानसिक हैं।

लॉक कहता है कि गौण गुणों में सापेक्षता है। इसलिए वे मन पर आश्रित हैं। एक ही ताप का पानी बांये तथा दाहिने हाथ को कम या अधिक गरम मालूम लग सकता है। यही सापेक्षता, जैसा कि वर्कले कहता है, आकार तथा गति में देखने में आती है। रेलगाड़ी की गति यात्रियों के लिए सामने से आती हुई गाड़ी के प्रसंग में अधिक और एक ही दिशा में चलती हुई गाड़ी के प्रसंग में कम मालूम देती है। फिर कोई गोल सिक्का, ठीक उसके ऊपर नजर डालने से गोल और समकक्ष, धरातल से देखने पर अण्डवृत दिखाई देता है। इस प्रकार प्रमुख गुण भी सापेक्ष हैं और गौण गुणों के समान मन पर आश्रित हैं। अन्य शब्दों में, प्राथमिक गुण भी उसी प्रकार इन्द्रियों पर निर्भर हैं जिस प्रकार गौण गुण इन्द्रियों पर आश्रित रहते हैं। यदि आँखों के देखे बिना हम रंग की संवेदना प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तो ठीक उसी प्रकार बिना स्पर्श तथा बिना दृष्टि-संवेदन के हम विस्तार, दूरी आदि को नहीं जान सकते। अतएव लॉक के द्वारा प्रस्तुत प्रमुख और गौण गुणों का भेद युक्तिसंगत नहीं है।

लॉक का यह भी कहना है कि गुणों का कोई आधार (द्रव्य) भी होना चाहिए क्योंकि द्रव्यात्मक आधार के बिना, गुणों का अस्तित्व असंभव है। किन्तु वर्कले यह स्वीकार नहीं करता कि इन गुणों का कोई अज्ञात आधार (पुद्गल) है।

नहीं होता तब तक उनकी सत्ता के विषय में कुछ कहना असंभव है। किसी बाह्य वस्तु के अस्तित्व का अर्थ उसको मेरे मन में या अन्य किसी के मन या नित्य आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष होना ही है। अन्य शब्दों में, यह कहना बहुत बड़ा विरोधाभास होगा कि द्रव्य अथवा पुद्गल का अस्तित्व मन के प्रत्यक्ष बिना ही संभव है।

वर्कले लॉक के प्रमुख तथा गौण गुणों के भेदों को स्वीकार नहीं करता। लॉक का कहना है कि प्रमुख गुण जैसे विस्तार, आकृति, गति, ठोसपन, वस्तुओं में विद्यमान होते हैं, परन्तु गौण गुण वस्तुओं के मन में प्रभाव मात्र हैं। उनका अस्तित्व स्वयं वस्तुओं में न होकर प्रत्यक्ष कर्त्ता की इन्द्रियों पर ही निर्भर होता है। यहाँ वर्कले का कहना है कि ये तथाकथित प्रमुख गुण वैसे ही गौण हैं जैसे अन्य गौण गुण हैं। विस्तार तथा ठोसपन के प्रत्ययों को मैं स्पर्श द्वारा जान लेता हूँ। वे भी मेरे मन के संवेदन ही हैं। मैं अपने विस्तार के प्रत्यय को रंग के प्रत्यय तथा अन्य गौण गुणों से अलग नहीं कर सकता। मैं कभी भी ऐसी विस्तारमय वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं करता अथवा नहीं देखता जो साथ-साथ रंगमय भी न हो। मेरे मन में ऐसे किसी पदार्थ का कोई प्रत्यय नहीं है जो अमूर्त तथा अस्तित्वहीन हो। अतः प्रमुख तथा गौण गुणों में अविभाज्य सम्बन्ध है। उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में देखा जाय तो प्रमुख गुण मन पर उतना ही अधिक आश्रित रहता है जितना गौण गुण। इसलिए प्रमुख गुण, गौण गुण के समान, मन पर आश्रित होने के कारण मानसिक हैं।

लॉक कहता है कि गौण गुणों में सापेक्षता है। इसलिए वे मन पर आश्रित हैं। एक ही ताप का पानी बांये तथा दाहिने हाथ को कम या अधिक गरम मालूम लग सकता है। यही सापेक्षता, जैसा कि बर्कले कहता है, आकार तथा गति में देखने में आती है। रेलगाड़ी की गति यात्रियों के लिए सामने से आती हुई गाड़ी के प्रसंग में अधिक और एक ही दिशा में चलती हुई गाड़ी के प्रसंग में कम मालूम देती है। फिर कोई गोल सिक्का, ठीक उसके ऊपर नजर डालने से गोल और समकक्ष, धरातल से देखने पर अण्डवृत दिखाई देता है। इस प्रकार प्रमुख गुण भी सापेक्ष हैं और गौण गुणों के समान मन पर आश्रित हैं। अन्य शब्दों में, प्राथमिक गुण भी उसी प्रकार इन्द्रियों पर निर्भर हैं जिस प्रकार गौण गुण इन्द्रियों पर आश्रित रहते हैं। यदि आँखों के देखे विना हम रंग की संवेदना प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तो ठीक उसी प्रकार विना स्पर्श तथा विना दृष्टि-संवेदन के हम विस्तार, दूरी आदि को नहीं जान सकते। अतएव लॉक के द्वारा प्रस्तुत प्रमुख और गौण गुणों का भेद युक्तिसंगत नहीं है।

लॉक का यह भी कहना है कि गुणों का कोई आधार (द्रव्य) भी होना चाहिए क्योंकि द्रव्यात्मक आधार के विना, गुणों का अस्तित्व असंभव है। किन्तु बर्कले यह स्वीकार नहीं करता कि इन गुणों का कोई अज्ञात आधार (पुद्गल) है।

ऐसा मानना अमूर्तिकरण करना है। जिस पुद्गल को हम देख नहीं सकते उसकी सत्ता को कैसे स्वीकार किया जाये ? अन्य शब्दों में, हमारे समस्त प्रत्यय या संवेदन, या प्रत्यक्षीकृत वस्तुएँ, निष्क्रिय हैं। उनमें कुछ भी कर सकने की शक्ति नहीं है। अतः विस्तार, आकृति, गति जो प्रत्यय हैं, संवेदनों के कारण नहीं बन सकते। आत्मा स्वयं उनका प्रत्यक्ष करती है।

बर्कले भौतिक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। उसका कहना है कि यदि भौतिक द्रव्य संवेदना तथा आत्मनिरीक्षण के आधार पर प्रत्यक्ष हो तो यह रंग स्पर्श, भाव, उद्वेग इत्यादि ही हो सकता है। यदि यह आँखों के द्वारा जाना जाये तो यह लाल-पीले इत्यादि रंग में रंगा हुआ होगा। यदि कान से जाना जाता है, तो यह कर्कश, मधुर इत्यादि आवाज होगी। किन्तु स्वयं लॉक यह स्वीकार करता है कि भौतिक द्रव्य इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है क्योंकि वह अज्ञात है। फिर यदि भौतिक द्रव्य इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात भी हो तो संवेदनाओं के समान परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर होगा। परन्तु भौतिक द्रव्य को अपरिवर्तनशील, स्थाई तथा शाश्वत समझा जाता है। अतः भौतिक द्रव्य प्रत्यय नहीं हो सकता है। फिर यदि भौतिक द्रव्य का प्रत्यक्ष हो तो वह प्रत्यय ही होगा और सब प्रत्यय मानसिक होते ही हैं। इसलिए भौतिक द्रव्य या जड़ पदार्थ मन से परे स्वतन्त्र सत्ता न होकर वास्तव में मानसिक ही है।

भौतिक द्रव्य को प्रत्यक्ष न मानकर, अनुमानित सत्ता कहा जा सकता है। किन्तु यदि वह अनुमानित है तो उसे अन्य प्रत्ययों के समान होना चाहिए, हालांकि ऐसा मानना निराधार होगा क्योंकि जड़ पदार्थ और प्रत्यय में कोई समानता नहीं है। प्रत्यय परिवर्तनशील है, किन्तु भौतिक द्रव्य अपरिवर्तनशील समझा जाता है। फिर प्रत्यय अनुभूत विषय है। लेकिन लॉक के अनुसार भौतिक द्रव्य की अनुभूति संभव नहीं है। अतः यदि भौतिक पदार्थ प्रत्ययों की समानता पर अनुमानित हो तो यह युक्तिसंगत न होगा।

यहाँ प्रश्न उठता है कि मन और जड़ (द्रव्य) में क्या सम्बन्ध हो सकता है ? लॉक का विचार यह है कि मन और जड़ का सम्बन्ध बुद्धिगम्य नहीं है। इसलिए जैसा कि बर्कले कहता है, भौतिक द्रव्य को मानसिक प्रत्यय का कारण या उत्पादक नहीं समझा जा सकता है क्योंकि कारण-कार्य में समानता होनी चाहिए और इनके पारस्परिक सम्बन्ध को बुद्धिगम्य होना चाहिए। बर्कले अपने समय की विचारधारा के अनुसार, जड़ पदार्थ को निष्क्रिय समझता है। इसलिए उसने भौतिक पदार्थ को उत्पादक कारण नहीं माना क्योंकि केवल सक्रिय (Active) सत्ता ही उत्पादक हो सकती है। अतः भौतिक पदार्थ को प्रत्ययों का अनुमानित उत्पादक कारण नहीं समझा जा सकता है। फिर क्या भौतिक द्रव्य को प्रत्ययों का निमित्त-कारण

Instrumental Cause) माना जा सकता है ? लेकिन बर्कले का कहना है कि वहीं पर निमित्त कारण की आवश्यकता पड़ती है जहाँ संकल्प-मात्र से कार्य उत्पन्न न हो। किन्तु ईश्वर का संकल्प मात्र (Mere Will) किसी भी कार्य को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है और इसलिए जड़-पदार्थ को प्रत्यय के उत्पादन में निमित्त आधार मानना व्यर्थ है।

यदि भौतिक द्रव्य प्रत्ययों का उत्पादक नहीं है और न उनका निमित्त कारण ही है, तो बर्कले उसे प्रत्यय-उत्पादन में प्रसंग मात्र भी नहीं मानता। यह स्पष्ट है कि भौतिक द्रव्य न तो संवेदित गुण है, प्रत्ययों का कारण है और न प्रत्ययों के समान ही है। यदि उसे प्रत्यय-उत्पादन में अवसर-मात्र मान लिया जाये तो उसे अज्ञात, निष्क्रिय या निर्गुण द्रव्य मानना पड़ेगा जो अनुभववादी सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस प्रकार बिना गुण के द्रव्य को मानना दोषपूर्ण है। उसे शून्य के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। शून्य-सम भौतिक द्रव्य न तो प्रत्ययों का कारण है न उनके समान है, तो उसे प्रत्ययों के उत्पादन में कहीं प्रसंग मात्र रखना न्याय-संगत नहीं है।

इसके अतिरिक्त बर्कले ने भौतिक द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को किसी भी प्रकार उपयोगी धारणा मानने से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार भौतिक द्रव्य की एक शून्यवत् धारणा है जिसमें अमूर्त बोधित प्रत्यय का दोष चरम सीमा में देखा जाता है। यदि यह मान लिया जाये कि गुणों का कोई आधार होना चाहिए उसे 'अज्ञात भौतिक द्रव्य' कह दिया जाये तो इसमें अनावस्था दोष (Fallacy of Infinte Regres) आ जाता है क्योंकि फिर भौतिक द्रव्य का भी कारण या आश्रय ढूंढ़ना पड़ेगा। पुनः आशय के आश्रय की ओर चलते चले जायेंगे जिसका कोई भी अन्त न होगा। अतः भौतिक द्रव्य की धारणा से कोई सैद्धान्तिक लाभ नहीं है और न कोई बौद्धिक तथा व्यावहारिक संगति है।

बर्कले के अनुसार, भौतिक द्रव्य की धारणा से किसी लाभ की अपेक्षा केवल हानि ही है। भौतिक द्रव्य को शाश्वत समझ लेने से ईश्वर की सत्ता की असीमता में कमी आ जाती है। साथ ही लोगों को यह भी भ्रम होने लगता है कि जगत् की समस्त घटनाएँ जड़ द्रव्य के नियमों से संचालित होती है। भौतिकवाद तथा जड़-वाद की विचारधारा को स्वीकार करने पर नास्तिकवाद की भावना का प्रसार होता है। ईश्वर के प्रति लोगों की आस्था घटने लगती है। बर्कले का कहना है कि ईश्वर समस्त प्रकाश एवं कल्याण का स्रोत है। यदि मानव ईश्वर से विमुख होता है तो वह अन्धकार में ही फंसा रहेगा। इसलिए भौतिक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लेने से अधार्मिकता तथा नैतिक पतन की पूरी संभावनाएँ बन जाती हैं जिन्हें समाप्त करना ही मानव हित में है।

बर्कले का कहना है कि जड़-पदार्थ की स्वतन्त्र धारणा को त्याग कर हमें अनुभूत विषय को अपनाना चाहिए। अनुभूत विषय केवल आत्मा और उसमें विद्यमान प्रत्यय हैं। उसके अनुसार, आत्मा और उसके प्रत्यय आध्यात्मिक सत्ताएं हैं। इस प्रकार बर्कले आध्यात्मवाद अथवा प्रत्ययवाद को ही एक मात्र न्यायसंगत सिद्धान्त मानता है।

आत्माओं का अस्तित्व (Existence of Spirits)

हमारे ज्ञान में जो कुछ भी आता है वह आत्म-बोध अथवा संवेदनों से ही आता है। इनका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बर्कले ऐसे कारण को मानने पर बल देता है जो क्रियाशील द्रव्य (Active Substance) हो। यह कारण भौतिक द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए उसे अभौतिक, तथा आध्यात्मिक द्रव्य (Spiritual Substance) ही होना चाहिए। यह आत्मा है। आत्मा अविभाज्य एवं सक्रिय है। जब वह प्रत्ययों का प्रत्यक्ष करती है तब उसे बोध कहते हैं। प्रत्ययों पर क्रिया करने को संकल्प कहते हैं। आत्मा का प्रत्यय नहीं होता क्योंकि समस्त प्रत्यय निष्क्रिय होते हैं। आत्मा सक्रिय तथा रचनात्मक है। उसे प्रत्ययों के क्षेत्र में नहीं लाया जा सकता। हम आत्मा का स्वयं प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। केवल उसके प्रभावों को ही जान पाते हैं। फिर भी आत्मा अथवा मन की क्रियाओं जैसे संकल्प, प्रेम, घृणा आदि का तो बोध होता है। बोध प्रत्यय की तुलना में एक ऐसा पद है जिससे मन की क्रियाओं का ज्ञान होता है। अतः मुझे मेरे मन तथा उसकी क्रियाओं और अन्य ससीम मन एवं ईश्वर के मन का बोध है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि आत्मा को प्रत्यय के रूप में हम नहीं जान सकते। आत्मा को विचार (Notion) के आधार पर जानते हैं। विचार प्रत्यय से भिन्न होता है। वैसे बर्कले ने विचार शब्द की स्पष्ट व्याख्या नहीं की, केवल यही कहा है कि विचार का विषय आत्मा, मानसिक क्रियाएं और उनके बीच अथवा प्रत्ययों के बीच सम्बन्ध है। प्रत्यय और विचार (Idea and Notion) में सरजेण्ट द्वारा इस प्रकार भेद किया गया है:

(i) प्रत्यय संवेदित होते हैं, जबकि विचार बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम है।

(ii) प्रत्यय से विशेष का ज्ञान होता है, जबकि विचार से सार्वभौमिकता का ज्ञान मिलता है।

(iii) प्रत्यय मानव और पशुओं में समान होता है, जबकि विचार केवल मानव प्राणियों में ही मिलता है।

अन्य शब्दों में, सामान्य प्रत्ययों का खण्डन करके, बर्कले यह सिद्ध करना चाहता है कि ज्ञान संवेदनात्मक ही हो सकता है, हालांकि आध्यात्मिक द्रव्य की सत्ता मानकर वह स्वयं अनेक कठिनाइयों में फंस जाता है।

वर्कले के अनुसार, आत्माएं तीन प्रकार की होती हैं :
(i) मैं; (ii) मुझे छोड़कर अन्य आत्माएँ जो मेरे समान ही सीमित या परिमित हैं; और (iii) अपरिमित ईश्वर। आत्माओं का सार उनकी क्रियाओं में परिलक्षित होता है। 'मैं' की सत्ता सहज-प्रत्यक्ष (Intuition) के आधार पर जानी जाती है। 'मैं' की सक्रियता दो वातों से स्पष्ट होती है : प्रथम, जब मैं चाहूँ तब किसी प्रतिमा को अपने मन-पटल पर ला सकता हूँ और द्वितीय, मैं अपने संकल्प के अनुसार, अपने शरीर के अंगों को हिला-डुला सकता हूँ। अन्य आत्माओं का ज्ञान सादृश्यानुमान के माध्यम से होता है। मैं देखता हूँ कि अन्य आत्माएँ भी मेरे समान क्रियाओं का सम्पादन करती हैं तो यह अनुमान लगाता हूँ कि वे भी मेरे समान आध्यात्मिक हैं। असीम ईश्वर का ज्ञान दूसरे प्रकार से होता है। मन में अनेक प्रत्ययों का प्रवाह होता है जिन पर मन का कोई अधिकार नहीं है। प्रश्न है कि ये प्रत्यय किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इनका कारण भौतिक द्रव्य, अन्य प्रत्यय या फिर सीमित आत्मा हो सकती है। किन्तु वर्कले के अनुसार, भौतिक द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है और अन्य प्रत्यय निष्क्रिय हैं जो उनका कारण नहीं हो सकते। आत्माएं भी उनका कारण नहीं हैं क्योंकि ससीम आत्माओं की रचनाओं में इतनी स्थिरता तथा विशालता नहीं आ सकती। केवल ईश्वर ही समस्त प्रत्ययों की उत्पादक शक्ति है। इस जगत् की सुन्दर रचना, विशालता, पूर्णता तथा सामंजस्य को देखकर यह विश्वास और बढ़ जाता है कि ईश्वर की सत्ता है। ईश्वर व्यवस्थित प्रत्ययों को हमारे अन्दर हर समय उत्पन्न करता रहता है।

यह स्पष्ट है कि वर्कले ईश्वर को ही समस्त प्रत्ययों का उत्पादक मानता है। अतएव वह वाह्य जगत् में किसी भी वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण नहीं कहता। एक प्रत्यय दूसरे का उत्पादक नहीं है, पर एक प्रत्यय दूसरे के साथ भली-भाँति सम्वन्धित है। ईश्वर ही ने प्रत्ययों के वीच स्थाई तथा समरूप व्यवस्था उत्पन्न की है। इसलिए प्राकृतिक नियम ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करते हैं। प्रत्ययों की व्यवस्था में मनमानी नहीं है। ईश्वरीय विधान स्थाई है ताकि हम प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करके समुचित ढंग से काम कर सकें। प्राकृतिक नियमों की गवेषणा करके हमें उनका अनुसरण करना चाहिए ताकि हमारे दैनिक जीवन के कार्य भलीभाँति चल सकें।

कुछ ऐसे प्रत्यय हैं जिन्हें मैं अपनी मर्जी से वना या विगाड़ सकता हूँ। इस दृष्टि से मेरा मन सक्रिय है और अपने सीमित विचारों पर मेरा नियंत्रण है। किन्तु अपने संवेदनों पर मेरा कोई अधिकार एवं नियंत्रण नहीं है। आँख खोलने पर देखना ही पड़ता है। यह मेरी शक्ति में नहीं है कि मैं देखूं या न देखूं। मेरी इन्द्रियों पर जिन प्रत्ययों का अंकन होता है वे मेरे संकल्प के उत्पादन नहीं है। इसलिए कोई अन्य शक्ति है जो उन्हें पैरा करती है। वह शक्ति ईश्वर ही है। उसकी

इच्छा के बिना कुछ भी संभव नहीं हो सकता। ईश्वर की ही कृपा से प्रत्ययों का अंकन मेरी आत्मा में होता है।

कल्पना (Imagination) के प्रत्ययों की तुलना में इन्द्रियों के प्रत्यय अधिक स्पष्ट और सजीव होते हैं। उनमें व्यवस्था तथा स्थिरता होती हैं और क्रमानुसार ही पैदा होते हैं। वे मानवी संकल्प जनित प्रत्ययों की भांति यों ही नहीं होते बल्कि उनमें तारतम्य होता है। यह प्रत्ययों के निर्माता के ज्ञान और उदारता का सूचक है। जिस मन पर हम सब निर्भर हैं, वह जिन स्थाई नियमों और व्यवस्था द्वारा हममें अनुभूति के प्रत्यय उत्पन्न करता है बर्कले उन्हें प्रकृति के नियम कहता है। हम यह अनुभव के द्वारा जानते हैं कि कौन-कौन प्रत्यय किन-किन प्रत्ययों के साथ सम्बन्धित हैं। अन्य शब्दों में, ईश्वर ही हमारे अन्दर प्रत्ययों को एक निश्चित क्रम में उत्पन्न करता है। उसने भोजन के साथ पुष्टकारिता, नींद के साथ ताजगी, अग्नि के साथ ताप के प्रत्ययों को सम्बन्धित कर दिया है। यदि हमारे संवेदनों में कोई नियमित व्यवस्था न हो तो हम उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं सकते। इस व्यवस्था के कारण हम यह समझ लेते हैं कि अमुक प्रत्यय के बाद क्या होगा ? अतः समस्त प्रत्ययों में एक सुन्दर व्यवस्था है जिसके आधार पर हम अपने जीवन को सार्थक तथा नियमित बना सकते हैं। जब हम प्रत्ययों की इस व्यवस्था को देखते हैं तो भूल से यह विश्वास कर लेते हैं कि एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय का कारण है जैसे अग्नि ताप का और नींद ताजगी का। वस्तुतः बर्कले की दृष्टि में, कोई प्रत्यय किसी अन्य प्रत्यय का कारण नहीं है। सभी प्रत्ययों का कारण ईश्वर है। ईश्वर की इच्छा से ही अग्नि में ताप और निद्रा से ताजगी मिलती है। इस प्रकार बर्कले के अनुसार, जगत् में जो कुछ भी होता है वह ईश्वर की ही इच्छा से होता है। उसकी इच्छा के बिना एक प्रत्यय भी नहीं हिलता है।

ईश्वर द्वारा इन्द्रियों में अंकित किये गये प्रत्ययों को बर्कले यथार्थ वस्तुएँ (Real things) कहता है। जो प्रत्यय कल्पना में उत्पन्न होते हैं, जो कम नियमित होते हैं, बर्कले उन्हें वस्तुओं के प्रत्यय या प्रतीतियाँ (Images of things) कहता है। ये प्रतीतियाँ यथार्थ वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये वास्तविक वस्तुओं की प्रतिलिपियां अथवा छायायें मात्र हैं। ईश्वर के द्वारा उत्पन्न की गई संवेदनायें अधिक व्यवस्थित; विविध और सतत होती हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी प्रतीतियाँ प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ अन्य चीजें हैं। ये भी प्रत्यय हैं। ये भी आत्मा या मन में ही रहते हैं। वे भी किसी न किसी आत्मा के संकल्प से परिचालित होते हैं। इस प्रकार बर्कले जगत् की यथार्थता से ईश्वर की यथार्थता सिद्ध करता है। जगत् हमारे अनुभव का विषय है और इस जगत से ही हमें यह बोध होता है कि ईश्वर जैसी परम आत्मा है जो कि मानवी मन में जगत् के प्रत्ययों को —न करता है।

स्पष्टतः बर्कले ने प्रत्यय और प्रतीती में भेद किया है। प्रतीतियाँ संवेदनाओं अपेक्षा क्षीण हुआ करती हैं। संवेदनाओं में सामंजस्य, व्यवस्था तथा स्थिरता

पाई जाती है, जबकि प्रतीतियाँ अव्यवस्थित तथा क्षणभंगुर होती हैं। इसके अतिरिक्त संवेदनाओं में बाध्यता होती है जिसके कारण हम चाहें या न चाहें, हमें उनकी ओर ध्यान देना पड़ता है। किन्तु प्रतीतियाँ हमारी इच्छाओं के अनुसार आती जाती रहती हैं। यह स्मरण रहे कि मनोविज्ञान के अनुसार, यह भेद सही नहीं दिखलाई पड़ता क्योंकि प्रतीतियों में भी इतनी सजीवता होती है कि वे संवेदनाओं के समान ही प्रबल समझी जाती हैं। भ्रम में भी प्रतीतियाँ देखने में आती हैं। वे हमारी इच्छाओं पर निर्भर नहीं रहतीं। फिर भी बर्कले ने जो प्रत्यय तथा प्रतीती का भेद माना है वह सारहीन नहीं है।

आक्षेपों का उत्तर (Objections Answered)

पूर्व विश्लेषण से स्पष्ट है कि बर्कले आत्मगत प्रत्ययवाद के सिद्धान्त की स्थापना करता है जिसका अर्थ है समस्त सत्ता आत्मा या मन पर आश्रित है। वह बाह्य वस्तुओं की सत्ता को बिना प्रत्यक्ष किये हुये स्वीकार नहीं करता। बर्कले के अनुसार ज्ञान से अलग कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। वह बाह्य पदार्थों को भी प्रत्यय मानता है। अतः केवल मन और उसके प्रत्यय ही यथार्थ सद्वस्तु हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सूर्य, चन्द्रमा, पहाड़, नदी, पेड़ और पत्थर की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है? क्या वे काल्पनिक हैं?

बर्कले कहता है कि 'नहीं'। उनकी सत्ता इसी अर्थ में है कि उनका प्रत्यक्ष किसी न किसी आत्मा द्वारा किया जाता है। वे इसी दृष्टि से यथार्थ हैं कि ईश्वर इन संवेदनों को नियमित रूप से हमारे मन में उत्पन्न करता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा देखे गये गुणों जैसे विस्तार, ठोसपन, वजन के संगठन को ही यदि पुद्गल कहा जाये तो वह भी यथार्थ है। यदि पुद्गल या द्रव्य को गुणों का आधार माना जाये तो उसका अस्तित्व असंभव है। कल्पना में भी उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। यथार्थ वस्तुओं की सत्ता केवल प्रत्ययों के रूप में ही है। क्या इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि हम प्रत्ययों को खाते और उन्हीं को पीते हैं? निश्चय ही जो इन्द्रियों के तात्त्विक विषय हैं आदमी उन्हीं के प्रत्ययों से ओत-प्रोत रहता है। उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि मन द्वारा प्रत्यक्ष किये बिना ही उनकी सत्ता है। बर्कले के अनुसार, हम इन्द्रियों के प्रत्यक्ष विषयों को ही खाते पीते हैं जिनकी सत्ता मन के प्रत्यक्ष के बिना नहीं हो सकती। वस्तुएँ प्रत्ययों के रूप में ही विद्यमान हैं, पर उन्हें, प्रत्यय न कहकर वस्तुएँ कहना ही अधिक उपयुक्त है। यदि हम वस्तुओं को अपने से पृथक् कहीं दूर विद्यमान रहने की बात सोचें तो यह दोषपूर्ण होगा। उनकी सत्ता हमारी दृष्टि में ही है।

क्या फिर प्रत्ययों का उस समय विलोप नहीं हो जाता जब हम अपनी आखें बन्द कर लेते हैं? यहाँ बर्कले का कहना है कि जब कोई आदमी अपनी आँखें बन्द कर लेता है तो निश्चय ही वस्तुओं का अस्तित्व निरन्तर बना रहता है। वह भी केवल

इस अर्थ में कि उनका प्रत्यक्ष अन्य मन या आत्मा द्वारा होता रहता है जिसमें दैवी मन भी सम्मिलित है। यथार्थ वस्तुओं की प्रत्ययों के रूप में सत्ता निरन्तर इस अर्थ में बनी रहती है कि वे किसी न किसी मन पर निर्भर हैं। इस प्रकार बर्कले बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व की निरन्तरता स्वीकार करता है, पर वे मन से स्वतन्त्र नहीं हैं।

किसी ने एक और प्रश्न किया कि क्या यह कहना निरर्थक न होगा कि अग्नि के बजाय आत्मा ही गर्मी उत्पन्न करती है? यहाँ बर्कले का उत्तर है कि ऐसे मामलों में "हमें विद्वानों के साथ चिन्तन करना चाहिए और मूढ़ों के साथ जनसाधारण की भाषा में बातचीत ही करनी चाहिए।" अन्य शब्दों में, बर्कले केवल आध्यात्मिक द्रव्य की सत्ता को ही स्वीकार करता है। मन या आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद है और लॉक के प्रमुख गुणों की सत्ता भी मन पर ही आश्रित है। अतः उनके लिए अज्ञात भौतिक द्रव्य को मानना निरर्थक है। बर्कले का यही कहना है कि (i) मन से पृथक् हमारे विचारों, भावनाओं और प्रतिमाओं का कोई अस्तित्व नहीं है; (ii) ज्ञाता (Knower) के बाहर अथवा स्वतन्त्र प्रत्ययों का कोई भी अस्तित्व नहीं है, और (iii) किसी भी ऐसी वस्तु की चर्चा करना व्यर्थ है जिसका प्रत्यक्ष से कोई सम्बन्ध न हो। अतः दृष्टि ही सृष्टि है जिसे बर्कले सर्वत्र लागू करने का प्रयास करता है।

प्रत्ययों, आत्माओं तथा सम्बन्धों का ज्ञान (Knowledge of Ideas, Spirits and Relations)

आत्मा सक्रिय अविभाज्य द्रव्य है। प्रत्यय जड़, निष्क्रिय हैं। प्रत्यय आश्रित वस्तुएँ हैं। उनकी सत्ता स्वतः नहीं है, वरन् आध्यात्मिक द्रव्यों पर निर्भर है। अपने अस्तित्व को हम आन्तरिक चिन्तन अथवा अनुभूति द्वारा जान लेते हैं और अन्य आत्माओं की सत्ता को बुद्धि से। वस्तुतः आत्माओं के प्रत्यय नहीं होते, बल्कि उनके बोध होते हैं। इसी तरह वस्तुओं के बीच सम्बन्धों का बोध होता है। ये सम्बन्ध सम्बन्धित प्रत्ययों अथवा वस्तुओं से अलग होते हैं क्योंकि हम सम्बन्धों को न जानते हुए भी सम्बन्धित वस्तुओं को देख सकते हैं। बर्कले यह मानता है कि प्रत्यय, आत्मा तथा सम्बन्ध मानवीय ज्ञान के विषय हैं जिनके बारे में वाद-विवाद किया जा सकता है। प्रत्यय को हरेक ज्ञेय वस्तु या उसकी धारणा के अर्थ में लेना अनुचित है। इन्द्रियों पर अंकित प्रत्यय यथार्थ वस्तुएँ हैं और उनकी सत्ता है। परन्तु वे प्रारूप के प्रतिरूप नहीं हैं। मन में उत्पन्न न होने से उन्हें बाह्य कहा जा सकता है क्योंकि वे उस आत्मा द्वारा अंकित होते हैं जो उनका प्रत्यक्ष करने वाली आत्मा से भिन्न होती है। अनुभूति योग्य पदार्थों को भी इस अर्थ में मन के बाहर माना जा सकता है कि जब मैं अपनी आँखें बन्द कर लेता हूँ वस्तुओं की सत्ता तब भी रहती है। किन्तु उन्हें किसी अन्य में विद्यमान होना चाहिए।

द्वैतवाद, नास्तिकवाद तथा सन्देहवाद का खण्डन (Refutation of Dualism, Atheism and Skepticism)

अपने आत्मगत प्रत्ययवाद के सिद्धान्त को लेकर, बर्कले कई गम्भीर निष्कर्षों पर पहुँचता है। वह भौतिकवाद, द्वैतवाद, नास्तिकवाद तथा सन्देहवाद को स्वीकार नहीं करता है। द्वैतवाद सन्देहवाद की जड़ है और पुद्गल भौतिकवाद का आधार है। अपने प्रत्ययवाद में बर्कले दोनों का खण्डन करता है। वह वस्तुओं तथा उनके प्रत्ययों के द्वैत को समाप्त कर देता है क्योंकि यथार्थ वस्तुओं का नाम ही प्रत्यय है जो मन पर आश्रित हैं। भौतिकवाद अथवा नास्तिकवाद का सबल कारण स्वतंत्र पुद्गल की धारणा को मानता है। उसको यदि न माना जाये तो कोई अड़चन उत्पन्न नहीं होती। यदि स्वतः सत्ताधारी जड़ द्रव्य ही सब वस्तुओं का मूल मान लिया जाये तो हम वस्तुओं के निर्माण में स्वतन्त्रता अथवा चेतनता का कोई स्थान नहीं दे सकते। पुद्गल की स्वतन्त्र सत्ता न मानने से भौतिकवाद का समूचा महल अपने आप ढ़ह जाता है। पुद्गल को न मानने से मूर्तिपूजा भी समाप्त हो जाती है क्योंकि यदि इन्द्रियों के विषय मन के अनेक संवेदन हैं तो मनुष्य अपने प्रत्ययों की पूजा नहीं कर सकते। द्रव्य रूपी पुद्गल की अमान्यता स्पष्ट है क्योंकि लॉक उसे अज्ञात आधार मानता है और जो अज्ञात है उसे ज्ञात वस्तुओं की स्थितियों में लाकर रखना न्यायसंगत नहीं लगता है।

द्रव्य के विषय में भ्रम का दूसरा कारण अमूर्त प्रत्ययों की धारणा है। बर्कले के अनुसार यह मानना दोषपूर्ण है कि मन में अमूर्तिकरण की क्षमता है। काल, आकाश, गति आदि को विशेष तथा वास्तविक भाव से हरेक मनुष्य जानता है। किन्तु तत्वज्ञानियों के हाथों में पड़कर वे इतने अमूर्त बन जाते हैं कि जनसाधारण उन्हें नहीं समझ सकते। मन में प्रत्ययों के अनुक्रमण के अतिरिक्त काल और कुछ नहीं है। अतः किसी ससीम आत्मा की अवधि का अनुमान उसी आत्मा में अनुक्रमणित होने वाले प्रत्ययों से किया जा सकता है। इससे स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि आत्मा में सदा विचार होते हैं। जहाँ विस्तार होता है वहाँ रंग भी होता है और वह भी मन या आत्मा में। उनके प्रारूपों की सत्ता केवल किसी अन्य मन में ही हो सकती है। उन्हीं संवेदनों का मिश्रण और एक साथ मूर्त हो जाना ही मन का विषय है। मन द्वारा प्रत्यक्ष के बिना उनमें से किसी की भी सत्ता नहीं हो सकती। हम वस्तुओं से अलग विशुद्ध आकाश का प्रत्यय नहीं बना सकते। विशुद्ध आकाश से तात्पर्य यही है कि मैं अपने शारीरिक अंगों को कम से कम रुकावट के साथ सब ओर घुमा-फिरा सकता हूँ।

बर्कले के अनुसार, मन से स्वतन्त्र प्राकृतिक नियमों की सत्ता में विश्वास करना अथवा उनको मूल कारण मानना निरर्थक है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य

कोई निमित्त कारण या माध्यम नहीं है। गति तथा अन्य प्रत्यय पूर्णतः जड़ हैं। आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त की बड़ी चर्चा की जाती है। इस सिद्धान्त का कार्य (Effect) के अलावा और कोई अर्थ नहीं है। कुछ लोग सार्वभौम गुरुत्वाकर्षण की भी बात करते हैं जिसके अनुसार, वस्तुओं में ऐसा गुण निहित है जो वस्तुओं को परस्पर एक दूसरे की ओर आकर्षित करता है। इस सिद्धान्त में कोई नवीन बात नहीं है। यह संचालन करने वाली आत्मा के संकल्प पर निर्भर करता है जो विभिन्न नियमों के अनुसार वस्तुओं को एक दूसरे की ओर उन्मुख बनाती है। अतः आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य प्राकृतिक निमित्त कारण की खोज करना व्यर्थ है। दार्शनिकों को लक्ष्यात्मक कारणों की खोज करनी चाहिये। यदि जगत् का संचालन अच्छा है तो यह ईश्वर की उदारता तथा कृपालुता का सूचक है। प्रकृति का सृष्टिकर्ता अपने नियमों को व्यवस्थित ढंग से चलाता है। नैतिक व्यवस्था के नियम उसी तरह प्रदर्शनात्मक हैं जिस तरह रेखागणित के नियम होते हैं। नैतिक नियमों का पालन करना मानव प्राणियों के हित में है। संक्षेप में, समस्त दृष्टि एक बुद्धिमान तथा शुभ परमात्मा की रचना है जो जगत् के विभिन्न वस्तुओं के मूल में लक्ष्यों का निर्धारण-कर्ता है। ईश्वर के अभाव में प्रकृति में कोई व्यवस्था, विभिन्न घटनाओं में कोई तारतम्य नहीं रहता और वास्तव में, बर्कले यही सिद्ध करना चाहता है।

सारांशतः बर्कले के अनुसार, हमारे अनुभव की व्याख्या करने के लिए किसी बाह्य भौतिक द्रव्य को मानने की आवश्यकता नहीं है। मानवी अनुभव की व्याख्या ईश्वर अथवा आध्यात्मिक द्रव्य से भी की जा सकती है। हम जो कुछ जानते हैं वे विभिन्न प्रत्यय ही हैं। ये प्रत्यय किसी न किसी मन में रहते हैं और संवेदनाओं के प्रत्यय हमारे अपने बनाये हुए नहीं होते और न हमारे अधिकार में ही हैं कि हम उनका निर्माण कर सकें। अतः अवश्य ही ये प्रत्यय परमात्मा या ईश्वर के मन में विद्यमान होते हैं। इसी कारण वे हमारे अन्दर बाहर से ही आते हैं जिन पर हमारा निजी अधिकार संभव नहीं हो सकता। इस प्रकार बर्कले जड़ पदार्थ का खण्डन करके उसके स्थान पर ईश्वर की स्थापना करता है और द्वैतवाद, नास्तिकवाद तथा सन्देहवाद जैसे विचारों को वह अपने दर्शन में कतई महत्व नहीं देता।

—

12

डेविड ह्यूम

(David Hume:1717–1786)

डेविड ह्यूम का जन्म इंगलैण्ड के एडिनबरा नामक स्थान में हुआ। बचपन में ही उसके पिता का देहांत हो गया और उसकी माँ उसे अच्छा लालन-पालन न दे सकी। अतः उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ह्यूम ने कानून की शिक्षा प्राप्त की, पर उसमें उसकी रुचि न थी। उसे व्यापार में लगाने का प्रयत्न किया गया। उसमें भी वह असफल रहा। दर्शन एवं साहित्य में उसकी विशेष प्रवृत्ति थी जिसके लिए ह्यूम ने फ्रांस में तीन वर्ष गहन अध्ययन किया। सन् 1737 में वह लन्दन वापिस आया जहाँ अगले वर्ष 'मानव-प्रकृति' (ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन नेचर) नामक ग्रन्थ प्रकाशित करवाया। वह ग्रन्थ लोगों को इतना रूखा लगा कि किसी ने उसकी परवाह न की। एडिनबरा में वह एक पुस्तकालय का अध्यक्ष रहा जिससे उसे अध्ययन का और अवसर मिला। फलतः उसने 'इंगलैण्ड का इतिहास' (हिस्ट्री ऑफ इंगलैण्ड) नामक ग्रन्थ भी लिखा। ह्यूम की ख्याति उसके जीवन काल में दार्शनिक की भांति न रहकर एक इतिहासकार के रूप में हुई। किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी ख्याति इतिहासकार की भांति न रहकर एक महान् दार्शनिक के रूप में हो गई। एडिनबरा विश्वविद्यालय में उसे प्रोफेसर का पद इसलिए नहीं मिला कि उसे 'सन्देहवादी' समझा जाता था और इसलिए वह लोगों के आदर का पात्र भी न रहा।

लॉक तथा वर्कले ने अपने दार्शनिक विचारों के रूप में ह्यूम के समक्ष विचित्र समस्या पैदा कर दी। लॉक ने कहा कि हमें अपने प्रत्ययों का ही निश्चित ज्ञान होता है। ईश्वर तथा नैतिकता का प्रदर्शनात्मक ज्ञान (Demonstrative Knowledge) भी प्राप्त होता है। व्यावहारिक रूप से बाह्य वस्तुओं का ज्ञान भी होता है। ये बाह्य वस्तुएँ मन से स्वतन्त्र हैं। उनकी सत्ता मन पर आश्रित नहीं है। वर्कले ने

बाह्य वस्तुओं अथवा भौतिक पदार्थों के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया और ज्ञान को प्रत्ययों, सम्बन्धों तथा आध्यात्मिक सत्ताओं तक सीमित बना दिया। बर्कले ने स्वतन्त्र भौतिक द्रव्य न मानकर केवल आध्यात्मिक द्रव्य को ही स्वीकार किया। उसका तर्क यह था कि जब भौतिक द्रव्य अज्ञात है और उसका कोई संवेदन नहीं होता है तो उसे मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो प्रत्यक्ष या संवेदन का विषय नहीं है उसकी सत्ता होना भी असंभव है। किन्तु बर्कले आध्यात्मिक द्रव्य को तो मान लेता है जो ज्ञाता के रूप में विद्यमान है। ह्यूम भी ज्ञान के अनुभववादी मत को मानता है, पर वह अपने ही प्रकार के निष्कर्षों को अवतरित करता है। उसने कहा कि यदि हम केवल संवेदनों को ही जान पाते हैं और हमारा ज्ञान उन्हीं तक सीमित है तो हमें किसी भी द्रव्य, भौतिक अथवा आध्यात्मिक, को नहीं मानना चाहिए। उनके संवेदन ही नहीं होते तो उनकी सत्ता क्यों स्वीकार की जाये?

ज्ञान की उत्पत्ति (Origin of Knowledge)

ह्यूम के अनुसार, हमारे चिन्तन की समस्त सामग्री बाह्य तथा आंतरिक संवेदनों (Impressions) से प्राप्त होती है। संवेदनों से उसका अभिप्राय अधिक स्पष्ट सजीव प्रत्यक्षों से है। जब हम देखते, सुनते, स्पर्श, घृणा तथा प्रेम करते हैं तो मन में प्रथम बार जो तात्कालिक (Immediate) प्रभाव होते हैं वे संवेदन, भाव तथा भावनाएँ हैं। हमारे समस्त विचार अथवा प्रत्यय इन्हीं संवेदनों की प्रतियाँ हैं। ये प्रतियां कम सजीव तथा कम स्पष्ट प्रत्यक्ष हैं जिनका बोध हमें तभी होता है जब हम किसी संवेदन पर विमर्श करते हैं। उनको हम स्मृति द्वारा चिन्तन में ला सकते हैं। बाह्य संवेदन मन या आत्मा में अज्ञात कारणों से उत्पन्न होते हैं। आन्तरिक संवेदन स्वयं हमारे प्रत्ययों द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं। जब कोई संवेदन इन्द्रिय पर आघात करता है तब हम ताप, ठण्डक, सुख या दुःख का प्रत्यक्ष करते हैं। संवेदनों की प्रतियाँ रह जाती हैं जिन्हें प्रत्यय कहते हैं। सुख या दुःख का अवशेष प्रत्यय नये संवेदन उत्पन्न करता है जैसे इच्छा तथा द्वेष, आशा एवं भय जो कि आंतरिक चिन्तन के संवेदन हैं। स्मृति तथा कल्पना में इनकी पुनः नकल होती है। इन्हीं संवेदनों से समस्त ज्ञान प्राप्त होता है। अनुभव तथा इन्द्रियों द्वारा जो सामग्री प्रस्तुत होती है उसके संगठन, विस्तार, घटाने या बढ़ाने से ज्ञान बनता है। विश्लेषण करने से पता लगता है कि हम जिस प्रत्यय की परीक्षा करते हैं वह इन्हीं संवेदनों की नकल होता है। जहाँ संवेदन नहीं वहाँ प्रत्यय भी नहीं हो सकते। अन्धे को रंग तथा बहरे को शब्द की धारणा नहीं हो सकती। अतः हम जब भी दार्शनिक शब्दों की परीक्षा करें तो हमें सदा यह पूछना चाहिए कि कथित प्रत्यय किन संवेदनों से प्राप्त किये गये हैं।

प्रत्यय अव्यवस्थित नहीं होते। उनमें एक नियमावस्था होती है। उनमें पारस्परिक एकता भी पाई जाती है। एक प्रत्यय के बाद दूसरा प्रत्यय आता है। वे

संयोगवश ही जुड़े हुए नहीं होते। किसी चित्र को देखने पर हमें मूल दृश्य याद हो आता है। यह सादृश्यानुमान (Analogy) है। मकान का एक कमरा पास वाले कमरे का संकेत देता है। यह सामीप्य है। घाव के साथ दुःख का ख्याल आता है। यह कारण तथा कार्य कहलाता है। इन सबको ह्यूम प्रत्ययों का साहचर्य (Association of Ideas) कहता है। साहचर्य के नियम हैं—सादृश्य, दिक् तथा काल में सामीप्यता (Contiguity) और कारण–कार्य का सम्बन्ध। समान प्रत्यय समान प्रत्ययों के साथ ही सम्बन्धित हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार, प्रत्ययों के साहचर्य या मिश्रण से हमारे सारे जटिल प्रत्यय बनते हैं।

स्पष्टतः ह्यूम के अनुसार, प्रत्यक्ष मन का विषय है। मन में दो प्रकार के विषय पाये जाते हैं। कुछ ऐसे विषय हैं जो बड़े सजीव तथा सबल रूप में होते हैं जिन्हें ह्यूम ने प्रभाव (Impressions) कहा है। ये स्पष्ट संवेदन हैं। अन्य विषय प्रत्यय हैं जो इन्हीं प्रभाव या संवेदनों की अस्पष्ट प्रतियाँ हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रत्यय संवेदन की प्रतिलिपि है। इन प्रभावों अथवा संवेदनों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—सरल संवेदन और जटिल संवेदन। मनुष्य का समस्त अनुभव सरल संवेदनों से बनता है और जटिल संवेदन सरल संवेदनों के योग से बनते हैं। अतः मानवी मन में इन प्रत्यक्षों के अलावा अन्य कुछ नहीं होता और इस प्रकार आदमी अपने अनुभव से बाहर नहीं जा सकता। संक्षेप में, विभिन्न संवेदनों से ही ज्ञान की उत्पत्ति एवं निर्माण होता है।

कारण–कार्य का सम्बन्ध (Relation of Cause and Effect)

तथ्यों के विषय में समस्त चिन्तन कारण–कार्य सम्बन्ध पर निर्भर है। हम सदैव वर्तमान तथा अन्य तथ्यों में सम्बन्ध ढूंढ़ते हैं। कहीं दूर रेगिस्तान में घड़ी मिलने पर यह अनुमान लगाते हैं कि वहाँ कभी आदमी की उपस्थिति रही होगी। कारण-कार्य की धारणा पर ही समस्त मानव चिन्तन और व्यवहार निर्भर है। ह्यूम इसी समस्या का समाधान ढूंढ़ निकालना चाहता है। वह यह जानने का इच्छुक है कि क्या कोई वास्तव में कारण-कार्य का नियम है अथवा नहीं।

ह्यूम के अनुसार, कारण–कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान हमें पूर्वानुभूत चिंतन से नहीं मिलता। किसी आदमी ने अनुभव के पूर्व यह कभी नहीं सोचा होगा कि अग्नि उसे जलाकर भस्म कर देगी। मन अनुमानित कारण से कार्य का अवतरण नहीं कर सकता क्योंकि कार्य कारण से बिल्कुल भिन्न होता है। कार्य को कारण में नहीं ढूँढ़ा जा सकता। यह प्रदर्शित नहीं किया जा सकता कि अमुक कारण का सदैव अमुक कार्य ही होगा अथवा एक ही कारण से सदैव एक ही कार्य उत्पन्न होना चाहिये। गणित की मान्यताओं की भाँति हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि अग्नि ताप उत्पन्न करती है और रोटी भूख मिटाती है। रोटी तथा भूख मिटने में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। यह बात नहीं है कि एक ही धारणा दूसरे में आवश्यक रूप से निहित हो। यदि उनमें अनिवार्य सम्बन्ध होता तो अनुभव के बिना ही कारण

से कार्यों का अनुमान लगाया जा सकता था। यह मानने में कोई तार्किक विरोध नहीं है कि अग्नि ताप पैदा नहीं करेगी, रोटी भूख नहीं मिटायेगी आदि।

कारण-कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान निरीक्षण तथा अनुभव पर निर्भर है। हम यह देखते हैं कि एक वस्तु दूसरे के बाद आती है। अग्नि से ताप निकलता है। ठण्डक से सर्दी उत्पन्न होती है। इस प्रकार के अनेक उदाहरणों में हम दो वस्तुओं को साथ-साथ जुड़ा पाते हैं जिससे यह अनुमान लगा लेते हैं कि उन दोनों में कारण-कार्य का सम्बन्ध है। एक दूसरे का कारण है। एक के उपस्थित होने पर दूसरे का ध्यान आ जाता है। मन आदत तथा परम्परा के आधार पर यह विश्वास कर लेता है कि दोनों वस्तुएँ परस्पर सम्बन्धित हैं। यह मान बैठता है कि दोनों सदैव एक साथ रहेंगी। दो वस्तुओं के निरन्तर साथ-साथ रहने से जैसे अग्नि तथा ताप, वजन एवं ठोसपन, आदतन मन यह आशा करता है कि एक के होने पर दूसरी बात अवश्य होगी। वस्तुओं के सदा एक साथ होने का अनुभव हमारे मन में यह अनुमान उत्पन्न करता है कि उनमें नित्य सम्बन्ध है। यह विश्वास मन की एक क्रिया है। यह इतनी स्वाभाविक है कि आदमी इसका परित्याग नहीं कर सकता। यह क्रिया भावना के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

इसलिए ह्यूम की दृष्टि से, कारण की यह परिभाषा दी जा सकती है कि कारण वह वस्तु है जो दूसरी वस्तु से अनुसरित होता है और जिसकी उपस्थिति सदा उस दूसरी वस्तु का विचार उत्पन्न करती है। कुछ तत्त्वज्ञानी इस परिभाषा से संतुष्ट नहीं होते। उन्हें उसमें कोई कमी प्रतीत होती है। उनके लिए कारण वह है जो दूसरी वस्तु को उत्पन्न करता है। कारण में कुछ ऐसी रहस्यमय शक्ति है जिससे वह कार्य की उत्पत्ति करने में समर्थ होता है। कारण तथा कार्य को एक सूत्र में बांधने वाली शक्ति का हम ज्ञान कर लें तो हम बिना अनुभव को भी कार्य का पूर्व-दर्शन कर सकते हैं और केवल चिन्तन या तर्क के आधार पर कुछ निश्चित बात कह सकते हैं।

किन्तु शक्ति, अनिवार्य (व्याप्ति) सम्बन्ध, आदि शब्दों का अर्थ क्या है? उन्हें प्रयोग करने का हमें क्या अधिकार है? ह्यूम का कहना है कि हमें शक्ति अथवा अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय का विश्लेषण करना चाहिए। वह कौनसा संवेदन है जिस पर इनका प्रत्यय आश्रित है? हम उसे किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः हमें इस प्रकार का कोई संवेदन अनुभव में नहीं मिलता जिससे शक्ति या अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय प्राप्त हो जाये। हम केवल यही देखते हैं कि एक वस्तु दूसरी की साथ आती-जाती है। वस्तु की प्रथम प्रतीति से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि उसका परिणाम क्या होगा? विश्व को संचालित करने वाली शक्ति हमसे सर्वथा छिपी है। हम जानते हैं कि अग्नि में ताप होती है। किन्तु उनमें क्या

अनिवार्य सम्बन्ध है, इसे हम नहीं जानते। मन की क्रियाओं पर विमर्श करके भी हम शक्ति का प्रत्यय नहीं बना सकते। एक संकल्प हमारे शरीर में गति लाता है अर्थात् अमुक भावना के साथ ही अमुक शारीरिक परिवर्तन होता है। किन्तु उनमें कारण-कार्य का अनिवार्य सम्बन्ध क्या है यह हम बिल्कुल नहीं जान पाते। संकल्प के इस प्रभाव को चेतनता द्वारा जानते हैं और उसी से यह विश्वास कर लेते हैं कि अन्य आदमियों में भी प्रभाव है। इसी अर्थ में शक्ति का प्रत्यय होता है और हम विश्वास कर लेते हैं कि वह हम और सभी समझदार सत्ताओं में विद्यमान है।

ह्यूम कहता है कि हमें इस दृष्टिकोण की परीक्षा करनी चाहिए। यह ठीक है कि हम अपनी इच्छा से शरीर के विभिन्न अंगों को प्रभावित करते हैं। किन्तु ऐसा किन साधनों से होता है इसका हमें बोध नहीं होता। हमारी इच्छा जिस शक्ति से ऐसा करती है उसका हमें कभी संवेदन नहीं होता। हम केवल यही देखते हैं कि एक वस्तु दूसरी के बाद आती है। अनुभव हमें यह नहीं बतला पाता कि संकल्प और उसकी क्रिया को एक सूत्र में बांधने वाला रहस्य क्या है जिससे वे एक दूसरे से अपृथक हैं। शरीर और मन का सम्बन्ध एक रहस्य है। यहाँ हम कारण से उनके कार्य का सम्बन्ध नहीं जानते। हमें उस शक्ति का स्पन्दन नहीं होता जो कारण से उसके कार्य को सम्बन्धित करता है और एक दूसरे का अटल परिणाम बना देता है। हमारा संकल्प हमारे चिंतन का, जिसकी शक्ति द्वारा आत्मा प्रत्ययों को उत्पन्न करती है, नियंत्रण कैसे करता है, यह जान सकना भी असंभव है। हम किसी ऐसी शक्ति को नहीं देख पाते। हम यही जानते हैं कि हमारा संकल्प किसी प्रत्यय को आदेश देता है और क्रिया होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण का अर्थ यही है कि हम कोई शक्ति अथवा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं खोज पाते। केवल घटनाओं को एक दूसरे के बाद होते देखते हैं। यही बात प्राकृतिक घटनाओं के विषय में कही जा सकती है। एक के बाद दूसरी घटना होती है किन्तु हम उनके अनिवार्य सम्बन्ध को नहीं देख पाते। प्राकृतिक घटनाएं साथ-साथ मिली हुई सी दिखाई देती हैं, सम्बन्धित नहीं। उनके बीच किसी शक्ति, सम्बन्ध या बन्धन का अनुभव हमें नहीं होता। न उनका हमें कोई संवेदन ही होता है। अतः हमें उनका कोई प्रत्यय भी नहीं हो सकता। जिसका प्रत्यय नहीं है उसका ज्ञान असंभव है। मन केवल आदत के प्रभाव में आकर अनिवार्य सम्बन्ध ढूँढ़ने का प्रयास करता है। कारण-कार्य का विचार आदत या भावना का परिणाम है। वस्तुतः उनका अनिवार्य सम्बन्ध अज्ञात है।

इसलिए ह्यूम की दृष्टि में, वस्तुओं में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता, चा वह मानवी जगत् में हों अथवा प्राकृतिक दुनिया में। हमारे मन में साहचर्य के निय-

मानुसार प्रत्ययों का सम्बन्ध दिखलाई देता है। यह साहचर्य पुनरावृत्ति (Repetition), रीति-रिवाज (Customs) अथवा आदत (Habits) का परिणाम है। जब दो प्रत्यय साथ-साथ मिलते हैं अथवा एक दूसरे के साथ अनेक बार आ चुके होते हैं तो एक स्वयं प्रकट होने पर दूसरे का संकेत करता है। यह तार्किक अनिवार्यता नहीं है, बल्कि अनुभव पर आधारित मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता ही है। समस्त पशुओं, बच्चों, मनुष्यों और दार्शनिकों में यह व्यापार मिलता है।

दार्शनिकों द्वारा निर्मित दूसरी धारणा द्रव्य की है। हम रंग, शब्द, आकृति तथा वस्तुओं के अन्य गुणों को देखते हैं जिनका अस्तित्व अपने आप में न हो सकने से उनके अस्तित्व के आधार का कोई विषय खोजते हैं। इससे हम कल्पना में ऐसी अदृश्य तथा अज्ञेय वस्तु की धारणा बना लेते हैं जो सभी विविधताओं में समान रहे। लॉक ने इस अज्ञेय आधार को द्रव्य कहा। उस पर आश्रित गुणों को संयोग कहते हैं। कुछ दार्शनिक आधिदैविक गुणों और द्रव्यात्मक रूपों को भी मानते हैं। किन्तु ह्यूम इन सब बातों को कल्पित मानता है। हमें प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी चीज का पूर्ण प्रत्यय नहीं होता। द्रव्य प्रत्यक्ष से बिल्कुल भिन्न है। अतः हमें द्रव्य का भी प्रत्यय नहीं होता। प्रत्येक गुण हरेक दूसरी चीज से पृथक् होने से हरेक गुण से ही अलग नहीं वरन् उस अदृश्य द्रव्य से भी अपनी पृथक् सत्ता रख सकता है।

स्पष्टतः कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध को ज्ञान तक पहुंचने के लिए, सामान्यतः दार्शनिक अनुभवपूर्व तर्क, प्रदर्शन और निरीक्षण एवं अनुभव का सहारा लेते हैं। ह्यूम इन युक्तियों को स्वीकार नहीं करता और कहता है कि कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध का हमें कोई संवेदन नहीं होता है। अतः उसके अनुसार—

(i) इन्द्रियानुभव कार्य-कारण के अनिवार्य सम्बन्ध को सिद्ध नहीं करता।
(ii) कार्य-कारण की अनिवार्यता आन्तरिक अनुभव अथवा चिन्तन से भी सिद्ध नहीं होती।
(iii) कारण-कार्य का सम्बन्ध मानवी आदतों तथा प्रथाओं का परिणाम है। उनका अनिवार्य सम्बन्ध हमारे विश्वास पर आधारित है, न कि किसी अनुभवात्मक ज्ञान पर।

ज्ञान की प्रामाणिकता (Validity of Knowledge)

पूर्व विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हमारे समस्त प्रत्यय संवेदनों की प्रतियाँ मात्र हैं अर्थात् समस्त ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्रामाणिकता क्या है? उसके साक्ष्य की प्रकृति क्या है? ह्यूम ज्ञान के समस्त विषयों को दो भागों में विभाजित करता है—प्रत्ययों के सम्बन्ध का ज्ञान और तथ्यों का ज्ञान। ज्ञान के प्रथम विषय ज्योमेट्री, एलजब्रा तथा गणित के सत्य हैं। अर्थात्

आन्तरिक रूप अथवा प्रदर्शनात्मक ढंग से प्रत्येक स्वीकारोक्ति इसमें आती है। त्रिभुज दो समकोणों का योग ही बतलाता है। दो-दो मिलकर चार होते हैं। यह दो संख्याओं का सम्बन्ध है। ऐसे युक्तिवाक्यों को हम केवल चिन्तन द्वारा ही खोजते हैं चाहे जगत में उनका अस्तित्व हो या न हो। किन्तु प्रकृति में वृत्त या त्रिभुज नहीं होता तो भी यूक्लिड द्वारा प्रदर्शित सत्य सदैव निश्चित तथा स्वयंसिद्ध रहते हैं क्योंकि वे नये तथ्य न होकर विभिन्न प्रत्ययों के सम्बन्ध मात्र हैं।

तथ्यों के सम्बन्ध में प्रामाणिकता, जो संवेदन या स्मृति के प्रमाण से परे है, कारण-कार्य की अनिवार्यता से अवतरित की जाती है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं कारण-कार्य की अनिवार्यता का ज्ञान हमें शुद्ध अनुभव से नहीं होता, पर वस्तुओं का एक साथ प्रत्यक्ष करने से उनमें किसी अनिवार्य सम्बन्ध को समझ बैठना आदत है। आदत प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति भ्रामक हो सकती है। तथ्यों के विषय की प्रामाणिकता वैसी नहीं होती जैसा कि गणित में होती है। तथ्य का कोई विपरीत तथ्य होना असंभव है क्योंकि उसमें कोई विरोध निहित नहीं होता। कल सूर्य नहीं निकलेगा इसका इस बात से कोई विरोध नहीं है कि सूर्य निकलेगा। यहाँ पर हमारा अभिप्राय निश्चित स्वयंसिद्धि ज्ञान से नहीं है वरन् सम्भाव्यता (Probability) से है।

ह्यूम के अनुसार, हमें द्रव्यों का कोई संवेदन नहीं होता और उनका प्रत्यय होना भी असंभव है। किन्तु प्रश्न उठता है कि जब कारण के विषय में कल्पना पर विश्वास किया जाता है तो द्रव्य के बारे में क्यों नहीं किया जाये? ह्यूम का कहना है कि हमें उन सिद्धांतों में जो स्थाई तथा सार्वभौम हैं जैसे कारण से कार्य की ओर संक्रमण करने की आदत और उन सिद्धांतों में जो परिवर्तनशील, क्षीण तथा अनियमित हैं जैसे द्रव्य, द्रव्यात्मक रूप, संयोग तथा आधिदैविक गुणों को मानना, भेद करना चाहिये। हमारी समस्त क्रियाएँ और विचार पहली तरह के सिद्धांतों पर निर्भर हैं। उनको हटाने से मानवी प्रकृति ही नष्ट हो जायेगी। बाद के सिद्धांत न तो मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं और न ही दैनिक जीवन में उनकी कोई आवश्यकता है।

ह्यूम के अनुसार, गणितादि में मूल परिभाषाओं के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनके मिथ्या होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे अनिवार्य रूप से सही होते हैं क्योंकि वे तथ्य नहीं होते बल्कि विभिन्न प्रत्ययों के सम्बन्ध मात्र होते हैं। किन्तु तथ्यों के विषय में निरपेक्ष, स्वयंसिद्ध तथा निश्चित ज्ञान संभव नहीं है। यहाँ हमारा ज्ञान निरपेक्ष निश्चितता तक नहीं पहुँच सकता और हमारे जितने भी निष्कर्ष हैं वे अनुभव पर आधारित हैं। हम यह विश्वास कर लेते हैं कि भविष्य में वैसा ही होगा जैसा कि भूतकाल में हुआ है। किन्तु इसकी गणित जैसी निश्चितता

नहीं है। फिर भी यदि यह विश्वास न किया जाये कि प्रकृति नियमित तथा एकरूप है तो मानव जीवन असंभव हो जायेगा। ह्यूम के इस विश्लेपण के अनुसार जो यथार्थ है वह अनिवार्य नहीं है और जो अनिवार्य है वह यथार्थ नहीं है। संक्षेप में, द्रव्य का दार्शनिक ज्ञान असंभव है क्योंकि उसमें एक ही साथ अनिवार्यता और यथार्थता का दावा किया जाता है।

इस प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में ह्यूम केवल संदेहवादी (Sceptic) ही नहीं बल्कि अज्ञेयवादी (Agnostic) भी सिद्ध होता है। उसका कहना है कि यद्यपि सन्देहवाद से कोई भला नहीं होगा, पर दैनिक व्यवहार समस्त सन्देहवादी विचार रूपी रोगों का एकमात्र उपचार है। अन्य शब्दों में, व्यवहार में हम जानते हैं कि विभिन्न वस्तुओं में कार्य-कारण सम्बन्ध होते हैं। उनमें प्रयोजन और व्यवस्था होती है। परन्तु इन सबको बुद्धि के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास निरर्थक है।

द्रव्यों की अस्वीकृति (Denial of Substances)

ह्यूम, लॉक तथा बर्कले के अनुभववादी विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् अनुभववाद को सन्देहवाद के गर्त में ले जाता है। सन्देहवाद से अभिप्राय यह है कि परम तत्त्वों के विषय में निश्चित ज्ञान की उपलब्धि अलंभव है। किसी भी तत्त्व का सही-सही ज्ञान संभव नहीं है। अपनी दार्शनिक मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए ह्यूम भौतिक तथा आत्मिक दोनों द्रव्यों को अस्वीकार कर देता है क्योंकि जिनका हमें कोई संवेदन नहीं होता उनका अस्तित्व कैसे संभव होगा? यदि उनका अस्तित्व है भी तो उनके यथार्थ स्वरूप को जानना मुश्किल है। इस प्रकार ह्यूम किसी भी प्रकार के द्रव्य के ज्ञान को असंभव बतलाता है।

(1) भौतिक द्रव्य (Material Substance)—ह्यूम के अनुसार, इन्द्रियों की प्रामाणिकता को केवल चुपचाप स्वीकार नहीं कर लेना चाहिये। उनकी प्रामाणिकता को तर्क द्वारा ठीक करना चाहिए। हम अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण इन्द्रियों पर विश्वास करते हैं और किसी चिन्तन तथा विचार के बिना हम पहले से ही बाह्य जगत् की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु थोड़ी-सी दार्शनिक समीक्षा इस बात को गलत सिद्ध कर देती है। मन में केवल प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षों के सिवाय अन्य कुछ नहीं आ सकता। यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि संवेदन या प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर अनुभव चुप है क्योंकि मन के समक्ष केवल संवेदन ही हैं, न कि बाह्य वस्तुएँ।

हम दो संवेदनों के बीच कार्य-कारण के सम्बन्ध का अवलोकन करते हैं किन्तु संवेदन तथा वस्तु के बीच किसी अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान हमें नहीं होता। अतः कारणात्मक अनुमान के आधार पर हम संवेदनों से बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकते। यदि हम भौतिक द्रव्य या पुद्गल (Maite) से प्रमुख तथा गौण गुणों को अलग कर दें तो केवल एक अज्ञात तथा अवर्णनीय कुछ रह जाता है, जिसे

संवेदनों का कारण बतलाया जाता है। ह्यूम का कहना है कि यह अज्ञात ऐसा कुछ है जिसका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि इसका संवेदन नहीं होता : हमारे ज्ञान के विषय केवल संवेदन तथा उन पर आधारित प्रत्यय हैं। इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि उनकी उत्पत्ति बाह्य वस्तुओं या अज्ञात द्रव्यों,मानवी मन अथवा ईश्वर के द्वारा होती है। संवेदन हमारे अनुभव में सामान्यत: आते हैं और चले जाते हैं। इसलिए हमें अपने संवेदन तथा प्रत्ययों तक ही सीमित रहना चाहिए। हम अपने प्रत्ययों की तुलना कर सकते हैं। उन्हें घटा-बढ़ा सकते हैं। उनको मिश्रित कर सकते हैं। उनके बारे में चिन्तन भी कर सकते हैं। उनके सम्बन्धों को देख सकते हैं और उन पर विचार कर सकते हैं। इस प्रकार हम प्रदर्शनात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि हमें अपनी खोज उन्हीं विषयों तक सीमित रखनी चाहिए जिन्हें हमारी बुद्धि समझ सकती हो। हमें कभी संवेदनों की उत्पत्ति के बारे में संतोषजनक एवं सुनिश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। संवेदनों तथा प्रत्ययों के पार्श्व में जिस जगत् की कल्पना की जाती है अथवा द्रव्य की धारणा बनाई जाती है उसके अन्तिम स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। भौतिक द्रव्य क्या है यह ज्ञात नहीं हो सकता।

(2) आध्यात्मिक द्रव्य (Spiritual Substances)—आत्मतत्त्व के खण्डन में ह्यूम ने वही तर्क प्रयोग किया जो बर्कले ने जड़तत्त्व के खण्डन के लिए किया था। जिस प्रकार अज्ञात भौतिक द्रव्य को मानना आवश्यक नहीं है उसी प्रकार आध्यात्मिक द्रव्य के बिना भी काम चल सकता है।

ह्यूम के अनुसार, विश्व के परम मूल और प्रकृति का तत्वसमीक्षा के रूप में ज्ञान असंभव है। बौद्धिक सृष्टिशास्त्र भी संभव नहीं है। आत्मा के स्वत्व का विज्ञान बुद्धिपरक मनोविज्ञान भी नहीं हो सकता। हम अभौतिक, नित्य, अविभाज्य जैसे आत्म-द्रव्य के विषय में कुछ नहीं जानते। द्रव्य की धारणा ही निरर्थक है चाहे उसे आत्म-द्रव्य कहा जाये अथवा भौतिक द्रव्य। चिन्तनशील द्रव्य की स्पष्टता तथा अविभाज्यता को लौकिक प्रमाण द्वारा न तो स्वीकार किया जा सकता है और न उसका पूर्णत: खण्डन ही हो सकता है। हमें किसी निरवयव तथा तादात्म्यक् जीव का प्रत्यय भी नहीं हो सकता जैसा कि कुछ दार्शनिक मानते हैं।

ह्यूम का कहना है कि मेरे अन्दर 'आत्मा' (Soul) नाम का कोई सिद्धान्त नहीं है। जब मैं स्वयं की ओर ध्यानपूर्वक देखता हूँ तो केवल विशेष संवेदन जैसे ताप या ठण्ड, प्रकाश या अन्धकार, प्रेम या घृणा, दु:ख या सुख पर ही अटक जाता हूँ। प्रत्यक्ष के बिना मैं कभी अपने आपको पकड़ नहीं पाता हूँ। प्रत्यक्ष या संवेदन के अतिरिक्त मैं अन्य किसी को देख नहीं पाता हूँ। मन विभिन्न प्रकार के संवेदनों का समूह है। ऐसे संवेदनों का जो एक दूसरे के बाद बड़े वेग से आते जाते हैं

जिनमें निरन्तर गतिशीलता होती है। मन एक ऐसे रंगमंच के समान है जहाँ अनेक संवेदन क्रमानुसार मिलते हैं, विलुप्त हो जाते हैं, फिर उठते हैं और पुनः चले जाते हैं। एक ही क्षण में न तो उनमें कोई सरलता होती है और न विभिन्न क्षणों में कोई तादात्म्य। फिर भी उनमें नियमावस्था तो है। प्रत्येक संवेदन की अपनी अलग सत्ता होती है और वह अपने समकालीन अथवा बाद में आने वाले संवेदन से भिन्न होता है। उनमें भेद तथा उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। बुद्धि वस्तुओं में किसी वास्तविक सम्बन्ध को नहीं देख पाती। कारण-कार्य का मेल भी प्रत्ययों के साहचर्य का उदाहरण है। अतः तादात्म्य इन विभिन्न संवेदनों को मिलाने वाला या उनमें निहित रहने वाला कोई सिद्धान्त नहीं है। वह एक गुण है जिसका हम संवेदनों पर आरोपण कर देते हैं क्योंकि उनका विमर्श करते समय उनको मिलाने के प्रत्यय हमारी कल्पना में रहते हैं। मन विभिन्न प्रत्ययों या संवेदनों का समूह है जो कुछेक सम्बन्धों द्वारा संगठित है और जिनमें भ्रमवश निरवयवता तथा तादात्म्यता को मान लिया जाता है।

अनुभववादी होते हुए भी बर्कले ने आत्मा को प्रत्यक्षानुभूति का विषय मान लिया। ह्यूम ने इनका खण्डन किया और कहा कि जो दार्शनिक यह कहते हैं कि आत्मतत्व का अनुभव होता है उन्हें यह बतलाना चाहिए कि यह विचार उन्हें संवेदन से मिला अथवा चिन्तन द्वारा। आत्मा सुखात्म है अथवा तटस्थ, नित्य है अथवा अनित्य। ऐसा बतलाने में वह असमर्थ हैं। कुछ दार्शनिक आत्मा की अनुभूति प्रतिक्षण मानते हैं और आत्मा की पूर्ण सरलता तथा तादात्म्य में आस्था रखते हैं जो बिल्कुल असम्भव है। आत्मा में कोई एकता भी नहीं है। ह्यूम ने कहा कि किसी प्रकार के तीव्र तथा अविच्छिन्न प्रवाह में एकता का भ्रम स्वाभाविक है। बहती नदी में पानी के कण अलग-अलग होते हैं, पर नदी के तेज प्रवाह के कारण हमें उसमें एकता तथा स्थायित्व दिखलाई पड़ता है जो भ्रम ही है। इस प्रकार ह्यूम आध्यात्मिक द्रव्य अथवा आत्मा के अस्तित्व को लेकर कहता है कि—

(i) आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और न उसका कोई संवेदन तथा प्रत्यय होता है।

(ii) आत्मा नित्य नहीं है और न ही हम उसके यथार्थ स्वरूप को जान सकते हैं।

(iii) विचार स्वयं अपना अनुभव करता है और उसके लिए किसी स्थाई आत्मा की आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर का अस्तित्व (The Existence of God)

लॉक तथा बर्कले की तुलना में ह्यूम ही पूर्ण अर्थ में अनुभववादी है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए विभिन्न प्रकार के तर्क दिये जाते हैं। किन्तु

ह्यूम यह दिखलाता है कि ईश्वर की सत्ता को अनुभव के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ईश्वर तो केवल विश्वास तथा आस्था का विषय है। बहुत से लोग ईश्वर को मानते हैं। उसकी पूजा करते हैं। परन्तु जैसाकि ह्यूम मानता है उसका अस्तित्व अनुभव का विषय नहीं है।

ह्यूम के अनुसार यद्यपि लोग बाह्य जगत् में विश्वास करते हैं, पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता का प्रदर्शन नहीं कर सकते। जिस प्रकार बौद्धिक सृष्टिशास्त्र तथा बौद्धिक मनोविज्ञान असम्भव हैं उसी प्रकार बौद्धिक धर्मशास्त्र भी असम्भव है। यह प्रदर्शित नहीं किया जा सकता कि आत्म-द्रव्य का अस्तित्व है अथवा आत्मा अमर है। ईश्वर के रूप, गुण, शक्ति तथा प्रयोजन के विषय में हम कुछ भी प्रदर्शित नहीं कर सकते। मानव बुद्धि इतनी निर्बल तथा सीमित है कि वह इन समस्याओं का समाधान नहीं कर पाती। इसलिए बौद्धिक धर्मशास्त्र भी असंभव है। जब हम किसी पत्थर के टुकड़े के विभिन्न अंगों का पूर्णतः विश्लेषण नहीं कर सकते तो हम जगत् की उत्पत्ति तथा प्रकृति के बारे में पूर्ण निश्चित व्याख्या कैसे कर सकते हैं? जब हम वस्तुओं के अतीत तथा भविष्य, विश्व-निर्माण, आत्मा की सत्ता, आत्मा के गुण, एक सार्वभौम अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, असीम तथा अज्ञेय आत्मा की शक्ति और उसकी क्रियाओं के बारे में विचार करते हैं तो हम अपनी सीमा तथा सामर्थ्य के बाहर चले जाते हैं।

ईश्वर के होने या न होने का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसके स्वरूप का है। ह्यूम के अनुसार, कोई सत्य इतना निश्चित नहीं है जितना कि ईश्वर का अस्तित्व है। ईश्वर हमारी समस्त आशाओं का मूलाधार है। वह समस्त नैतिकता एवं समाज की आधारशिला है। कारण के बिना किसी चीज का अस्तित्व नहीं होता और इस विश्व का जो कुछ भी प्रारम्भिक कारण हो, उसे 'ईश्वर' कहा जाता है जिसमें हम पूर्णता तथा असीमता के गुण आरोपित करते हैं। किन्तु ह्यूम का कहना है कि हम ईश्वर के गुणों को नहीं समझ पाते और न यह जान पाते हैं कि उसकी पूर्णता मानवी पूर्णता से भिन्न है अथवा समान। मनुष्य स्वयं मानवी गुणो को ईश्वर में देखता है यह जाने बिना कि उनकी सत्ता उसमें है अथवा नहीं।

ह्यूम जगत् की व्यवस्था, सुन्दरता आदि से ईश्वर के सत्व तथा ज्ञान का अनुभव करने की चेष्टा करने वाले तथाकथित प्रयोजनवादी प्रमाण पर प्रहार करता है। जब तक दो बातों में सादृश्य न हो तब तक हम अनुमान में पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते। विश्व तथा मकान, जहाज, मशीन आदि में बड़ा भारी अन्तर है। दोनों एक दूसरे के सादृश्य अथवा विकल्प नहीं हो सकते। अतः विभिन्न अंगों से हम सम्पूर्णता की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर सकते। किसी मकान को देखकर यह कहा जा सकता है कि उसका कोई निर्माता है। किन्तु विश्व और मकान में ऐसी कोई

समानता नहीं है जिसके आधार पर हम पूर्ण विश्वास के साथ अनुमान लगा सकें कि उसका भी कोई निर्माता है। यहाँ पर इतनी बड़ी असमानता है कि हम सादृश्यानुमान को सही एवं पूर्ण नहीं कह सकते।

हम ईश्वर की तुलना मानव मन से भी नहीं कर सकते। ऐसा करना ईश्वर को मानवी रूप देना होगा जो दोषयुक्त है। मनुष्य का मन निरन्तर परिवर्तनशील है। किन्तु परिवर्तनशीलता का ईश्वर की पूर्णता एवं नित्यता से कोई सादृश्य नहीं है। मानव गुणों की झलक के आधार पर ईश्वर के स्वरूप को निश्चित करना बिल्कुल तर्कहीन है। अनुभवयुक्त चिन्तन के द्वारा हम ईश्वर को असीमता से नहीं जोड़ सकते क्योंकि कार्य जिनका संवेदन होता है ससीम तथा अपूर्ण हैं। यहाँ तक कि यह विश्व भी पूर्ण नहीं प्रतीत होता है। यदि विश्व पूर्ण होता भी तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि कार्य की समस्त विशेषताएँ कारण में ही सन्निहित हैं। इससे ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या नहीं हो पाती।

जगत् की एकता के आधार पर ईश्वर की एकता का अनुमान लगाना भी दोषयुक्त है क्योंकि संभवतः बहुत से देवताओं ने मिल-जुल कर यह जगत् बनाया हो। यदि मानव स्वभाव के आधार पर ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण किया जाये तो यह क्यों नहीं माना जाता कि मनुष्य अपनी निरन्तरता को अपनी सन्तानों के द्वारा सुरक्षित रखता है, ईश्वर या देवता भी ऐसा करते होंगे? मनुष्यों के शरीर हैं। क्यों नहीं ईश्वर तथा देवताओं के शरीर भी स्वीकार किये जायें?

ईश्वर की सत्ता एवं स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार के तर्क दिये गये हैं। किन्तु ह्यूम का कहना है कि ये सब कल्पनाएँ ही हैं और हमारे पास जगत् की उत्पत्ति की किसी व्यवस्था को प्रमाणित करने के कोई साधन नहीं हैं। हमारा अनुभव सीमित तथा अपूर्ण है। अनुभव समस्त सत्ता के विषय में कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर सकता। फिर भी ह्यूम के अनुसार, जगत् को प्राणमय मानकर ईश्वर को उसकी आत्मा मानने का विचार यंत्र के निर्माता के रूप में ईश्वर की तुलना में वनस्पति या जीव से अधिक निकट है।

ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गए नैतिक तर्क का भी ह्यूम खण्डन करता है। ह्यूम का कहना है कि जगत् के अस्तित्व के आधार पर हम ऐसे प्राणी का अनुमान नहीं लगा सकते जिसमें मनुष्य के समान नैतिक गुण हों। प्रकृति का प्रयोजन सन्तान या जाति को बढ़ाना या सुरक्षित रखना ही है। उसको सुख देना नहीं है। जगत् में सुख से कहीं अधिक दुःख है। जगत् में दुःख का तथ्य यह सिद्ध करता है कि या तो ईश्वर कृपालु नहीं है या फिर सर्वशक्तिमान नहीं है। भौतिक तथा नैतिक बुराइयाँ हमें अच्छे कृपानिधान ईश्वर का अनुमान न लगाने के लिए बाध्य करती हैं। यह भी कहा जा सकता है कि मानव बुद्धि इतनी कमजोर है कि वह विश्व के

प्रयोजन को समझ नहीं पाती। किन्तु फिर भी हमारा कोई भी अनुमान कम से कम मानव अज्ञान के आधार पर लगाये गये अनुमान से तो श्रेष्ठ ही होगा और ईश्वर को नैतिक मानना मानव अज्ञान के आधार पर लगाया हुआ अनुमान है।

ह्यूम ईश्वर के सम्बन्ध में सत्ताशास्त्रीय तर्क का भी खण्डन करता है। हम पूर्वानुभव से यह प्रदर्शित नहीं कर सकते कि ईश्वर आवश्यक रूप से सत् है। किसी सत्ता के असत् होने में कोई बाधा नहीं है। हम ईश्वर के स्वरूप से उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि हम उसके स्वरूप को ही वास्तव में नहीं जानते। हम यह नहीं जानते हैं कि संभवतः भौतिक जगत् में ऐसे गुण हों जो ईश्वर के असत् होने को अग्रहणीय बनाते हों।

धर्म के सम्बन्ध में भी ह्यूम अपना मत व्यक्त करता है। जहाँ तक धर्म की उत्पत्ति का प्रश्न है, उसका कहना है कि ईश्वर में विश्वास करना, सत्य-प्रेम, उत्सुकता, आदि का परिणाम न होकर, सुख की अभिलाषा, भावी दुःख का भय, मृत्यु की भयानकता, प्रतिशोध की भावना, भूख-प्यास तथा अन्य आवश्यकताओं पर आश्रित है। बहुदेववाद, न कि ईश्वरवाद, अति प्राचीन धर्म रहा होगा। इन सन्देहवादी विमर्शों के होते हुए भी ह्यूम का कहना है कि कोई समझदार मनुष्य यदि उसे ईश्वर का विचार सुझाया जाये तो वह उसे अस्वीकार नहीं करेगा क्योंकि हर बात में प्रयोजन ढूँढ़ा जा सकता है। अन्य शब्दों में, ह्यूम स्वयं आस्तिक था और मानव जीवन के लिए ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास को आवश्यक मानता था। वह स्वयं मानता है कि जहाँ भी हम देखते हैं हमें प्रयोजन दिखलाई पड़ता है और इसलिए हमें प्रकृति में प्रयोजन स्वीकार करना चाहिए। परन्तु पुनः दूसरी ओर वह कहता है कि इन सब बातों को बुद्धि के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। ईश्वर के सम्बन्ध में ह्यूम अनुभववादी है। उसके अनुसार ईश्वर के विषय में कोई भी सबल आनुभविक और बौद्धिक प्रमाण नहीं दिये जा सकते। ईश्वर केवल आस्था तथा विश्वास का विषय है, न कि बुद्धि तथा अनुभव का।

सारांशतः ह्यूम के उपर्युक्त विश्लेषण से हम शुद्ध अनुभववाद से घोर सन्देहवाद की धारा में बह जाते हैं। ह्यूम का दर्शन इसलिए सन्देहवादी है कि वह बुद्धि की क्षमता की आलोचना करके निषेधात्मक तथा सन्देहात्मक निष्कर्षों को अवतरित करता है। सन्देहवाद की विशेषता है कि वह कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करता बल्कि यह दिखलाता है कि किसी विश्वास के हमारे मन में होने से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। अनुभव के आधार पर कोई भी सार्वभौम सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वस्तुओं का अनुभव व्यक्तिगत है। हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे हम यह जान लें कि अन्य व्यक्तियों के विचार हमारे विचारों के अनुरूप हैं अथवा नहीं। हमारा ज्ञान संवेदनों या प्रत्यक्षों और उनके प्रत्ययों तक ही

सीमित है। उनके बाहर जाना अनधिकार चेष्टा करना ही होगा। वास्तव में ह्यूम यह नहीं कहता कि आत्मा तथा ईश्वर का अस्तित्व नहीं है,बल्कि यह मानता है कि हम उनके यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार भौतिक तथा आध्यात्मिक द्रव्यों के विषय में भी निश्चिततापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार ह्यूम के दर्शन में अनुभववाद की पराकाष्ठा संशयवाद में हो जाती है।

□

13

इमैनुएल कान्ट

(Immanuel Kant : 1724–1804)

कान्ट का जन्म कॉनिग्सवर्ग (जर्मनी) के एक निर्धन परिवार में हुआ। उसका पिता जीनपोश का काम करता था। अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने पर भी उसने कान्ट को अच्छी शिक्षा-दीक्षा दिलाई। कान्ट के शिक्षण काल में ही उसके माता-पिता का देहान्त हो गया था जिसके पश्चात् उसे इधर-उधर से अपना जीवन-निर्वाह करना पड़ा। कॉनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय में,कान्ट ने 15वर्ष तक अनाधिकारी अध्यापक के रूप में कार्य किया। बाद में वह नियमित प्रोफेसर बन गया। प्रथम 14 वर्ष (1756–1770) विश्वविद्यालय में उसकी स्थिति यह थी कि जो कुछ विद्यार्थी उससे पढ़ते थे उनकी फीस का कुछ निर्धारित भाग उसको मिलता था। किन्तु वह पर्याप्त नहीं था। पुस्तकें बेचकर वह अपना जीवन-निर्वाह करता था। कान्ट गणित, नीति, धर्म, भूगोल तथा विज्ञान की शिक्षा देता था। कहते हैं वह अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में कॉनिग्सवर्ग से 40 मील की दूरी से अधिक कहीं नहीं गया था। दुबला-पतला, छोटा कद, सुन्दर आकृति, अच्छे वस्त्र तथा खान-पान का शौकीन कान्ट जीवन भर अविवाहित रहा। वह अत्यधिक संयमी था। जगने, उठने-टहलने, पढ़ने-लिखने तथा खाने-पीने का समय बिल्कुल निर्धारित होता था। ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर, भ्रमण में वह मुँह बन्द रखकर केवल नासिका से ही श्वास लेता था। वह 80 वर्ष तक जीवित रहा। कहते हैं सुवह के समय, कान्ट जब टहलने जाता था तो लोग अपनी घड़ियाँ ठीक करते थे।

कान्ट ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिनमें प्रमुख ये हैं: विशुद्ध बुद्धि की परीक्षा (द् क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन); व्यावहारिक बुद्धि की परीक्षा (द् क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन); तथा निर्णय शक्ति की परीक्षा (द् क्रिटीक ऑफ जजमेण्ट), ये तीनों ही ग्रन्थ दर्शन तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से मौलिक हैं। इन ग्रन्थों के स्पष्टीकरण के रूप में, कान्ट ने ये ग्रन्थ भी लिखे: किसी भी भावी तत्त्व-

ज्ञान की प्रस्तावना (प्रोलेगोमिना टू एनी फ्यूचर मेटाफिजिक्स); नैतिक नियमों के तत्त्वदर्शन के मौलिक सिद्धान्त (फन्डामेण्टल प्रिन्सिपल्स ऑफ द् मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स). उसने दो लघु ग्रन्थों की भी रचना की—स्वाभाविक धर्म (नेचुरल रिलीजन) और नित्य शान्ति (एटर्नल पीस). पादरियों ने उसके स्वाभाविक धर्म का कड़ा विरोध किया क्योंकि उसमें ईसाई जगत् के लिए उत्तेजनात्मक सामग्री थी। कान्ट कापरनिकस से अपनी तुलना करता था। वास्तव में दर्शनशास्त्र में उसने ऐसी क्रान्ति पैदा की जैसी कि कापरनिकस ने ज्योतिष विद्या (Astrology) में की थी।

आधुनिक दर्शन इस आस्था को लेकर चला था कि मानवी बुद्धि में ज्ञान प्राप्त करने की व्यापक शक्ति एवं क्षमता है। ज्ञान क्या है? ज्ञान की उत्पत्ति तथा उपलब्धि कैसे होती है? ज्ञान की सीमाएं क्या है? इन प्रश्नों पर बुद्धिवादियों तथा अनुभववादियों दोनों ने समान रूप से विचार किया। बुद्धिवादियों ने सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान को संभव बतलाया। अनुभववादियों ने भी कुछ क्षेत्रों में स्वयंसिद्ध अथवा सार्वभौम तर्कवाक्यों की संभावना स्वीकार की और साथ ही उन्होंने बुद्धि तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सीमाओं के विषय में गम्भीर चिन्तन किया। वे इन्द्रिय संवेदन को ही अधिक महत्त्व देने लगे। फलतः ह्यूम, लॉक तथा बर्कले से आगे बढ़ गया और अनुभववाद को घोर सन्देहवाद के गर्त में ले गया। कान्ट ने इन दार्शनिक परम्पराओं के अध्ययन के पश्चात्, यह महसूस किया कि बुद्धिवाद तथा अनुभववाद दोनों की मान्यताओं की समीक्षा की जाये ताकि सत्यान्वेषण में सही ढंग से आगे बढ़ा सके। कान्ट के अनुसार, उसके पूर्व दार्शनिकों ने अपने-अपने विचारों की गम्भीरतापूर्वक समीक्षा नहीं की जिसके परिणामस्वरूप दर्शन आलोचनात्मक दृष्टि से वंचित रह गया। अतः दर्शन की अच्छी तरह समीक्षा होनी चाहिए। यही कारण है कि कान्ट ने तीन प्रकार के समीक्षात्मक ग्रन्थों की रचना की जिनका आधुनिक दर्शन में अत्यधिक महत्व है। उसने बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के विभिन्न पक्षों को अपनी समीक्षा का आधार बनाया। उनमें से कुछ स्वीकार किया तो कुछ अस्वीकार कर दिया। उसने दोनों दार्शनिक मतों की सीमाओं को पहचाना। फलतः उसके दार्शनिक चिन्तन को आलोचनात्मक समीक्षावाद' के दर्शन की संज्ञा दी जाती है।

समस्या एवं समाधान (Problem and Solution)

कान्ट के समक्ष प्रमुख समस्या यह थी कि किस प्रकार उस समय की विभिन्न धाराओं—प्रबुद्धवाद, अनुभववाद, सन्देहवाद और रहस्यवाद, के प्रति न्याय किया जाये। यह भी कहा जाता है कि उसकी समस्या एक ओर तो ह्यूम के सन्देहवाद और दूसरी ओर प्राचीन मताग्रह को परिमार्जित करने की थी और भौतिकवाद, भाग्यवाद, नास्तिकवाद, भावुकतावाद, एवं अन्धविश्वास का खण्डन और विनाश करने की थी। वह स्वयं वोल्फ के बुद्धिवाद से प्रभावित था। किन्तु वह अंग्रेजी अनुभववाद और रूसो के प्रति भी आकृष्ट हुआ था। ह्यूम ने तो उसे उसकी

रूढ़िवादी नींद से जगाया था। कान्ट ने बुद्धि की परीक्षा पर अधिक बल दिया ताकि बुद्धि के न्यायोचित दावों की रक्षा हो और व्यर्थ की तर्कों का बहिष्कार हो सके। उसने एक ऐसी ज्ञान विषयक धारणा की आवश्यकता समझी जो सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान की संभावना या असंभावना, उसके मूलाधार, पहुँच और सीमाओं की खोज करे। कान्ट ने कहा कि अभी तक दर्शन में मताग्रह रहा है क्योंकि दर्शन अपनी शक्तियों की पूर्ण आलोचना किये बिना ही बढ़ता रहा है। अब उसे आलोचनात्मक होना चाहिये।

कान्ट सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान को ही विशुद्ध या यथार्थ ज्ञान मानता है। वह बुद्धिवादियों के साथ इस बात में सहमत है कि ऐसा ज्ञान भौतिक विज्ञान तथा गणित में मिल सकता है। वह अनुभववादियों से इस बात में सहमत है कि ऐसा ज्ञान आदर्श ज्ञान है और वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान न होकर अनुलक्षणों (Phenomena) का ज्ञान है। वस्तुएँ जिस प्रकार हमारी इन्द्रियों को प्रतिभासित करती हैं इससे सम्बन्धित यह ज्ञान है। अतः बौद्धिक तत्वज्ञान जिसमें सृष्टिशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा मनोविज्ञान सम्मिलित हों, असम्भव है। कान्ट अनुभववादियों के साथ इस बात में भी सहमत है कि हम उसे जान सकते हैं जिसका अनुभव होता है और हमारे ज्ञान की सामग्री संवेदनों से ही प्राप्त होती है। वह बुद्धिवादियों तथा अनुभववादियों दोनों से सहमत है कि अनुभव से सार्वभौम तथा अनिवार्य सत्य प्राप्त नहीं हो सकते। स्वयं कान्ट का दृष्टिकोण यह है कि इन्द्रियाँ हमें ज्ञान की सामग्री प्रदान करती हैं और मन उसकी व्यवस्था करता है। हमें सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान या प्रत्ययों के क्रम का ज्ञान होता है किन्तु स्वलक्षणों (Things-in-themselves) का ज्ञान नहीं होता। हमारे ज्ञान की सामग्री अनुभव से प्राप्त होती है। अपने अनुभवों पर मन विचार करता है और अपने प्रागानुभव अथवा बौद्धिक ढंगों के अनुसार उनकी धारणा बनाता है। किन्तु स्वलक्षणों की सत्ता फिर भी होती है। हम उन पर विचार कर सकते हैं। किन्तु उनको आनुभविक जगत् के तथ्यों की भांति जान नहीं सकते। नैतिक चेतना अथवा व्यावहारिक बुद्धि के लिये ही कारण आकाश-काल क्रम के बाहर अन्य जगत् की सत्ता, ईश्वर, स्वतंत्रता और आत्मा की अमरता के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है। यदि मानव में नैतिक भावना न होती तो अनेक प्रकार के वाद-विवाद आज नहीं होते।

ज्ञान की समस्या (Problem of Knowledge)

ज्ञान क्या है? वह कैसे प्राप्त होता है? मानवी बुद्धि की सीमाएँ क्या हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये कान्ट सर्वप्रथम मानव बुद्धि की आलोचनात्मक परीक्षा करने पर बल देता है। ज्ञान सदैव निर्णयों के रूप में होता है जिनमें या तो किसी बात को स्वीकार किया जाता है या उसे अस्वीकार किया जाता है। किन्तु प्रत्येक निर्णय ज्ञान नहीं होता। किसी विश्लेषणात्मक-निर्णय (Analytical Judg-

ement) में विधेय (predicate) वही व्यक्त करता है जो उद्देश्य (subject) में पहले से ही है जैसे "वस्तु विस्तारमय होती है।" कोई निर्णय तभी ज्ञात हो सकता जब वह संश्लेषणात्मक (Synthetic) हो अर्थात् जो विधेय में नवीन बात जोड़े, न कि उद्देश्य में ही सन्निहित बात को स्पष्ट करे, जैसे "सब वस्तुओं में गुरुत्वाकर्षण होता है।" किन्तु स्मरण रहे कि सभी संश्लेषणात्मक निर्णयों से विशुद्ध ज्ञान नहीं होता। उनमें से कुछ निर्णय अनुभव से प्राप्त होते हैं। वे हमें सूचित करते हैं कि अमुक वस्तु में अमुक गुण हैं या वह अमुक तरह से क्रिया करती है। वे यह नहीं बतलाते कि उस वस्तु में वही गुण अनिवार्यतः होने चाहियें या उसे उसी तरह ही क्रिया करनी चाहिये। अन्य शब्दों में, ऐसे निर्णयों में अनिवार्यता (Necessity) की कमी होती है। बुद्धि हमें उनको उस तरह स्वीकार करने के लिये वाध्य नहीं करती जैसे कि गणित के तर्क वाक्यों को। दूसरे उनमें सार्वभौमिकता नहीं होती। हम यह नहीं कह सकते कि एक श्रेणी के कुछ सदस्यों में अमुक गुण हैं, इसलिये वे सभी सदस्यों में होंगे। जिन अनुभावाश्रित निर्णयों (A posteriori judgements) में सार्वभौमिकता तथा अनिवार्यता नहीं होती वे वैज्ञानिक नहीं होते। किसी भी संश्लेषणात्मक निर्णय को ज्ञात कहने के लिये, यह आवश्यक है कि उसमें अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता हो अर्थात् उसका कोई अपवाद नहीं होना चाहिये। अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता का आधार संवेदन या प्रत्यक्ष में न होकर, बुद्धि में है अथवा स्वतः बोध (Unberstanding) में है। हम बिना अनुभव के यह जान सकते हैं कि त्रिकोण तीनों कोणों का योग 180 डिग्री के बराबर होता है और सदैव रहेगा।

कान्ट का मुख्य विचार-बिन्दु यह है कि ज्ञान प्रागनुभव संश्लेषणात्मक (A Priori Synthetic) निर्णयों द्वारा निर्मित होता है। विश्लेषणात्मक निर्णय (Analytic Judgements) सदैव प्रागनुभव होते हैं। हम अनुभव का सहारा लिये बिना ही यह जान लेते हैं कि "सब विस्तारयुक्त पदार्थ विस्तारशील हैं।" ऐसे निर्णय तादात्मय (Identity) और विरोध (Contradiction) के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। किन्तु उससे हमारे ज्ञान में वृद्धि नहीं होती। अनुभवाश्रित (A posteriori) संश्लेषणात्मक निर्णय हमारे ज्ञान को तो बढ़ाते हैं किन्तु वे निश्चित नहीं होते। उनसे प्राप्त ज्ञान अस्पष्ट, अनिश्चित और संभाव्य ही होता है। हम विज्ञानों में अनिवार्य आकाट्यता (A podictic) की निश्चितता चाहते हैं और ऐसी निश्चतता प्रागनुभव (A priori) संश्लेषणात्मक निर्णयों में ही होती है।

कान्ट इस तथ्य को निश्चित मानकर चलता है कि सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान का अस्तित्व है। इसलिये वह यह नहीं पूछता कि प्रागनुभव संश्लेषणात्मक निर्णय संभव है या नहीं हैं। किन्तु वह यह पूछता है कि वे कैसे संभव हैं? इस प्रकार के निर्णय भौतिक विज्ञान तथा गणित में होते हैं; तत्त्वसमीक्षा में भी ऐसे निर्णय मिलते हैं। अतः मूल समस्या यह है कि वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रागनुभव संश्लेषणात्मक निर्णय किस

प्रकार बनते हैं ? ऐसे ज्ञान की क्या शर्तें हैं ? ऐसे निर्णयों के अस्तित्व की तार्किक भाव से मान्यता क्या है ? इसलिये कान्ट की पद्धति सैद्धान्तिक है । वह कहता है कि ज्ञान विषयक धारणा पूरी तरह प्रदर्शनात्मक विज्ञान है, वह प्रागनुभव या शुद्ध विज्ञान है जिसके सत्य अनिवार्य प्रागनुभव सिद्धान्त पर निर्भर होते हैं । कान्ट की पद्धति मनोवैज्ञानिक न होकर अनुभवातीत (Transcendental) है । वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ज्ञान की शर्तों की परीक्षा नहीं करता । किन्तु यथार्थ ज्ञान को, गणित या भौतिक विज्ञान की प्रस्तावनाओं (Propositions) को मानकर यह पूछने को कहता है कि तार्किक भाव से ऐसी प्रस्तावनाओं की सत्ता की क्या मान्यता होती है ? अपनी पद्धति का प्रयोग करते हुए कान्ट मानवी बुद्धि को उसके सब विचार कोटियों (Categories) के साथ प्रयुक्त करता है । वह ज्ञान की सम्भावना तथा प्रमाण को मान लेता है–यहाँ वह रूढ़िवादी है–किन्तु वह इससे विचलित नहीं होता, बल्कि उसका कहना है कि ज्ञान की संभावना से ह्यूम का इन्कार करना सच है तो यह अच्छी बात नहीं है । यदि बुद्धि की अपनी परीक्षा करने के पूर्व ही बुद्धि की योग्यता की पूर्व कल्पना स्थापित कर ली जाये तो हम कहीं नहीं पहुँच सकते ।

इसलिए प्रमुख समस्या यह है कि गणित, भौतिक विज्ञान और तत्त्वसमीक्षा में प्रागनुभव संश्लेषणात्मक निर्णय (Synthetic a priori judgements) कैसे बनते हैं ? इसके समाधान के लिये सर्वप्रथम कान्ट यह जानना चाहता है कि ज्ञान की शक्ति, कार्य उसकी संभावनायें तथा सीमाएँ क्या हैं ? यहाँ हमें ज्ञान के साधनों की परीक्षा करनी चाहिये । ज्ञान मन की पूर्वकल्पना करता है । हम विचार करने वाले के बिना विचार नहीं कर सकते । विचार का विषय तब हो सकता है जब वह इन्द्रियों से प्राप्त हो और मन उसको ग्रहण करे अथवा मन प्राप्यशील (Preceptive) हो और संवेदना (Sensibility) रखता हो । संवेदना हमें इन्द्रिय गुण (Percepts) प्रदान करती है जो दृश्य विषयों के अंग हैं । इन दृश्य विषयों के बारे में चिन्तन करना समझना, धारणा बनाना आवश्यक है क्योंकि बुद्धि की धारणायें (Concepts) ज्ञान में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं । यहाँ कान्ट का तात्पर्य यह है कि ज्ञान संवेदन (तथा प्रत्यक्ष) और चिन्तन (या बुद्धि) के सहयोग के बिना असंभव है । ज्ञान की इन दोनों मान्यताओं में मूलभूत रूप से भेद है किन्तु वे एक दूसरे की पूरक हैं । संवेदनों और धारणाओं से ही हमारे समस्त ज्ञान के तत्त्वों का निर्धारण होता है । इसलिए कान्ट ने कहा कि "संवेदन (percepts) बिना धारणाओं (concepts) के अन्धे हैं, धारणाएँ (concepts) बिना संवेदनों (percepts) के खोखली हैं ।" बुद्धि संवेदन द्वारा जो कुछ प्राप्त करती है उसी की वह व्यवस्था तथा प्रबन्ध कर सकती है ।

यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञान कैसे संभव है ? यह प्रश्न दो भागों में विभाजित हो जाता है : इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कैसे संभव है ? और बुद्धि (बोध या समझ कैसे संभव है ? प्रथम प्रश्न का उत्तर 'इन्द्रिय-संवेदन-परीक्षा' (Transcendental Aesthetic)

और द्वितीय का उत्तर 'बुद्धि-विकल्प-परीक्षा' (Transcendental Analytic) में दिया गया है। ये दोनों मिलकर प्रज्ञा-मूलतत्त्वों का सिद्धान्त ((Transcendental Doctrine of Elements) कहलाता है।

अनुभवातीत पद्धति (Transcendental Method)

कान्ट की यह अनुभवातीत पद्धति आधुनिक दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वैसे तो हॉब्स, देकार्त तथा लाइबनित्ज ने उपयुक्त पद्धतियों का प्रयोग किया किन्तु उन्होंने उन्हीं पद्धतियों को अपने दर्शन में अपनाया जो विशेष विज्ञानों में प्रचलित थीं। उन्होंने नवीन पद्धतियों का आविष्कार नहीं किया। हॉब्स और देकार्त ने गणित की पद्धति को अपनाया, हालांकि अपने-अपने ढंग से उन्होंने उसका प्रयोग किया। लाइबनित्ज ने आगमनात्मक-गणित (Inductive mathematical) पद्धति के मिश्रित रूप को स्वीकार किया।

कान्ट ने नवीन पद्धति-अनुभवातीत पद्धति–की स्थापना की जिसका दर्शन के क्षेत्र में अपना ही स्थान है। अनुभवाधारित युक्ति तथा उसकी अनिवार्य मान्यताएँ अनुभवातीत पद्धति की जड़ हैं। इसलिए कान्ट की व्याख्या अनुभववादियों की परम्परावादी व्याख्या से बिल्कुल भिन्न है। अनुभववाद आगमनात्मक विधि (Inductive method) से अनुभव के तथ्यों के आधार पर परिकल्पनाएँ बनाता है और सामान्यीकरण करता है। लेकिन कान्ट प्रदर्शनात्मक रूप से तथ्यों में उन अनिवार्य शर्तों की खोज करता है जिससे सामान्यीकरण तथा परिकल्पनाएँ संभव हो सकें। अनुभववाद अनुभव की वास्तविकता पर अधिक बल देता है। कान्ट उसके वास्तविक महत्त्व की परीक्षा करता है। अनुभववादी आगमनात्मक विधि से चिन्तन करता है किन्तु कान्ट प्रदर्शनात्मक दृष्टि से। इसी बात को कान्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है: "यद्यपि हमारा समस्त ज्ञान अनुभव से प्रारम्भ होता है, किन्तु इससें यह फलित नहीं होता कि ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है।" कान्ट यह कहता है कि अनुभव की कुछ रूपात्मक विशेषताएं हैं जैसे आकाश (Space), काल (Time) तथा श्रेणियां (Categories) जिनकी ओर हमें ध्यान देना चाहिये। प्रश्न यह है: अनुभव की संभावना की अनिवार्य शर्तें क्या हैं? कान्ट का उत्तर है: अनुभव केवल इसी मान्यता पर संभव है कि अनुभव में पाई जाने वाली रूपात्मक विशेषताएँ (आकाश, काल और श्रेणियां) अनुभव की प्रागनुभव (a priori) शर्तें हैं।

अनुभव की प्रारम्भिक व्याख्या (Preliminary Analysis of Experience)

कान्ट यह मानता है कि इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान अनुभव से प्रारम्भ होता है। किन्तु अनुभव एक ऐसा शब्द है जो बहुत विवादास्पद है। कान्ट का अनुभव से तात्पर्य किसी भी प्रपंचात्मक विषय (Phenomenal Object) या ऐसे ही विषयों (वस्तुओं) की व्याख्या से है। अनुभव भौतिक संवेदनों का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि एक धारणात्मक, प्रत्यक्षात्मक (Perceptual या Introspective) विषय

है जिससे गुणात्मक अंशों के अतिरिक्त, सम्बन्धात्मक (Relational) तथा संरचनात्मक (Structural) संगठन होता है। कान्ट का यह स्वाभाविक इन्द्रियानुभववाद (Radical empiricism) है क्योंकि अनुभव में सम्बन्ध और गुण होते हैं। अनुभव, जिसकी व्याख्या हो सकती है, भौतिक वस्तुओं की एक व्यवस्था है।

अनुभव के विषय में कान्ट, रूप (Form) तथा पुदग्‌ल (Matter) दो बातें और प्रस्तुत करता है। *अनुभव में जो कुछ भी सम्बन्धात्मक तथा संरचनात्मक है* वह रूप के अन्तर्गत आता है। पुद्‌गल में वह आता है जो रूप के अन्तर्गत गुणों के रूप में दिखता है। रूप अनुभव में एकता का सिद्धान्त है। प्रत्यक्ष में जो संवेदन के साथ जुड़ा है, कान्ट उसे पुद्‌गल कहता है। किन्तु पुद्‌गल की विविधता को जो सम्बन्धों के आधार पर एकता प्रदान करता है, वह रूप है।

अनुभव के विषयों को तीन अंगों में विश्लेषित किया जा सकता है: (i) विभिन्न गुण जिन्हें ह्‌यूम संवेदन कहता है, (ii) आकाशात्मक तथा लौकिक निरन्तरता -अन्तरानुभूति के तथाकथित रूप; और (iii) विशुद्ध धारणाएं या श्रेणियां। कान्ट ने 'इन्द्रिय-संवेदन परीक्षा' में लिखा है कि ऐसे विभक्तिकरण से उसका उद्देश्य द्वितीय को प्रथम तथा तृतीय से पृथक करना है अर्थात् संवेदन की उन सब श्रेणियों से पृथक् करना है जिन्हें बुद्धि प्रयोग में लाती है। हमें उसे इसलिए भी पृथक् करना है कि विशुद्ध अन्तर्दृष्टि में स्वयं के अतिरिक्त संवेदन का कुछ भी अंश न रहे। प्रथम अर्थात् संवेदन में अनुभव के समस्त वाह्‌य अंग जैसे रंग, ध्वनि, स्वाद, गंध, स्पर्श और आन्तरिक गुण जैसे भावना, संकल्प, सुखात्मक विषय सम्मिलित हैं। द्वितीय तथा तृतीय मिलकर अनुभव के रूपात्मक अंगों को सम्मिलित करते हैं। अनुभवातीत पद्धति मुख्यतः इन्हीं से सम्बन्धित है।

यह विभक्तिकरण, यद्यपि मात्र आदर्श प्रतीत होता है। किन्तु उसका बड़ा महत्त्व है क्योंकि वह अनुभव के वास्तविक अंगों की ओर ध्यानाकर्षण करता है। इसी से सम्बन्धित यहाँ कान्ट की 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की धारणा' का स्पष्टीकरण किया जायेगा।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का सिद्धान्त (Theory of Sense-Perception)

यहाँ 'इन्द्रिय-संवेदन-परीक्षा' (Transcendental Aesthetic) को लिया जाता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की कुछ तार्किक पूर्व शर्तें हैं। प्रत्यक्ष के लिए संवेदनों (रंग, ध्वनि, स्पर्श आदि) का होना आवश्यक है किन्तु मात्र संवेदनों का होना ही ज्ञान नहीं कहा जा सकता। संवेदन से चेतनता में एक परिवर्तन की अवस्था उत्पन्न अवश्य होती है अर्थात् ऐसी आत्मगत परिवर्तित स्थिति जिसे हमारे अन्दर अन्य किसी ने उत्पन्न किया है। कान्ट कहता है कि प्रत्येक संवेदन विशेष दिक् तथा काल में होता है क्योंकि हरेक संवेदन का अन्यों से भी सम्बन्ध होता है। कोई संवेदन

किसी बाह्य वस्तु के साथ या पहले तथा पीछे आने वाली किसी वस्तु की भांति होता है। हमारे संवेदन दिक् और काल क्रम में व्यवस्थित होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष या तो पुद्गल (संवेदन) या रूप (दिक् और काल) की अपेक्षा रखते हैं। संवेदन ज्ञान की सामग्री (रंग, ध्वनि, स्पर्श, वजन) प्रदान करते हैं जिसे दिक् और काल के रूपों में व्यवस्थित किया जाता है। भौतिक तथा रूपात्मक अंग दोनों मिलकर संवेदन (percepts) बनाते हैं। मन संवेदनों को ग्रहण ही नहीं करता वरन् अपनी अन्तर्बुद्धि के अधिकरण (Faculty) द्वारा उनका प्रत्यक्ष भी करता है। वह अपने से बाहर दिक् और काल क्रम में रंगों को देखता है तथा शब्दों को सुनता है। मन में दिक् और काल का प्रागनुभव करने की शक्ति होती है। वास्तव में, मन ऐसा है कि वह वस्तुओं के न होने पर भी दिक् और काल का प्रत्यक्ष करता है। मन वस्तुओं को ही दिक् या काल में नहीं देखता किन्तु स्वयं दिक् और काल को भी देखता है। इस अर्थ में, हम विशुद्ध प्रत्यक्ष (pure perception) को मान सकते हैं।

संवेदनों को दिक् और काल के रूप में व्यवस्थित करना, स्वयं संवेदनों का काम नहीं है। दिक् और काल अन्तर्बुद्धि के अनुभवाश्रित रूप न होकर मन की प्रकृति में ही प्रागनुभव (A priori) रूप सन्निहित हैं। काल आन्तरिक-इन्द्रिय का रूप है। हमें अपनी मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान काल क्रम (Succession) से ही हो सकता है। दिक् बाह्य-इन्द्रिय का रूप है। इन्द्रियों को प्रभावित करने वाली वस्तुओं को हम दिक् की दृष्टि से ही जान सकते हैं। प्रत्येक वस्तु जो इन्द्रियों को प्राप्त होती है चेतनता की रूपान्तरित स्थिति होने से आन्तरिक-इन्द्रिय पर आश्रित होती है। इसलिये काल सब प्रत्ययों और दृश्य वस्तुओं की अनिवार्य शर्त है।

काल और दिक् का वस्तुओं की तरह अस्तित्व नहीं है। न वे गुण हैं और न सम्बन्ध। वे हमारे दृष्टिकोण हैं जिनसे संवेदनों को देखा जाता है। वे इन्द्रियों की क्रियाएं या रूप हैं। यदि जगत् में दिक् और काल का प्रत्यक्ष करने वाला कोई नहीं होता तो यह जगत् दिगात्मक और कालिक न होता। विचारमय द्रष्टा के न होने पर सारा मूर्त जगत् तिरोहित हो जाता क्योंकि जगत् द्रष्टा की संविद् (Sencibility) मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दिक् के न होने की हम कभी कल्पना नहीं कर सकते, हालाँकि हम वस्तु रहित दिक् के बारे में सोच सकते हैं। हम दिक् के सन्दर्भ में ही कल्पना तथा चिन्तन करने के लिये बाध्य हैं। दिक् दृश्य वस्तुओं की अनिवार्य शर्त होने से एक अनिवार्य प्रागनुभव प्रत्यय है। यह कान्ट की दार्शनिक अनुभवातीत पद्धति (Transcendental Method) का एक उदाहरण है। हम दिक् के बिना वस्तुओं के बारे में नहीं सोच सकते, अतः दिक् समस्त वस्तुओं के प्रत्यक्ष की अनिवार्य पूर्व शर्त है। जो कुछ भी अनिवार्य पूर्व शर्त है, वह मन का प्रागनुभव रूप होना चाहिए। इसी प्रकार की युक्ति काल के विषय में भी दी जा सकती है।

यहाँ विशुद्ध गणित के निर्माण के प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। गणित में हमें यथार्थ ज्ञान या संश्लेषणात्मक प्रागनुभव निर्णय या स्वयंसिद्ध सत्य मिलते हैं क्योंकि मन में दिक् तथा काल के रूप होते हैं और वह अपनी प्रकृतिवश दिक् एवं काल क्रम में प्रत्यक्ष तथा कल्पना करने पर बाध्य है।

दिक् और काल संवेदनों की शर्त मात्र हैं। वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप हैं। वे वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने के हमारे दृष्टिकोण हैं। इसलिए प्रत्यक्ष की गई वस्तुओं पर लागू करने से वे सत्य है, स्वलक्षणों (Things-in-themselves) पर लागू करने से नहीं। हम उन्हें अपने प्रत्ययों की दुनियां से बाहर लागू नहीं कर सकते। हम जिन वस्तुओं को देखते हैं वे स्वलक्षण नहीं हैं जैसा कि उन्हें समझा जाता है। जिन सम्बन्धों का हमें प्रत्यक्ष होता है वे स्वलक्षणों के सम्बन्ध नहीं होते। स्वलक्षणों की सत्ता है किन्तु हम यह नहीं जानते कि संवेदनों से अलग स्वलक्षण क्या हैं? कौन हमारे अन्दर संवेदना उत्पन्न करता है? हमारी इन्द्रियों पर प्रभाव करने वाली वस्तु अपने आप में क्या है? जब कोई वस्तु आँख से टकराती है तो हम रंग का प्रत्यक्ष करते हैं। कान से टकराती है तो शब्द सुनते हैं। ये सब हमारे अन्दर संवेदन हैं। चेतनता पर प्रभाव करने से अलग वस्तु स्वयं में क्या है यह हम नहीं जानते। हम उन वस्तुओं के प्रत्यक्ष करने के विचित्र ढंग को ही जानते हैं जो मनुष्य के लिए अनिवार्य हैं, संभवतः अन्य प्राणियों के लिए न हो। इस अर्थ में दिक् और काल आत्मगत (Subjective) हैं या आदर्श रूप हैं। वे इस अर्थ में वाह्यगत (Objective) होते हैं कि सब दृश्यपदार्थ दिक् और काल क्रम में व्यवस्थित होते हैं। काल की शर्त पूरी किये बिना हमें किसी वस्तु का अनुभव नहीं हो सकता। सब वस्तुएँ बाह्य दृश्य-पदार्थ होने के नाते दिक् में सह-विस्तीर्ण (Co-extensive) होती हैं।

कुछ वस्तुओं के बिना हमारा यथार्थ ज्ञान असम्भव होगा। मन को कोई न कोई वस्तु उपलब्ध होनी चाहिए। मन में उससे प्रभावित होने या उसकी अनुमुद्राओं (Impressions) को ग्रहण कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। किन्तु यदि हम अनुमुद्राओं मात्र को ही ग्रहण करें या चेतनता के रूपान्तर का अनुभव करें तो हम अपने तक ही सीमित रह जायेंगे और बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष नहीं कर पायेंगे। हमारे संवेदनों को वाह्यगत होना चाहिए। उनको बाहर से उत्पन्न होना चाहिये। दिक् में उनका प्रक्षेपण होना चाहिए अर्थात् उन्हें दिक् और काल क्रम में व्यवस्थित होना चाहिए। मानवी मन के पास प्रत्यक्ष के इन्हीं दृष्टिकोणों के होने से ही वाह्यगत जगत् की सत्ता हो सकती है।

बुद्धि का सिद्धान्त (Theory of Understanding)

संवेदन या अनुभव का दिक् और काल के अनुसार व्यवस्था करना ही पर्याप्त नहीं है। काल और दिक् में वस्तुओं के प्रत्यक्ष मात्र से ही ज्ञान नहीं बनता।

सूर्य के प्रत्यक्ष मात्र और पत्थर के गर्म होने से इस बात को नहीं जाना जा सकता कि सूर्य पत्थर को गर्म करता है। इन दो अनुभवों को विचार में एक विशेष ढंग से सम्बन्धित करने पर ही हम इस निर्णय तक पहुँच सकते हैं कि पत्थर को गर्म करने का कारण सूर्य है। वस्तुओं को सम्बन्धित होना चाहिए। उनकी धारणा बनाई जानी चाहिए। ज्ञान या निर्णय चेतन मन अथवा बुद्धि के बिना असंभव है। बुद्धि ग्रहण ही नहीं करती वह क्रिया भी करती है। अन्तर्दृष्टि विषयात्मक (Perceptual) है, पर बुद्धि धारणात्मक (Conceptual) है। बुद्धि धारणाओं द्वारा ही चिन्तन करती है। हमें जितने भी सवेदन प्राप्त होते हैं उन्हें समझने योग्य बनाना चाहिए। उन्हें धारणाओं का रूप देना चाहिए और साथ ही साथ धारणाओं को भी इन्द्रिय-सामग्री पर आधारित करना चाहिए। बुद्धि स्वयं किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती; इन्द्रियाँ स्वयं किसी विषय पर विचार नहीं कर सकतीं। बुद्धि और प्रत्यक्ष दोनों के सहयोग से ही ज्ञान संभव है। सवेदन के नियमों के विज्ञान को कान्ट 'इन्द्रिय-संवेदन-शास्त्र' (Transcendental Aesthetic) और बुद्धि के नियमों के विज्ञान को तर्कशास्त्र (Transcendental Analytic) कहता है।

बुद्धि के अपने कुछ रूप (Forms) हैं जिनके आधार पर सवेदनों की व्यवस्था करती है। इनको बुद्धि की विशुद्ध धारणाएँ या विचार श्रेणियाँ (Categories) कहा जाता है क्योंकि वे अनुभव से प्राप्त न होकर प्रागनुभव हैं। बुद्धि अपने को निर्णयों के रूप में अभिव्यक्त करती है। वास्तव में, बुद्धि निर्णय करने का अधिकरण (Faculty) है; विचार करना ही निर्णय करना है (to think is to judge)। अतः बुद्धि के चिन्तन करने के ढंग निर्णय करने के ही ढंग होंगे। हमें यह देखना है कि निर्णय करने के कितने ढंग हैं। मन की जितनी विशुद्ध धारणाएँ हैं उतने ही निर्णय के संभव रूप हो सकते हैं। निर्णयों की तालिका श्रेणियों की खोज में पथ-प्रदर्शन कर सकती है। इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले तर्कशास्त्र के भाग को 'बुद्धि-विकल्प-परीक्षा' (Transcendental Analytic) कहते हैं।

कान्ट के अनुसार, बारह प्रकार के निर्णय हैं जिन्हें तीन-तीन के चार विभागों में वह व्यक्त करता है। ये चार विभाग परिमाण-वाचक, गुण-वाचक, सम्बन्ध-वाचक और प्रकार-वाचक हैं :

(i) परिमाण-वाचक (Quantitative):–

(1) सार्वभौम या पूर्ण व्याप्ति, बोधक (Universal) निर्णय–सब मनुष्य मरणशील हैं।

(2) विशेष या अपूर्ण व्यक्ति बोधक (particular) निर्णय–कुछ मनुष्य काले हैं।

(3) एकात्मक (Singular) निर्णय—अशोक महान् सम्राट् है।

(ii) गुण-वाचक (Qualitative) :–

(4) भावात्मक (Affirmative) निर्णय—मनुष्य चेतन प्राणी है।

(5) निषेधात्मक (Negative) निर्णय—पत्थर चेतन नहीं है।

(6) सीमित (Limited) निर्णय—मन विस्तार रहित है।

(iii) सम्बन्ध-वाचक (Relational) :–

(7) निरपेक्ष (Categorical) निर्णय—पदार्थ भारी होता है।

(8) सापेक्ष (Hypothetical) निर्णय—यदि बादल आते हैं तो वर्षा होगी।

(9) वैकल्पिक (Disjunctive) निर्णय—द्रव्य या तो तरल है या ठोस।

(iv) प्रकार-वाचक (Modal) :–

(10) सम्भावित (Problematic) निर्णय—यह विष हो सकता है।

(11) प्रतिपन्न (Assertoric) निर्णय—वह बुद्धिमान है।

(12) आवश्यक (Apodictic) निर्णय—प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य है

कान्ट ने इस बारह निर्णयों के साथ-साथ विचार श्रेणियाँ (Categories) को भी जोड़ा है। अतः इन निर्णयों के अनुसार बुद्धि की श्रेणियाँ इस प्रकार हैं :—

निर्णय (Judgements)	विचार श्रेणियाँ (Categories)
(i) परिमाणात्मक	(i) परिमाणात्मक
1. सार्वभौम (Universal)	1. पूर्णता (Unity)
2. विशेष (Particular)	2. अनेकता (Plurality)
3 एकात्मक (Singular)	3. एकता (Totality)
(ii) गुणात्मक	(ii) गुणात्मक
4. भावात्मक (Affirmative)	4. सत्ता (Reality)
5. निषेधात्मक (Negative)	5. अभाव (Negation)
6. सीमित (Limited)	6. ससीमता (Limitation)
(iii) सम्बन्धात्मक	(iii) सम्बन्धात्मक
7. निरपेक्ष (Categorical)	7. द्रव्य-गुण-सम्बन्ध (Substance and Accident)
8. सापेक्ष (Hypothetical)	8. कार्य-कारण-सम्बन्ध (Cause and Effect)
9. वैकल्पिक (Disjunctive)	9. अन्योन्य-सम्बन्ध (Reciprocity between Active & Passive)
(iv) प्रकारात्मक	(iv) प्रकारात्मक

10. संभावित (Problematic)	10. संभावना-असंभावना (Possibility-and Impossibility)
11. प्रतिपन्न (Assertoric)	11. भाव-अभाव (Existence and Non Existence)
12. आवश्यक (Apodictic)	12. अनिवार्यता-आकस्मिकता (Necessity & Contingency)

इन बारह निर्णय के आधार पर बारह श्रेणियों की उत्पत्ति को कान्ट ने 'निर्णयों के आधार पर बुद्धि-श्रेणियों (विकल्पों) की स्थापना'' (Metaphysical deduction of the Categories) कहा है । इस स्थापना में हमें कुछ बातों की ओर ध्यान देना चाहिये: (i) प्रथम छह श्रेणियां 'अचल' (Mathematical) हैं और वस्तुओं के स्वभाव को बतलाती हैं । बाद की छह श्रेणियां 'चल' (Dynamic) हैं, द्वन्द्वात्मक हैं और वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों को बतलाती हैं । (ii) श्रेणियों के चार विभागों में से सम्बन्धात्मक विभाग सबसे प्रधान है क्योंकि बुद्धि का मुख्य कार्य सम्बन्ध स्थापित करना ही है । (iii) इन चार विभागों से कान्ट ने चार बातों का खण्डन किया है- परिणाम से अणुवाद का, गुण से शून्य का, कार्य-कारण सम्बन्ध से संयोग का और प्रकार से चमत्कार का खण्डन होता है । (iv) ये बुद्धि श्रेणियां इन्द्रिय-संवेदनों को व्यवस्थित और नियमित करके उनको ज्ञान का रूप देती हैं । (v) हमारे ज्ञान के समस्त सम्बन्ध इन बारह विचार-श्रेणियों के अन्तर्गत आ जाते हैं । सारा व्यावहारिक ज्ञान इन्हीं से निर्मित होता है ।

निर्णय की प्रामाणिकता (Validity of Judgement)

कान्ट के अनुसार, निर्णयों के इन रूपों तथा श्रेणियों की उत्पत्ति शुद्ध मानसिक है, हालाँकि उनका प्रयोग अनुभव के सन्दर्भ में किया जाता है । वे अनुभव से स्वतंत्र हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति अनुभव से या अनुभव में नहीं होती । हम इन श्रेणियों को अनुभव में, पुद्गलमय जगत् में देखते हैं । उनका अत्यधिक महत्त्व है । कान्ट इस बात का प्रमाण देता है कि श्रेणियों के बिना चेतनयुक्त अनुभव असंभव है । श्रेणियों द्वारा क्रिया करने वाली आत्मज्ञान की संश्लेषणात्मक एकता (Synthetic unity) अथवा एक तथा मिलाने वाली चेतनता (आत्म-चेतनता) ज्ञान के लिए आवश्यक है । विचारों का ज्ञान ऐसी मौलिक प्रागनुभव क्रिया के बिना संभव नहीं हो सकता । बोध निर्णय करना है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये अनेक पदार्थ आत्म-चेतनता की एकता (Unity of apperception) में एकत्रित होते हैं । बौद्धिक मन के बिना, जो कि वस्तुओं को दिक् और काल के निश्चित क्षेत्र में देखता है और निश्चित श्रेणियों के आधार पर उनके बारे में विचार करता है, अनुभव की वस्तुओं का सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान नहीं हो सकता । मन स्वभाव से ही (प्रागनुभव रूप में) इस प्रकार व्यवस्थित है कि वह इन्हीं विशेष ढंगों से प्रत्यक्ष और निर्णय करता

है। इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत और दिक् तथा काल में प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थों पर बुद्धि की शुद्ध धारणाओं या श्रेणियों (Categories) का उपयोजन ही ज्ञान है। अनुभव इन्हीं श्रेणियों द्वारा संभव होता है। यही उनकी एकमात्र प्रामाणिकता है।

यदि मन दो अवस्थाओं (तरल और सघन) को काल में सम्बन्धित न जाने और उनको विचार की 'एक' श्रेणी में सम्बद्धित न करे तो जल के जमने का मामूली सा प्रत्यक्ष असंभव हो जायेगा। निर्णय तक पहुँचने के लिए, आत्मज्ञान (Apperception) की सश्लेषणात्मक एकता आवश्यक है। हमारे विचारों में काम करने वाली सहज क्रियाएँ : पहचानना (Recognition), प्रतिकृति (Reproduction) तथा कल्पना (Imagination), इन्द्रियानुभव में भी क्रिया करती हैं और इनमें श्रेणियां भी क्रिया करती हैं। हमारे अनुभव का जगत्, श्रेणियों द्वारा संभव होता है। दृश्य जगत् का क्रम, हम जिस रूप में उसका प्रत्यक्ष करते हैं, हमारी बुद्धि के रूपों पर आधारित है। यह प्रपंचात्मक व्यवस्था या प्रकृति जैसा कि हम उसे देखते हैं, बुद्धि की श्रेणियों पर आश्रित है, न कि बुद्धि दृश्य जगत् के क्रम या प्रकृति पर आधारित है जैसा कि अनुभववादी मानते हैं। यहाँ कान्ट का तात्पर्य यह है कि बुद्धि प्रकृति पर अपने नियमों का आरोपण करती है। दर्शन के क्षेत्र में कान्ट द्वारा की गई, इसे 'कॉपरनिकन क्रांति' (Copernican Revolution) कहते हैं।

लेकिन यह स्मरण रहे कि कान्ट इन श्रेणियों को भौतिक या दृश्य जगत् तक ही सीमित बतलाता है। दृश्य जगत् के बाहर उनका प्रयोग प्रामाणिक नहीं होगा। हम अनुभव से बाहर नहीं जा सकते। हमें इनसे इन्द्रियातीत या स्वलक्षणों (Things-in themselves) का धारणात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि हम प्रागनुभव तौर से अनुभव की सामग्री को नहीं जान सकते, हालाँकि श्रेणियां प्रागनुभव होती हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जो कुछ भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा मन में आता है, वह अपने अनिवार्य नियमों के अनुसार उसकी व्यवस्था करेगा ताकि वह ज्ञान बन सके।

यहाँ एक और प्रश्न उठता है : यदि श्रेणियां बौद्धिक होती हैं तो फिर उनका उपयोजन संवेदन या दृश्य जगत् पर कैसे किया जाता है? कान्ट का कहना है कि शुद्ध धारणाओं और इन्द्रियों-संवेदनों में कोई समानता नहीं है। वे सर्वथा विजातीय हैं। उनको फिर एक साथ कैसे लाया जा सकता है? कान्ट के अनुसार, शुद्ध धारणाओं और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के बीच तीसरी चीज है या उनमें मध्यस्थता करने वाला प्रत्यय है। यह प्रत्यय शुद्ध लौकिकता रहित और साथ-साथ इन्द्रियगम्य है। कान्ट इसको अनुभवातीत व्यवस्था (Transcendental Schema) कहता है जिसका उपयोग अनुभवों को सम्बन्धित करने में किया जाता है। इस उपयोग से बुद्धि व्यवस्थित हो जाती है। इन बातों की पूर्ति काल-रूप (Time-form) ही करता है : वह

और इन्द्रियगम्य दोनों ही है। हमारे सारे प्रत्यय काल-रूप के अन्तर्गत हैं—हम अपने अनुभवों को काल में व्यवस्थित करते हैं और वे काल में ही प्रकट होते हैं। इसलिए यदि बुद्धि को संवेदन को प्रभावित करना है, यदि उसे अनुभवों को सम्बन्धित करना है, तो उसे काल-रूप का प्रयोग करना चाहिये। बुद्धि शुद्ध काल-रूप द्वारा अपनी धारणाओं, श्रेणियों और अपने सम्बन्धित करने के एकरूप ढंगों की मूर्ति बनाने का प्रयत्न करती हैं। बुद्धि समस्त वस्तुओं को कुछ निश्चित काल-सम्बन्धों (Time-relations) की दृष्टि से देखती है। बुद्धि लगातार एक को एक से जोड़ती है या काल को सजातीय क्षणों की शृंखला समझती है। इस प्रकार उसे 'संख्या' की उपलब्धि होती है। संख्या की यह क्रिया—एक में एक जोड़ना—काल के रूप (Form of time) में अभिव्यक्त परिमाण की श्रेणी (Category) की व्यवस्था (Schema) है। काल का एक क्षण अनन्यता (Singularity), अनेक क्षण विशिष्टता (Particularity) और सब क्षण सार्वभौमिकता (Universality) को अभिव्यक्त करते हैं। परिणाम की श्रेणी की अभिव्यक्ति-काल-शृंखला (Time-series) की व्यवस्था में की जाती है। बुद्धि काल में विषय (Content) की कल्पना भी करती है। इस तरह बुद्धि गुण (Quality) की श्रेणी का चित्र बनाती है; गुण की धारणा की अभिव्यक्ति काल-विषय (Time-content) की व्यवस्था (Schema) में होती है। बुद्धि विषय को काल में सब परिवर्तनशील वस्तुओं में ध्रुव रहने वाली चीज की भाँति देखती है। बुद्धि इस ढंग से द्रव्य की श्रेणी की कल्पना करती है। वह वास्तविक वस्तु को ऐसी चीज समझती है कि जिस पर काल में अन्य वस्तु अनुसरित होती रहती हैं : इस ढंग से बुद्धि कारण श्रेणी का प्रत्यक्ष करती है या वह यह समझती है कि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के गुणकाल में अपरिहार्य रूप से साथ-साथ प्रकट होते हैं : इस ढंग से उसे पारस्परिक क्रिया की श्रेणी उपलब्ध होती है। द्रव्य कारण और पारस्परिक क्रिया की अभिव्यक्ति काल-व्यवस्था (Time-order) (ध्रुवता, क्रम और सहगामिता) में होती है। या बुद्धि यह सोचती है कि किसी वस्तु की सत्ता किसी समय (संभावना की श्रेणी), किसी निश्चित समय (क्रिया-कारित्व की श्रेणी) या हर समय (अनिवार्यता की श्रेणी) होगी। संभावना, क्रिया-कारित्व और अनिवार्यता की श्रेणियों की अभिव्यक्ति काल-व्यापकता (Time-Comprehension) की व्यवस्था (Schema) में होती है।

कान्ट अपनी अनुभवातीत पद्धति के आधार पर, आत्म-ज्ञान की एकता (Unity of apperception) के सिद्धान्त की स्थापना करता है। जिस प्रकार अनुभव श्रेणियों की पूर्व-कल्पना करता है उसी प्रकार ये श्रेणियाँ (Categories) आत्म-चेतनता या आत्म-ज्ञान की पूर्व-कल्पना करती हैं। आत्म-ज्ञान की एकता तथा श्रेणियों का अवतरण साथ-साथ होता है। यह एकता ऐसी कोई चीज नहीं है जो श्रेणियों से पृथक् हो और उन्हें प्रभावित करे, वरन् वह श्रेणियों की श्रेणियों में

एकता है। यह एकता क्रियात्मक है जो प्रत्येक श्रेणी में तादात्म्य रूप से, किन्तु भिन्न ढंग से, घटित होती है। ये श्रेणियाँ एकात्मक संश्लेषण के रूप हैं। यही कारण है कि उनको अन्तर-सम्बन्धित कहा जाता है किन्तु प्रत्येक श्रेणी अपने प्रकार की होती है।

स्वलक्षणों के ज्ञान (Knowledge of Things-in-themselves)

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि हम अनुभव से परे नहीं जा सकते। हमें अतीन्द्रिय वस्तुओं अथवा स्वलक्षणों (Things-in-themselves) का ज्ञान नहीं हो सकता। कान्ट दृश्य वस्तुओं को दो दृष्टि से देखता है : वस्तुओं का वाह्य रूप होता है जिसका प्रत्यक्ष किया जाता है और उसके बारे में कुछ कहा जा सकता है। वस्तुओं का आन्तरिक रूप होता है जिसे स्वलक्षण कहते हैं। इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है किन्तु वस्तु स्वयं में क्या है यह इन्द्रियाँ नहीं देख पातीं। हम केवल यह जान पाते हैं कि वस्तुएँ चेतनता को किस प्रकार की प्रतीत होती हैं, न कि उनके स्वलक्षण क्या हैं। बुद्धि भी स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं कर सकती। हमारे अन्दर बौद्धिक अन्तर्दृष्टि नहीं है कि हम आन्तरिक भाव से वस्तुओं का पूर्ण अवलोकन कर सकें। हमारी बुद्धि तर्क विषयक (Discussive) है, वह अन्तर्ज्ञान (Intuitive) नहीं है। श्रेणियों का स्वलक्षणों पर उपयोजन कर हम उन्हें प्रामाणिक नहीं ठहरा सकते। उदाहरणार्थ यह सिद्ध नहीं हो सकता कि प्रत्येक विद्यमान वस्तु के पार्श्व में द्रव्य है। हम ऐसे स्वलक्षण का विचार कर सकते हैं। यह कह सकते हैं कि *इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का कोई भी विशेषण उस पर लागू नहीं होता अर्थात् स्वलक्षण* दिक् और काल से परे हैं और अपरिवर्तनशील हैं। स्वलक्षण पर एक भी श्रेणी लागू नहीं की जा सकती क्योंकि हमें उसके समान किसी वस्तु का ज्ञान नहीं है। यदि प्रत्यक्ष हमें उपयोजन करने का अवसर न दे तो हम यह कभी नहीं जान सकेंगे कि द्रव्य की धारणा से संवेदनशीलता रखने वाली किसी वस्तु की सत्ता है भी अथवा नहीं। अतः स्वलक्षणों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष हमें अन्धकार में छोड़ देता है।

वस्तुतः स्वलक्षण की धारणा अज्ञेय है। किन्तु उसकी धारणा आत्म-विरोधी नहीं है क्योंकि हम निश्चय-पूर्वक यह नहीं कह सकते कि दृश्य व्यवस्था (Phenomenal order) ही संभव व्यवस्था है। हमें संवेदनशील वस्तुओं का ही संवेदनीय ज्ञान हो सकता है, न कि स्वलक्षणों का। स्वलक्षणों की धारणा को कान्ट अलौकिक स्वरूप (Noumenon) कहता है जिसे इन्द्रियों से कभी नहीं जाना जा सकता, हालाँकि उसके बारे में चिन्तन किया जा सकता है। बुद्धि जिस-जिस बात का चिन्तन करती है इन्द्रियाँ उनमें से हरेक बात को नहीं जान सकतीं। अतः इन्द्रियाँ केवल लौकिक जगत् : प्रपंच (Phenomenon) को ही जान सकती हैं, न कि अलौकिक, स्वलक्षण (Noumenon) को। प्रपंच ज्ञेय है, जबकि स्वलक्षण अज्ञेय है।

इस दृष्टि से कान्ट कहता है कि मैं वस्तुओं को उनके स्वलक्षण में न जानकर उन्हें जैसी वे प्रतिभासित होती हैं वैसा जानता हूँ। इसी तरह मैं अहम् के प्रतिभास को ही जानता हूँ, उसके स्वलक्षण को नहीं। मुझे अपने अस्तित्व के बारे में बोध है किन्तु अपने अस्तित्व का बोध होना अपने अहम् का ज्ञान होना नहीं है। ज्ञान के लिए आवश्यक है कि आत्मा या अहम् का प्रत्यक्ष हो जो असंभव है। मुझे अपने अहम् (Ego) का कोई ज्ञान नहीं है क्योंकि उसका कोई संवेदन या प्रत्यक्ष नहीं है। मुझे उसका बौद्धिक अन्तर्ज्ञान भी नहीं होता। यद्यपि प्रत्यक्ष के रूप में मैं अपने अहम् को नहीं जान सकता किन्तु उसके बारे में सोच सकता हूँ। कान्ट यह मानता है कि आत्मा या अहम् (Self) की सत्ता है क्योंकि उसके बिना ज्ञान असंभव है। उसकी ज्ञान विषयक सारी धारणा ऐसे ही अहम् के विचार पर आधारित है। आत्म-ज्ञान को संश्लेषणात्मक एकता (Synthetic unity of apperception) अहम् का आत्म-चेतन होना ही है। यह निश्चित है कि आत्म-चेतन अहम् (एकात्मक आत्मा-unified-self) के बिना ज्ञान नहीं हो सकता किन्तु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के रूप में इस अहम् को कभी नहीं जाना जा सकता।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि हमें जिस चीज का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका सार्वभौम तथा अनिवार्य प्रागनुभव ज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है कि अनुभव से परे तत्त्वज्ञान का सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। अतः स्वलक्षण, यह जगत् स्वयं में क्या है, तत्त्वज्ञान का विषय नहीं हो सकता। ऐसी तत्त्वसमीक्षा जो अप्रत्यक्षित बातों—इच्छा स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व, आदि पर आधारित हो, असंभव है। हम दृश्य जगत् की व्यवस्था का प्रागनुभव विज्ञान बना सकते हैं। गणित की अनिवार्यता दिक्-काल के रूपों पर निर्भर है। ज्योमेट्री प्रागनुभव दिक् (Space) प्रत्यक्ष पर आश्रित है और अंकगणित प्रागनुभव काल-प्रत्यक्ष की अभिव्यक्ति करने वाली संख्या की धारणा पर आधारित है। प्राकृतिक विज्ञान श्रेणियों पर निर्भर हैं। प्राकृतिक विज्ञान में हम द्रव्य और संयोग, कार्य-कारण अन्तःक्रिया आदि पर विचार करते हैं। गणित और भौतिक विज्ञान का हमें सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान हो सकता है किन्तु यह ज्ञान केवल प्रपंचात्मक वस्तुओं, दृश्य जगत्, उसके रूप और व्यवस्था का ही हो सकता है। हमें स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं हो सकता है। यहाँ ह्यूम सही है। कान्ट यह मानता है कि स्वलक्षणों का अस्तित्व तो है, पर उनके बिना संवेदनों की सही-सही व्याख्या नहीं हो सकती। दृश्य वस्तुओं के पीछे किसी ऐसी वस्तु की सत्ता होनी चाहिये जिसका प्रतिभास होता है, जो अमानसिक है, जो हमारी इन्द्रियों पर आघात करती है और हमारे ज्ञान की सामग्री जुटाती है। कान्ट इसी को स्वलक्षण कहता है और स्वलक्षणों की सत्ता में उसे बिल्कुल भी सन्देह नहीं है।

तत्त्वज्ञान की असम्भावना (Impossibility of Metaphysics)

सर्वप्रथम कान्ट का अभिप्राय सन्देहवादी ह्यूम के विरुद्ध यह दिखाना था कि गणित तथा भौतिक विज्ञान में प्रागनुभव ज्ञान हो सकता है और दूसरे लाइबनित्ज और वोल्फ जैसे रूढ़िवादियों के विरुद्ध यह बतलाना था कि हमें तत्त्वज्ञान में अनुभवातीत वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता और इस अर्थ में तत्त्वसमीक्षा असंभव है। किन्तु, काण्ट ने जो तत्त्वज्ञान का खण्डन किया है वह निरपेक्ष नहीं है। वह कई अर्थों में तत्त्वज्ञान को संभव मानता है जैसे ज्ञान की धारणा के अध्ययन, प्रकृति के नियमों और रूपों का निरपेक्ष ज्ञान, नैतिकता के नियमों या रूपों का निरपेक्ष ज्ञान, नैतिकता के नियमों पर आधारित आध्यात्मिक जगत् के ज्ञान, और विश्व की परिकल्पना की सम्भाव्यता के निश्चित मान के रूप में ज्ञान। कान्ट तत्त्वज्ञान के उन बौद्धिक आधारों का खण्डन करता है जिनको बुद्धिवादियों ने प्रस्तुत किया है।

बुद्धि उसी को जान सकती है जिसका अनुभव होता है। किन्तु बुद्धि (तर्क) अपनी सीमाओं से आगे बढ़कर प्रत्यक्ष का विषय न होने वाली अतीन्द्रिय वस्तुओं की धारणा बनाने का प्रयास करती है जिन पर हम विचार मात्र ही कर सकते हैं। बुद्धि को विचार और सवेदन में भ्रान्ति होती है और इस प्रकार वह तरह-तरह की अनिश्चितताओं, संदिग्ध अर्थों, भ्रान्त अनुमानों और विरोधों में पड़ जाती है। अनुभवातीत वस्तुओं के तत्त्वज्ञान में यही होता है। जो बात अनुभव में सार्थक है वही अनुभवातीत में निरर्थक हो जाती है। कारण-कार्य, द्रव्य और संयोग की धारणाओं का प्रयोग जब हम दृश्य-जगत् पर करते हैं तो वह सही है। किन्तु अलौकिक जगत् पर उन्हें लागू करना निरर्थक है। तत्त्वज्ञान यह दोष करता है कि वह प्रपंच (Phenomenon) और स्वलक्षण (Noumenon) में भेद नहीं कर पाता। वह दृश्य जगत् की सार्थक धारणाओं को अलौकिक जगत् पर लागू करके भ्रम उत्पन्न कर देता है। यह भ्रम सामान्य दोषों से भिन्न है। कान्ट इसे अनुभवातीत भ्रम (Transcendental Illusion) कहता है। अनुभव की सीमाओं में जिन सिद्धान्तों का प्रयोग होता है वह उन्हें आन्तरिक (Immanent) सिद्धान्त मानता है और जो इन सीमाओं का उल्लघन करने वाले सिद्धान्त हैं, काण्ट उन्हें अनुभवातीत (Transcendent) सिद्धान्त, बुद्धि की धारणाएँ या प्रत्यय कहता है। तर्क के भ्रमों का घटित होना आवश्यक है क्योंकि जो अनुभव की सीमाओं मे है तर्क उससे परे चला जाता है। इस प्रकार भ्रमों को नष्ट नहीं किया जा सकता। यद्यपि हम उनसे छुटकारा नहीं पा सकते किन्तु उनको समझ लेने के पश्चात् उनके धोखे से बचा जा सकता है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में, यदि बुद्धि (Reason) की भली-भाँति परीक्षा की जाये तो अनेक प्रकार के दोष-संदिग्ध अर्थ, असंगत अनुमान, और आत्यन्तिक-विरोध, मिलते हैं। पहले बतलाया जा चुका है कि बोध मन या बुद्धि के अधिकरण का नाम

है जिसके द्वारा हम अपने अनुभवों को नियमों के अनुसार एकरूपता में सम्बन्धित करके अनेक निर्णयों तक पहुँचते हैं। ये निर्णय और भी अधिक व्यापक प्रागनुभव धारणाओं के अन्तर्गत लाए जा सकते हैं। वोध के नियमों को उच्च सिद्धान्तों के अन्तर्गत लाने का काम बुद्धि करती है जो मन का अधिकरण है। इस अर्थ में बुद्धि वोध के निर्णयों को एकता प्रदान करती है। किन्तु ये बुद्धि के लिये मितव्ययिता या सुविधा के आत्मगत नियम हैं। यह सर्वोपरि बुद्धि (तर्कना) वस्तुओं के बारे में नियम निर्धारित नहीं करती, न यही व्याख्या करती है कि हमें उनका ज्ञान कैसे होता है।

इस प्रकार बुद्धि समस्त मानसिक क्रियाओं को आत्मा के प्रत्यय (Idea of a Soul) की श्रेणी में ले आती है जिसे बौद्धिक मनोविज्ञान कहते हैं या समस्त भौतिक घटनाओं को प्रकृति के प्रत्यय के रूप में ले आती है जिसे बौद्धिक सृष्टि-शास्त्र कहते हैं या फिर सारी घटनाओं को ईश्वर के प्रत्यय के अन्तर्गत ले आती है जिसे बौद्धिक धर्मशास्त्र कहा जाता है। किन्तु ऐसे प्रत्यय अनुभवातीत होते हैं जिनका व्यावहारिक निरीक्षण नहीं किया जा सकता और न उसके समान कोई उदाहरण ही दिया जा सकता है। इसलिये हम मूर्त रूप में एक निरपेक्ष पूर्णता के प्रत्यय का कभी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। यह ऐसी समस्या है जिसका कोई समाधान नहीं है। किन्तु बुद्धि का निर्देशन करने के लिये इन प्रत्ययों का अपना महत्त्व है; वे बुद्धि को ज्ञान की खोज में आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करते हैं।

बौद्धिक मनोविज्ञान (Rational Psychology)

इस निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक ही है कि जब कोई ज्ञाता. चेतन-आत्मा अथवा सोचने वाला न हो, ज्ञान असंभव है। एक चेतनता में केन्द्रित हुए विना ज्ञान असंभव है। बिना चिंतनशील विषयी के जो उद्देश्य और विधेय के बारे में सोचता है ज्ञान संभव नहीं हो सकता। किन्तु कान्ट का कहना है कि हमें यह अनुमान लगाने का अधिकार नहीं है कि ऐसे ज्ञाता की निरपेक्ष सत्ता है और वह समस्त परिवर्तनों में अपरिवर्तित रहने वाला साधारण, अविभाज्य, आत्म-द्रव्य है। इस प्रकार चिन्तन करने से बौद्धिक मनोविज्ञान पूर्ववाक्यों से असंगत निष्कर्ष निकालता है। मनोविज्ञान में, आत्मा, विषयी तथा अहम् का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है और इस प्रकार मनोविज्ञान एक ऐसे दोष में पड़ जाता है जिसे कान्ट न्यायविरोधी तर्क (Paralogism) कहता है। बौद्धिक मनोविज्ञान हमारे ज्ञान में वृद्धि नहीं करता। साथ-साथ हमें अनात्म भौतिकवाद तथा निराधार अध्यात्मवाद को अपनाने से भी रोकता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से, हम अमर-आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। यहाँ बुद्धि हमें निरर्थक चिंतन से बचाकर अपने आत्म-ज्ञान का नैतिक प्रयोग करने का संकेत करती है।

बौद्धिक सृष्टिशास्त्र (Rational Cosmology)

बुद्धि समस्त प्रपंच, दृश्य जगत् की वाह्यगत शर्तों (Objective conditions) को एक ही सर्वोच्च अशर्त तत्त्व या सिद्धान्त में आत्मसात् करने की चेष्टा करती है। हम सम्पूर्ण प्रकृति या विश्व का एक प्रत्यय बना लेते हैं जिसे हम समस्त अस्तित्व का आधार मानते हैं या हम दृश्य जगत् में ही अशर्त, निरपेक्ष तत्त्व, की खोज करते हैं। स्पष्टतः लोग इन दोनों दशाओं में कार्य-कारण मूलक (Cosmological) प्रत्ययों का निर्माण करते हैं और अपने आपको विभिन्न प्रकार के प्रतिवादों (Antitheses) में फँसा लेते हैं जिन्हें कान्ट अधिकार-विरोध (Antinomies) कहता है। अधिकार विरोध ऐसे सूक्ष्म वाक्य हैं जिन्हें न तो अनुभव द्वारा सिद्ध किया जा सकता है और न उनका खण्डन ही सम्भव है। वाद (Thesis) विरोध से मुक्त होता है और अपनी जड़ तर्क को अनिवार्यता में रखता है, किन्तु प्रतिवाद (Antithesis) में भी अनिवार्य तथा प्रामाणिक आधार प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

कान्ट के अनुसार, चार प्रकार के अधिकार विरोध (Antinomies) होते हैं जिनमें वाद (Thesis) और प्रतिवाद (Antithesis) दोनों को सिद्ध किया जा सकता है। *यह सिद्ध किया जा सकता है कि (1) जगत् का काल में प्रारम्भ है* और काल में उसका कोई प्रारम्भ नहीं है या शाश्वत है; जगत् दिक् में सीमित है और असीम भी है; (2) वस्तुएँ असीम रूप से विभाज्य हैं और नहीं भी हैं और उनमें ऐसे निरवयव अंश (परमाणु) हैं जिनका विभाजन नहीं हो सकता; (3) जगत् में स्वतन्त्रता है और जगत् की प्रत्येक घटना प्रकृति के नियम के अनुसार घटित होती है, (4) जगत् में उसके कारण या अंश की हैसियत से निरपेक्ष अनिवार्य सत्ता है अथवा जगत् के अन्दर या बाहर उसके कारण के रूप में ऐसी निरपेक्ष सत्ता नहीं है।

इन चारों अधिकार–विरोधों में दो-दो पक्ष हैं—वाद और प्रतिवाद। कान्ट कहता है कि जो चतुर लोग हैं वे अपने हित के अनुसार एक पक्ष को रुचिकर बना लेते हैं और उसे स्वीकार करके तदनुसार निष्कर्षों का अवतरण करते हैं। अपनी सही रुचि को जानने वाला हरेक विचारशील व्यक्ति वाद में कोई व्यावहारिक रुचि अवश्य रखता है। जगत् का आदि है, विचार करने वाला विषयी निरवयव और अविनाशी है, जगत् को निर्मित करने वाली सारी व्यवस्था का मूल एक मौलिक सत्ता है जो प्रत्येक वस्तु की एकता और उद्देश्य का आधार है। इन्हीं के आधार पर नीति तथा धर्म का निर्धारण किया जाता है। अनुभववाद या प्रतिवाद में इन आधारों को स्वीकार नहीं किया जाता। इस प्रकार वाद में विश्वास करने वालों के सारे नैतिक प्रत्ययों और सिद्धान्तों की सत्यता नष्ट हो जाती है।

इन वादों में एक सैद्धान्तिक रुचि भी है। यदि वाद (Thesis) में अनुभावातीत प्रत्ययों को स्वीकार कर लिया जाता है तो एक पूर्वानुभव (a priori) शृंखला

सी बन जाती है और अशर्त से हम शर्तों पर आधारित बातों का अवतरण कर लेते हैं। प्रतिवाद की मान्यता से यह काम नहीं होता। यदि अनुभववादी वाद की मान्यताओं को जल्दबाजी कहते तो उनकी बात ठीक थी और यह मान लेते कि निरपेक्ष ज्ञान की अभिलाषा निरर्थक है। किन्तु अनुभववाद अपने प्रति-उत्तर को प्रामाणिक मान लेता है और बुद्धि को उसकी अभिलाषाओं से वंचित कर देता है। साथ-साथ वह हमारे व्यावहारिक हितों के सैद्धान्तिक आधार को नष्ट कर देता है। अनुभववाद की यह बात बिल्कुल ठीक है कि बौद्धिक अन्तर्दृष्टि या विज्ञान के दावे इतने प्रामाणिक नहीं हैं जितने उन्हें माना जाता है क्योंकि सच्चे अनुमानिक ज्ञान का विषय अनुभव ही होता है। किन्तु अनुभववाद स्वयं रूढ़िवादी बन जाता है और अन्तर्ज्ञान (Intuitive Knowledge) के क्षेत्र में से बाहर जाने वाली चीजों को अस्वीकार कर बुद्धि को व्यावहारिक रुचियों पर गहरा आघात करता है।

कान्ट इन अधिकार-विरोधों में आने वाली कठिनाइयों का समाधान भी प्रस्तुत करता है, वह कहता है कि प्रतिवाद का सम्बन्ध प्रपंच (Phenomenal world) से है, जबकि वाद का सम्बन्ध स्वलक्षण या अलौकिक (Noumenon) से है। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है और वे अपने-अपने क्षेत्र में सत्य हैं। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् का काल में कोई प्रारम्भ नहीं है और न दिक् में अति-सीमा है। हमें कभी भी निरपेक्ष सीमाओं का अनुभव नहीं होता। किन्तु कोई अलौकिक (non-spatial) जगत भी हो सकता है जिसमें निरपेक्ष निरवयव और आध्यात्मिक अस्तित्वों की सत्ता हो। यह कोई बात नहीं कि यदि दृश्य जगत् में सीमा असम्भव है तो अन्य जगत् में भी असम्भव हो। ऐसा भी हो सकता है कि संसार का आदि हो, उसकी सृष्टि की गई हो और कुछ सीमाएँ हों। किन्तु फिर भी काल और दिक् में हमें आध्यात्मिक सत्ताओं को ढूँढ़ने का अधिकार नहीं है।

इसी तरह कान्ट के कारण सम्बन्धी अधिकार-विरोध (Causal antimony) का समाधान भी प्रस्तुत किया। दृश्य जगत् में प्रत्येक घटना का कारण होता है और प्रत्येक वस्तु अपने ही समान वस्तु की अपेक्षा रखती है। कारण-कार्य शृंखला में कोई उल्लंघन नहीं होता। हमें इस शृंखला के अन्त तक जाना चाहिये। फिर भी हम यह सोच सकते हैं कि प्रपंचात्मक जगत् की वस्तुओं की पारमार्थिक स्थिति (Noumenal Condition) भी हो सकती है अर्थात् दृश्य जगत् के अतिरिक्त कोई ऐसा जगत् है जिस पर यह आधारित है। बुद्धि की दृष्टि से यह बात निश्चित है कि हमें इन्द्रिय जगत् में कोई स्वतन्त्र कारण नहीं मिल सकता। अतः अनुभव से हम स्वतन्त्रता के प्रत्यय का अवतरण नहीं कर सकते। यह अनुभवातीत प्रत्यय है क्योंकि बुद्धि इसे अनुभव से स्वतन्त्र होकर उत्पन्न करती है। यदि इन्द्रिय सापेक्ष जगत् का कारण प्राकृतिक कारण मात्र ही हो तो यह देख सकना आसान है कि प्रत्येक घटना किसी अन्य की अनिवार्य अपेक्षा करेगी, हरेक क्रिया प्रकृति की किसी घटना का

बौद्धिक सृष्टिशास्त्र (Rational Cosmology)

बुद्धि समस्त प्रपंच, दृश्य जगत् की बाह्यगत शर्तों (Objective conditions) को एक ही सर्वोच्च अशर्त तत्त्व या सिद्धान्त में आत्मसात् करने की चेष्टा करती है। हम सम्पूर्ण प्रकृति या विश्व का एक प्रत्यय बना लेते हैं जिसे हम समस्त अस्तित्व का आधार मानते हैं या हम दृश्य जगत् में ही अशर्त, निरपेक्ष तत्त्व, की खोज करते हैं। स्पष्टतः लोग इन दोनों दशाओं में कार्य-कारण मूलक (Cosmological) प्रत्ययों का निर्माण करते हैं और अपने आपको विभिन्न प्रकार के प्रतिवादों (Antitheses) में फँसा लेते हैं जिन्हें कान्ट अधिकार-विरोध (Antinomies) कहता है। अधिकार विरोध ऐसे सूक्ष्म वाक्य हैं जिन्हें न तो अनुभव द्वारा सिद्ध किया जा सकता है और न उनका खण्डन ही सम्भव है। वाद (Thesis) विरोध से मुक्त होता है और अपनी जड़ तर्क को अनिवार्यता में रखता है, किन्तु प्रतिवाद (Antithesis) में भी अनिवार्य तथा प्रामाणिक आधार प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

कान्ट के अनुसार, चार प्रकार के अधिकार विरोध (Antinomies) होते हैं जिनमें वाद (Thesis) और प्रतिवाद (Antithesis) दोनों को सिद्ध किया जा सकता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि (1) जगत् का काल में प्रारम्भ है और काल में उसका कोई प्रारम्भ नहीं है या शाश्वत है, जगत् दिक् में सीमित है और असीम भी है; (2) वस्तुएँ असीम रूप से विभाज्य हैं और नहीं भी हैं और उनमें ऐसे निरवयव अंश (परमाणु) हैं जिनका विभाजन नहीं हो सकता; (3) जगत् में स्वतन्त्रता है और जगत् की प्रत्येक घटना प्रकृति के नियम के अनुसार घटित होती है, (4) जगत् में उसके कारण या अंश की हैसियत से निरपेक्ष अनिवार्य सत्ता है अथवा जगत् के अन्दर या बाहर उसके कारण के रूप में ऐसी निरपेक्ष सत्ता नहीं है।

इन चारों अधिकार–विरोधों में दो-दो पक्ष हैं–वाद और प्रतिवाद। कान्ट कहता है कि जो चतुर लोग हैं वे अपने हित के अनुसार एक पक्ष को रुचिकर बना लेते हैं और उसे स्वीकार करके तदनुसार निष्कर्षों का अवतरण करते हैं। अपनी सही रुचि को जानने वाला हरेक विचारशील व्यक्ति वाद में कोई व्यावहारिक रुचि अवश्य रखता है। जगत् का आदि है, विचार करने वाला विषयी निरवयव और अविनाशी है, जगत् को निर्मित करने वाली सारी व्यवस्था का मूल एक मौलिक सत्ता है जो प्रत्येक वस्तु की एकता और उद्देश्य का आधार है। इन्हीं के आधार पर नीति तथा धर्म का निर्धारण किया जाता है। अनुभववाद या प्रतिवाद में इन आधारों को स्वीकार नहीं किया जाता। इस प्रकार वाद में विश्वास करने वालों के सारे नैतिक प्रत्ययों और सिद्धान्तों की सत्यता नष्ट हो जाती है।

इन वादों में एक सैद्धान्तिक रुचि भी है। यदि वाद (Thesis) में अनुभवातीत प्रत्ययों को स्वीकार कर लिया जाता है तो एक पूर्वानुभव (a priori) शृंखला

अनिवार्य प्राकृतिक परिणाम होगी। अनुभवातीत स्वतन्त्रता से इन्कार करना व्यावहारिक या नैतिक स्वतन्त्रता को नष्ट करना होगा। व्यावहारिक स्वतन्त्रता इस बात पर निर्भर है कि यद्यपि स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं है किन्तु उसकी व्यावहारिक उपयोगिता अधिक है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता को अपने दृश्य कारण की बिल्कुल अपेक्षा नहीं है। अनुभवातीत स्वतन्त्रता के संभव होने पर व्यावहारिक स्वतन्त्रता भी संभव है : पशुओं के संकल्प के विरुद्ध हमारा संकल्प इन्द्रियों के वशीभूत नहीं भी हो सकता है।

इस प्रकार कान्ट स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अनिवार्यता का समन्वय करने का प्रयास करता है। हम अलौकिक जगत् (Noumenon) को दृश्य जगत् (Phenomenon) का कारण मान सकते हैं। स्वलक्षणों या अलौकिक कारणों का प्रत्यक्ष तो नहीं होता किन्तु उनकी क्रियायें (effects) दृश्य जगत् में दृष्टिगोचर होती हैं। वही और उसी घटना को यदि काल-दिक् के दृश्य जगत् का अंश समझा जाये तो वह कारण श्रृंखला की कड़ी होगी। यदि उसे अप्रत्यक्षगत स्वलक्षण की क्रिया समझा जाये तो वह इन्द्रिय सापेक्ष जगत् में कार्यों (Effects) को अपने आप उत्पन्न करने वाले स्वतन्त्र कारण की क्रिया होगी। संक्षेप में, एक दृष्टि से वह घटना प्रकृति का कार्य है और दूसरी दृष्टि से स्वतन्त्रता का परिणाम है।

इन बातों को मानव प्राणी पर भी घटा कर देखा जा सकता है। इन्द्रिय और बोध द्वारा देखने पर मनुष्य प्रकृति का अंश है। इस दृष्टि से वह अनुभवाश्रित जगत् का प्राणी है और कारण-कार्य श्रृंखला की एक कड़ी है। किन्तु यथार्थ में मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी हैं। उस पर इन्द्रिय-रूपों (Sense-forms) का उपयोजन नहीं हो सकता। वह कर्मों को उत्पन्न कर सकता है। उसे अपनी इस शक्ति का बोध है और इसलिए उस पर उत्तरदायित्व भी है। बुद्धि या मनुष्य, जैसा कि वह अपने वास्तविक रूप में है, अपने समस्त इच्छित कार्यों की ध्रुव शर्त है। अनुभवाश्रित भाव बौद्धिक भाव की ऐन्द्रिक व्यवस्था है। वह मनुष्य को मूर्त और दृश्य जगतीय बनाने का ढंग है। अन्य शब्दों में, दृश्य जगत् की चीज न होने से मानवी बुद्धि संवेदन की अवस्थाओं (दिक्-काल-कारण) से परे है। इसलिए हम उसके प्राकृतिक कारण की व्याख्या नहीं कर सकते। वह स्वयं हर वस्तु का कारण है। इससे कान्ट का अभिप्राय है कि प्रत्येक ऐच्छिक काम शुद्ध बुद्धि का सीधा परिणाम है। अतः मनुष्य स्वतन्त्र कर्ता है। वह प्राकृतिक कारणों की श्रृंखला की कड़ी नहीं है। किन्तु यदि काम को दृश्य जगत् की घटना समझा जाये तो वह सर्वथा निर्धारित होगा। मनुष्य अपने आप में स्वतन्त्र कर्ता है। वह कार्यों को उत्पन्न करता है किन्तु जब मन इन कामों को देखता है तो वह उनको कारण के ताने-बाने में बुनकर उनके आगे और पीछे किसी चीज को रखकर उनकी किसी विशेष प्रवृत्ति, प्रत्यय, शिक्षा, प्राकृतिक सम्मान आदि का कार्य बना देता

है। किन्तु उस काम का वास्तविक कारण बुद्धि है, क्रियाएँ मनुष्य के बौद्धिक भाव के कारण होती हैं।

कान्ट ने अनिवार्य और आकस्मिक (Necessary and Contingent) के अधिकार विरोध का समाधान भी किया। दृश्य जगत् में, बुद्धि किसी वस्तु को अनिवार्य या स्वतन्त्र मानने से इन्कार करती है। प्रत्येक वस्तु आकस्मिक और एक दूसरे पर निर्भर है। किन्तु इससे इस बात का खण्डन नहीं होता कि यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् किसी स्वतंत्र अनुभव-निरपेक्ष बुद्धिमय सत्ता पर निर्भर हो सकता है जो स्वयं दृश्य जगत् की संभावना का आधार है। हम इन्द्रिय सापेक्ष सम्पूर्ण जगत् को किसी बुद्धिमय सत्ता की अभिव्यक्ति मान सकते हैं जो द्रव्य और अनिवार्य सत्ता है जिसके बिना किसी वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती और जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए: क्योंकि दृश्य जगत् की व्याख्या के लिए बुद्धिगम्य सत्ता व्यर्थ है इसलिए वह असभव है। दृश्य जगत् पर हम इन्द्रिय सापेक्ष ढंग से ही विचार कर सकते हैं। किन्तु विचार करने का अकेला वही ढंग नहीं है। हम अन्य सत्ता की व्यवस्था, स्वलक्षण की व्यवस्था, इन्द्रिय-निरपेक्ष विचार वस्तुओं की धारणा भी बना सकते हैं। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली वस्तुओं से अलग हम अन्य वस्तुओं की धारणा भी कर सकते हैं जिन पर हम विचार कर सकते हैं। हम किसी बुद्धिमय चीज को मानने पर विवश हैं जिस पर यह दृश्य जगत् आधारित है किन्तु ऐसी वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के बारे में हम जानते कुछ नहीं।

बौद्धिक धर्मशास्त्र (Rational Theology)

हम समस्त अनुभवाश्रित जगत् का प्रत्यय बना लेते हैं जिसे हम वस्तुओं की व्यवस्था, जगत् या प्रपंच कहते हैं, जिसे हम अपने से पृथक् मानते हैं। किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि वह अपना ही प्रत्यय है जिसका हम अस्तित्व मान बैठते हैं। इसे हम व्यक्तिगत वस्तु की भांति मान लेते हैं जिसमें समस्त सत्ता है और उसे सबसे यथार्थ, सर्वोपरि, निरपेक्ष, शाश्वत और निरवयव वास्तविकता समझते हैं। कान्ट इस प्रत्यय को अनुभवातीत धर्मशास्त्र या ईश्वरवाद का आदर्श कहता है। किन्तु सबसे यथार्थ सत्ता के आदर्श भी प्रत्यय मात्र है। सर्वप्रथम हम उसको दृश्य जगत् का विषय बना लेते हैं। फिर उसका अस्तित्व मान बैठते हैं और उसे मानवी रूप दे देते हैं।

ईश्वर की सत्ता के लिए मुख्यतः तीन प्रमाण दिए जाते हैं:—भौतिक धर्मशास्त्रीय (Physico-theological), कार्य–कारण मूलक (Cosmological) और तत्त्वमूलक (Ontological), जिनको कान्ट बिल्कुल निरर्थक कहता है। पहले वह तत्त्वमूलक युक्ति का खंडन करता है। ऐसी चीज की धारणा जिसमें समस्त वास्तविकता सन्निहित हो उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती। अस्तित्व केवल धारणा मात्र से ही प्रमाणित नहीं हो जाता। कार्यकारण मूलक युक्ति में हम समस्त संभव अनुभव

(जगत् या विश्व) के प्रत्यय से एक अनिवार्य सत्ता को मान लेते हैं। ऐसी सत्ता को ईश्वर की धारणा के रूप में ही माना जा सकता है। किन्तु हमें यह कहने का अधिकार नहीं कि हम सोचते हैं, इसलिए निरपेक्ष अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व है। वास्तव में, यह तत्त्वमूलक युक्ति है जो दृश्य कार्य से अदृश्य कारण को सिद्ध करना चाहती है। ऐसे अनुमान का प्रपंच (दृश्य जगत्)के बाहर कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु कार्य-कारण मूलक युक्ति में उसका अनुभवातीत प्रयोग किया जाता है जो वर्जित है। लेकिन यह सोचा जा सकता है कि समस्त संभव कार्यों का ईश्वर कारण है ताकि अनेक कारणों की एकता की खोज में बुद्धि की सहायता की जा सके। किन्तु यह कहना कि ऐसे ईश्वर (Being)की सत्ता अनिवार्यतः है, अच्छी परिकल्पना की भाषा का उल्लंघन करना है। प्रपंच तथा ईश्वर की अनिवार्यता के बीच की खाई को मानवी बुद्धि से पाटा नहीं जा सकता।

भौतिक धर्मशास्त्रीय (Physico–theological) युक्ति में जगत् की प्रकृति और व्यवस्था से सर्वोपरि सत्ता का अनुमान लगाया जाता है। यह युक्ति भी संतोषजनक नहीं है। लेकिन जगत् की विविधता, व्यवस्था तथा नियमितता यह सुझाती है कि इससे भी अधिक कोई पूर्ण है जिसमें यह समस्त बातें सन्निहित हैं। ऐसा कारण हमारे सम्भव अनुभवों से अधिक पूर्ण होना चाहिए। ऐसे सर्वोच्च कारण की द्रव्य की भांति ईश्वर की मान्यता से हमें कोई चीज नहीं रोकती। कान्ट कहता है कि इस युक्ति का सम्मान किया जाना चाहिये क्योंकि वह अधिक प्राचीन और स्पष्ट है। वह मानवी बुद्धि के अनुरूप भी है। यह युक्ति प्राकृतिक प्रयोजन तथा उद्देश्य की खोज करती है। यह सादृश्यानुमान आधारित युक्ति है, क्योंकि उसमें मानव-कला-कृतियों के आधार पर ईश्वर की कृति, व्यवस्था, आदि का अनुमान लगाया जाता है। हम मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुओं के ही कारण और कार्य को पूरी तरह जानते हैं और यदि हमें कारण का नामकरण करना ही हो तो सादृश्यानुमान से कर सकते हैं। किन्तु बुद्धि को अपने ज्ञात कारण को छोड़कर व्याख्या के अज्ञात तथा अस्पष्ट सिद्धांतों को लेना पड़े तो यह संतोषजनक नहीं है। यह युक्ति उस जगत्-सृष्टा की स्थापना नहीं करती जिसका सारा जगत् प्रत्यय हो और हरेक वस्तु उसके प्रति उत्तरदायी हो। भौतिक-धर्मशास्त्रीय युक्ति अनुभव से कार्य-कारण मूलक युक्ति तक ले जाती है जो छिपे रूप में केवल तत्त्वमूलक युक्ति है। तत्व मूलक युक्ति ही, यदि उसको संभव माना जाये तो, एकमात्र युक्ति है।

कार्य-कारण सिद्धांत का अनुभव के क्षेत्र के बाहर न तो कोई अर्थ है और न ही उसका उपयोजन हो सकता है। इसलिये, जैसा कि कान्ट कहता है, जब तक हम नैतिक नियमों को आधार नहीं बनाते या उनसे शासित नहीं होते तब तक बौद्धिक धर्मशास्त्र नहीं हो सकता। बुद्धि के समस्त संश्लेषणात्मक सिद्धांतों का उपयोजन केवल आंतरिक भाव से अर्थात् दृश्य जगत् में ही हो सकता है। ईश्वर को

सत्ता तक पहुँचने के लिए हमें उनका उपयोजन अनुभवातीत रूप से करना पड़ता है जिसके लिए हमारी बुद्धि तैयार नहीं है। यदि हम अनुभव की सीमाओं के बाहर भी कारण का उपयोग करें तो भी हम ईश्वर की धारणा नहीं बना सकते क्योंकि हम ईश्वर की सत्ता का अनुमान करने के लिए सब संभव कार्यों के उच्चतम कार्य का अनुभव कभी नहीं करते। अनुभवातीत धर्मशास्त्र से एक निषेधात्मक लाभ यह है कि वह बुराई पर सदा नियंत्रण लगाये रहता है और सारी नास्तिक अथवा मानव-केन्द्रित मान्यताओं का बहिष्कार करता है।

अनुभव में तत्त्वज्ञान का उपयोग (Use of Metaphysics in Experience)

यद्यपि अनुभवातीत प्रत्यय आवश्यक रूप से भ्रम उत्पन्न करते हैं, किन्तु वे बुद्धि के लिए उतने ही स्वाभाविक हैं जितना कि श्रेणियां बोध के लिए हैं। श्रेणियाँ सत्य की द्योतक हैं और हमारी धारणाओं की उनके विषय में सहमति दिखाते हैं। यदि हम सही ढंग से निर्देशन की खोज करें तो प्रत्येक अधिकरण का अपना प्रयोग है। बुद्धि और उसके प्रत्यय भी कोई अपवाद नहीं हैं। अनुभवातीत प्रत्ययों का, खोज की दिशा में आंतरिक महत्व होता है। किन्तु जब उन्हें यथार्थ वस्तुओं की धारणा मान लिया जाता है तब उनका उपयोजन अनुभवातीत तथा भ्रामक हो जाता है। विषयों की धारणा न होने के कारण, उनका कोई निर्माणात्मक प्रयोग नहीं है, उनका प्रयोग केवल नियमात्मक है अर्थात् वे बुद्धि को किसी उद्देश्य की ओर उन्मुख करते हैं। जिस तरह श्रेणियाँ विषयों की अनेकता में एकता लाती हैं उसी तरह अनुभवातीत प्रत्यय भी धारणाओं की अनेकता को एकता प्रदान करते हैं। प्रत्ययों द्वारा बुद्धि हमारे ज्ञान को व्यवस्थित करती है और एक सिद्धांत द्वारा उसको सम्बन्धित करती है। यह व्यवस्थित एकता तार्किक ही है। बुद्धि का काम एकता देते रहना है। प्रत्ययों द्वारा उत्पन्न यह व्यवस्थित एकता एक पद्धति है। पद्धति के रूप में उसकी तार्किक और आत्मगत अनिवार्यता है, बाह्यगत अनिवार्यता नहीं है। बहुत से तथाकथित वैज्ञानिक सिद्धांत प्रत्यय ही हैं जिनका परिकल्पनात्मक तथा पद्धति-युक्त मूल्य है, न कि वे निरपेक्ष सत्य हैं। प्रागनुभव भाव (A priori) से हम यथार्थता के रूपों को ही जान सकते हैं कि वह काल और दिक्मय हैं और वस्तुएँ कारण-कार्य में आबद्ध हैं। किन्तु मूलभूत कारणों, शक्तियों या द्रव्यों, या ऐसी एक ही शक्ति, कारण या द्रव्य का अस्तित्व परिकल्पना ही है। हम नहीं कह सकते कि इस तरह की एकता अनिवार्यतः है। किन्तु बुद्धि की खातिर हमें उसकी खोज करनी है ताकि वह ज्ञान में व्यवस्था ला सके।

प्रकृति अध्ययन से सम्बन्धित कुछ विद्यार्थी, विशेष रूप से काल्पनिक, प्रकृति की एकता और उसकी विभिन्नता में सादृश्य खोजने पर अधिक बल देते हैं। अन्य, जो मुख्यतः अनुभववादी हैं, प्रकृति को जातियों (Species) में विभक्त करने के पक्ष में होते हैं। बाद की प्रवृत्ति एक तार्किक सिद्धांत पर आधारित है जिसका मूल

उद्देश्य वर्गीकरण की व्यवस्थित पूर्णता है। प्रत्येक वर्ग (genus) की विभिन्न जातियाँ होती हैं और हरेक जाति में उपजातियाँ होती हैं। बुद्धि किसी जाति को अपने आप में निम्नतर नहीं मानने देती। यहाँ हमें दो नियम मिलते हैं—सजातीयता का नियम (Law of homogeneity) और विशिष्टीकरण का नियम (Law of specification)। इनमें से कोई भी अनुभव से प्राप्त नहीं होता किन्तु वैज्ञानिक खोज की अभिवृद्धि में वे लाभप्रद हैं। जाति (genus) और उपजाति (species) के मध्य जातियों की भी संभावना होती है। यह जातियों की निरन्तरता का नियम (Law of Continuity) कहा जाता है। एक से दूसरे तक संक्रमण छलांग के रूप में न होकर भेद के सूक्ष्मतर अंशों से होता है। यह नियम प्रकृति के अनुभवातीत नियम (प्रकृति में निरन्तरता का नियम) की पूर्व-कल्पना करता है जिसके बिना संभवतः बुद्धि प्रकृति के मार्ग के विपरीत जाकर गुमराह हो जाये। किन्तु रूपों की यह निरन्तरता भी केवल प्रत्यय मात्र ही है जिसके समान अनुभव में कोई चीज नहीं मिल सकती। वस्तुतः प्रकृति में जातियाँ विभक्त होती हैं। यह नियम सामान्यतः बुद्धि का निर्देशन करता है; उसका किसी वस्तु विशेष से प्रसंग नहीं होता। दोनों सिद्धांतों—एकता और भेद—को आसानी से मिलाया जा सकता है और जब तक हम उन्हें बाह्यगत नहीं समझते, सत्य की खोज में उनका अधिक महत्त्व है। किन्तु जब हम उन्हें तात्त्विक सत्यों के रूप में समझते हैं, उनसे विरोध उत्पन्न होता है और सत्यान्वेषण में वे बाधाएँ बन जाते हैं।

प्रत्ययों की बाह्यगत सत्यता एक विशेष अर्थ में होती है। इस अर्थ में नहीं होती कि हम अनुभव में उनसे प्रसंग रखने वाली वस्तु पा सकते हैं। अनुभव में, हम सर्वोच्च वर्ग, निम्नतर जातियां या असंख्यक मध्यस्थ संक्रमक-जातियों को नहीं देख पाते। उनमें बाह्यगत सत्यता इस अर्थ में होती है कि उनका विषय बुद्धि (Understanding) है और वे उस बुद्धि को नियम देते हैं। वे बुद्धि के अनुकरण के लिए मार्ग या पद्धति की रूपरेखा बनाते हैं और कहते हैं: निम्नतर जातियों के लिए सर्वोच्च वर्ग (Highest genus) की खोज में सदा लगे रहो और मध्यस्थ उपजातियों की निरन्तर शृंखला को देखो। इस प्रकार अनुभव के विषयों पर अपरोक्ष प्रभाव पड़ता है। वे बोध की प्रक्रियाओं में एकरूपता या दृढ़ता लाते हैं।

ईश्वर की सत्ता के प्रत्यय का मूल उद्देश्य केवल इतना ही है कि हमारी बुद्धि के आनुभविक प्रयोग में व्यवस्थित एकता बनी रहे। हमारे अनुभव के विषय के आधार या कारण का प्रत्यक्ष हमें अपने ज्ञान को व्यवस्थित करने में सहायता करता है। मनोवैज्ञानिक, कार्यकारणमूलक और ईश्वरवादी प्रत्ययों से प्रसंग रखने वाली न तो कोई वस्तु होती है और न ही उसका गुण है, किन्तु प्रत्यय में ऐसी वस्तु की मान्यता से हम किसी विरोध के बिना अपने ज्ञान को व्यवस्थित करने और बढ़ाने की ओर अग्रसर होते हैं। अतः इस प्रकार के प्रत्ययों के अनुसार चलना

बुद्धि का अनिवार्य नियम है। अपने तथ्यों को एकता देने के लिये हमें मनोविज्ञान में अपनी सारी आन्तरिक घटनाओं को इस तरह सम्बन्धित करना चाहिये मानो हमारी आत्मा (कम से कम इस जीवन में) वैयक्तिक तादात्म्य रखने वाला कोई स्थायी निरवयव द्रव्य हो। इसी प्रकार सृष्टिशास्त्र में समस्त प्राकृतिक घटनाओं की शर्तों की एकता की खोज करनी चाहिये और धर्मशास्त्र में हमें यह मानकर कि अनुभव निरपेक्ष एकता देता है हरेक चीज को संभव अनुभव के सम्बन्ध में देखना चाहिए। (किन्तु वह एकता इन्द्रियों के जगत् पर निर्भर है और सदा उसकी अपेक्षा रखती है) किन्तु साथ-साथ हमें उसको इस प्रकार देखना चाहिये मानो सारी लौकिकता (इन्द्रिय-जगत्) की पूर्णता का उससे बाहर सर्वोपरि और निरपेक्ष आधार-स्वतन्त्र, मौलिक और सृजनात्मक बुद्धि है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुभवातीत प्रत्ययों के विषयों की यथार्थ सत्ता है किन्तु उनसे एकता मिलती है यह सदैव ध्यान में रहे।

अनुभवातीत प्रत्यय या सिद्धान्त मात्र मन की कल्पनाएँ न होकर बहुत लाभदायक और अनिवार्य आदर्श हैं। प्रत्ययों को कोई विषय दिये बिना, उसको वाह्यगत बनाए बिना, हम व्यवस्थित एकता की बात नहीं सोच सकते। किन्तु ऐसे विषय का कभी अनुभव नहीं होता। उसको एक समस्या की भांति संभाव्य रूप से मान लिया जाता है। व्यवस्थित एकता के आश्रय के लिये, किसी केन्द्र-बिन्दु की ओर तथा उससे बढ़ने के लिये हमें ईश्वर को मानना पड़ता है। यही बात आत्म-द्रव्य के प्रत्यय पर भी लागू होती है। आत्मा को स्वलक्षण (thing-in-itself) नहीं समझना चाहिये। उसे एक ऐसी सत्ता न समझा जाये जिसके बारे में कुछ न जाना जा सके। वह तो एक ऐसी चीज है जिसे हम अपने विचारों का आधार बना सकते हैं। वह एक ऐसा बिन्दु है जिसके साथ हम अपनी चेतनता की समस्त अवस्थाओं को सम्बन्धित कर सकते हैं। यदि हम प्रत्यय को प्रत्यय ही समझें तो हम मूर्त घटनाओं के अनुभवीय नियमों और अन्तर-इन्द्रिय (Inner–Sense) को प्राप्त वस्तुओं की व्याख्या में परिभ्रान्त नहीं होंगे और हम आत्मा की उत्पत्ति, विनष्टि और आवागमन जैसी रेतीली परिकल्पनाओं को नहीं मानेंगे।

मानवी ज्ञान संवेदन (Percepts) से प्रारम्भ होता है, धारणाओं (Concepts) तक जाता है और प्रत्ययों (Ideas) में समाप्त हो जाता है। इन तीनों तत्त्वों की दृष्टि से, उसमें ज्ञान का प्रागनुभव मूल होता है। पुनः इन तीनों तत्त्वों की दृष्टि से, पूर्ण आलोचना के पश्चात् यह पता लगता है कि बुद्धि, अपने कल्पनात्मक प्रयोग में, संभव अनुभव के क्षेत्र से परे कभी नहीं जा सकती। इसी प्रकार कान्ट के अनुसार. ज्ञान की प्रक्रिया में निम्नलिखित तीन शक्तियाँ काम करती हैं—

(1) **संवेदन की शक्ति** (The Faculty of Sensibility)—ज्ञान की मूल सामग्री हमें संवेदन से प्राप्त होती है। संवेदन प्रत्यक्ष की क्रिया है। जब कभी

हम कोई वस्तु देखते हैं तो हमें उसका प्रत्यक्षीकरण एक विशिष्ट देश-काल (Space-time) में होता है। समस्त प्रत्यक्षीकरण में देश तथा काल दो रूप उपस्थित होते हैं जो अनुभवाश्रित नहीं है। कान्ट उन्हें मन की शक्ति के द्वारा उत्पन्न मानता है। जैसा कि पीछे विश्लेषित किया जा चुका है, मानवी ज्ञान केवल अनुभव पर आधारित नहीं है उसमें मन भी सक्रिय रूप से भाग लेता है। संक्षेप में, ज्ञान की प्रक्रिया में प्रथम चरण संवेदन ही है।

(2) **बुद्धि की शक्ति** (The faculty of Understanding)—ज्ञान की प्रक्रिया में यह दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। संवेदन से प्राप्त सामग्री अव्यवस्थित होती है। अनुभव केवल संवेदन तक सीमित है जो पूर्ण ज्ञान नहीं कहा जा सकता। संवेदन से प्राप्त सामग्री को बुद्धि अपनी श्रेणियों के नियमानुसार व्यवस्थित करती है जिन्हें पहले ही सविस्तार बतलाया जा चुका है। संक्षेप में ज्ञान की सामग्री बाहर से आती है जबकि उसको रूप स्वयं मन से मिलता है। अतः ज्ञान की प्रक्रिया में अनुभव और बुद्धि दोनों परमावश्यक हैं।

(3) **विवेक शक्ति** (The faculty of Reasoning)—यह बुद्धि की शक्ति का ही परिणाम है। इस विवेक शक्ति के द्वारा कान्ट आत्मा, जगत् तथा ईश्वर की तीन धारणाओं की व्याख्या करता है। सामान्यतः अनुभव में हम इनका कोई अस्तित्त्व नहीं पाते हैं और न ही उनका कोई संवेदन होता है। किन्तु व्यावहारिक जगत् में अनेक प्रकार की विभिन्नताओं में एकता स्थापित करने के लिए, ऐसे प्रत्ययों को मानना आवश्यक है जिनके आधार पर आन्तरिक एकता, बाह्य एकता तथा सार्वभौम एकता को समझा जा सके। इस विषय में पहले विवेचन किया जा चुका है।

ज्ञान की ये शक्तियाँ जैसा कि कान्ट मानता है अनुभवपूर्व हैं। स्पष्टतः हमारे ज्ञान में बहुत सा अंश ऐसा भी है जो कि प्रागनुभव है। और इस प्रकार अनुभव के पश्चात् मिले ज्ञान से भिन्न है। संक्षेप में, कान्ट अपने समीक्षावाद के अनुसार, अनुभववाद तथा बुद्धिवाद दोनों ही ज्ञान के विशिष्ट पक्षों पर बल देता है।

प्रकृति में उद्देश्य का प्रयोग (Use of Teleology in Nature)

प्रकृति के चिन्तन में, बुद्धि जिन प्रत्ययों का प्रयोजन करती है, उनमें से एक उद्देश्य का प्रत्यय है अथवा प्रयोजनवादी प्रत्यय है। बुद्धि प्रकृति की पूर्णता की धारणा प्रकृति के अवयवों (Parts) की सहगामी गतिशील शक्तियों के कार्य की भांति करती है। किन्तु आवयविक (organic) वस्तुओं में अवयव (parts) अवयवी (whole) पर आधारित और रूप या योजना या अवयवी के प्रत्यय से निर्धारित जान पड़ते हैं। प्रत्येक अवयय साधन और साध्य दोनों ही है। वह अवयवी (whole) को संभव बनाने के लिये अवयवी के प्रत्यय से निर्धारित होता है। यहाँ फिर एक अधिकार-विरोध (ant.nomy) और द्वन्द्व (dialectic) उत्पन्न होता है। समस्त

भौतिक वस्तुओं का सृजन यांत्रिक नियमों से संभव है: यह वाद (Thesis) है। कुछ भौतिक वस्तुओं का सृजन यांत्रिक नियमों से संभव नहीं है: यह प्रतिवाद (antithesis) है। कान्ट का कहना है कि यदि हम इन सिद्धान्तों को निर्माणात्मक (constitutive) न मानकर नियमात्मक (regulative) मानें तो यह विरोध दूर हो सकता है। नियमात्मक अर्थ में, वाद हमें भौतिक प्रकृति में यांत्रिक कारणों की खोज करने को कहता है जहाँ भी वे संभव हों। प्रतिवाद हमें कुछ बातों में (और प्रकृति की सम्पूर्णता में भी) जहाँ यांत्रिक व्याख्या पर्याप्त नहीं लगती लक्ष्यात्मक (Final) कारणों या उद्देश्यों की खोज करने को कहता है। इन सिद्धान्तों से यह सिद्ध नहीं होता कि हम उनकी व्याख्या इसी भांति करते हैं कि कुछ प्राकृतिक चीजों की यांत्रिक व्याख्या नहीं हो सकती अथवा उनकी व्याख्या केवल यांत्रिक कारण से ही हो सकती है। मानवी बुद्धि यांत्रिक कारणों की खोज में संलग्न रहकर प्राकृतिक उद्देश्यों को कभी नहीं खोज सकती। किन्तु एक ही भौतिक-यांत्रिक शृंखला और प्रयोजनवादी शृंखला का एकीभाव एक ही सिद्धान्त या प्रकृति के अज्ञेय आन्तरिक आधार में करना असंभव नहीं है। हम अपनी बुद्धि के स्वभाव से, जिसे कान्ट विमर्शात्मक (Reflective) निर्णय कहता है, आवयविक जगत् (Organic world) को उद्देश्यात्मक समझने पर बाध्य है। किन्तु ऐसे उद्देश्य को हम अनुभव में कभी नहीं खोज पाते और न ही हमारे पास उसको देख सकने के लिये बौद्धिक अन्तर्ज्ञान है। हम किसी अन्धे अचेतन उद्देश्य को नहीं मान सकते क्योंकि यह 'हाइलॉजॉइज्म' (Hylozoism: कि समस्त पुद्‌गल में सजीवता सन्निहित है) हो जायेगा जिससे सारे प्राकृतिक दर्शन की मौत हो जायेगी। इस प्रकार का अन्ध उद्देश्य हमें अपने अनुभव में भी नहीं मिलता। यहाँ कान्ट जीवशक्तिवाद (Vitalism) का खण्डन करता है। या तो हमें आवयविकता (Organism) की एकता के कारण की खोज छोड़ देनी चाहिये या फिर उसकी धारणा चेतन सत्ता के रूप में करनी चाहिये। खोजकर्ता के लिए, प्रकृति के अध्ययन में निर्देशन मिलने में ही प्रयोजनवादी प्रत्यय का महत्त्व है। यह प्रत्यय मनुष्य को उस उद्देश्य के अन्वेषण में सहायता करता है जिसकी पूर्ति में हरेक साधन और वस्तु के सूक्ष्मतर भाग लगे रहते हैं। वह उसको उन निमित्त कारणों या साधनों की खोज में भी सहायता देता है जिनसे साध्य उद्देश्य की पूर्ति होती है। अतः प्रकृति की प्रयोजनवादी व्याख्या बुद्धि की अपरिहार्य प्रवृत्ति है जो कुछ लौकिक रूपों के चिन्तन से जाग्रत होती है किन्तु काम-चलाऊ काल्पनिक निर्देशक सिद्धान्त होने के अतिरिक्त अनुभव में उसका कोई उचित प्रयोग नहीं होता।

बुद्धि तथा नैतिक धर्मशास्त्र का व्यावहारिक प्रयोग (Practical use of Reason and Moral Theology)

हमारी बुद्धि को व्यवस्थित करने में प्रकृति का लक्ष्यात्मक उद्देश्य नैतिक है।

बुद्धि, चाहे काल्पनिक हो अथवा व्यावहारिक, तीन मूल प्रश्नों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है : मैं क्या जान सकता हूँ ? मुझे क्या करना चाहिये ? मैं किस बात की आशा कर सकता हूँ ? वैज्ञानिक दृष्टि से, हम यह कभी नहीं जान सकते कि ईश्वर स्वतंत्रता तथा अमर आत्मा का अस्तित्व है। इन समस्याओं में शुद्ध काल्पनिक रुचि बहुत कम है। यदि इन तीनों की सत्ता सैद्धांतिक दृष्टि से प्रमाणित भी कर दी जाये तो प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में खोज करने वालों को कोई सहायता नहीं मिलेगी। जहाँ तक सैद्धांतिक ज्ञान का सम्बन्ध है उनका कोई उपयोग नहीं है। उनका वास्तविक महत्व व्यावहारिक या नैतिक जीवन में है।

मानव बुद्धि नैतिक नियमों की अपेक्षा रखती है। नैतिक नियम अनिवार्य होते हैं। उनकी सत्ता को स्वीकार करके, उनको पूर्वपक्ष मानकर हम अनिवार्य ढंग से सैद्धांतिक चिंतन कर सकते हैं। नैतिक नियम मुझे इस प्रकार काम करने को कहते हैं कि मैं सुख का अधिकारी हो जाऊँ। यह अनिवार्य व्यावहारिक नियम है। क्योंकि बुद्धि ऐसा आदेश देती है, इससे यह फलित होता है कि मैं सुख के लिए आशा कर सकता हूँ। यह सैद्धांतिक चिंतन की अनिवार्यता है। नैतिकता तथा सुख दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है किन्तु उनका सम्बन्ध प्रत्यय में ही है। यदि ईश्वर प्राकृतिक व्यवस्था का जनक है तो इस बात की आशा करना कि यह प्राकृतिक व्यवस्था नैतिक व्यवस्था भी होगी, संभव है। यह भी संभव है कि इस व्यवस्था में नैतिकता के साथ सुख भी जुड़ा हो। हमारी बुद्धि हमें यह मानने के लिए बाध्य करती है कि हम नैतिक व्यवस्था के प्राणी हैं जहाँ सुख और नैतिकता में सम्बन्ध है।

किन्तु यह सम्बन्ध हमें दृश्य जगत् के अनुभव में कहीं नहीं मिलता। अनुभव केवल प्रपंच तक ही सीमित है। इसलिए हमें एक ऐसे भावी-जीवन में विश्वास करना पड़ता है जिसमें सुख और नैतिकता का अटूट समन्वय हो। अतः ईश्वर तथा भावी-जीवन, ऐसी दो पूर्व-मान्यताएँ हैं जिनको, विशुद्ध बुद्धि के सिद्धान्तों के अनुसार, हम पर बुद्धि द्वारा आरोपित नैतिक नियम से पृथक् नहीं किया जा सकता।

नैतिक धर्मशास्त्र हमें इस धारणा की ओर ले जाता है कि एक निरवयव, पूर्ण तथा बौद्धिक मौलिक सत्ता (Being) है। यह सत्ता सर्वशक्तिमान होनी चाहिये ताकि समस्त प्रकृति और नैतिकता का सम्बन्ध उस सत्ता के अन्तर्गत हो। उसे सर्वज्ञ होना चाहिए ताकि मनुष्य की आंतरिक नैतिक भावनाओं को जान ले और मनुष्य के मूल्य का पता लगा ले। उसे सर्वव्यापक होना चाहिए ताकि वह जगत् के सर्वोच्च सत् की सारी आवश्यकताओं के समीप रहे। उसे शाश्वत होना चाहिए ताकि प्रकृति और स्वतंत्रता का यह साम्य निरन्तर बना रहे। यदि इस जगत् का हमारी व्यावहारिक बुद्धि के साथ सामंजस्य स्थापित करना है तो यह मानना आवश्यक है कि उसकी निष्पत्ति सर्वोच्च सत् के प्रत्यय से हुई है। सद्गुण और सुख का मेल हमारी व्याव-

हारिक बुद्धि की मांग है । यदि हम जगत् में नैतिक उद्देश्य और जगत् के पीछे इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाली नैतिक सत्ता को स्वीकार न करें तो यह संभव नहीं हो सकता। इस प्रकार काल्पनिक बुद्धि तथा व्यावहारिक बुद्धि में मेल होता है। इसी दृष्टि से प्रकृति का अध्ययन एक प्रयोजनवादी व्यवस्था का रूप ले लेता है। संक्षेप में, हम नैतिक नियम द्वारा ईश्वर और प्रयोजनवाद तक पहुँचते हैं । अतः विशुद्ध बुद्धि अपने व्यावहारिक उपयोग या नैतिक बुद्धि की भांति ज्ञान को हमारी सर्वोच्च व्यावहारिक रुचियों से सम्बन्धित करती है जिसको काल्पनिक चिंतन नहीं कर सकता। वह उसे प्रदर्शनात्मक रूढ़ि नहीं बनाती, बल्कि अपने आवश्यक उद्देश्यों के लिये एक निरपेक्षतः अनिवार्य मान्यता बना देती है।

नीति शास्त्र (Ethics)

कान्ट का नीतिशास्त्र अन्तर्दृष्टिवाद (Intuitionism) और अनुभववाद, प्रत्ययवाद और सुखवाद के झगड़े को समाप्त कर उनके बीच समन्वय करने का प्रयास करता है। उसके समक्ष प्रमुख समस्या सत्, उचित और अनुचित या कर्तव्य के मौलिक अर्थ और नैतिक ज्ञान में छिपी बातों की खोज करना है । नैतिक ज्ञान के विभिन्न पक्षों में साम्यता स्थापित करना, कान्ट का मूल उद्देश्य है।

कान्ट ने रूसो से यह सीखा कि इस संसार में या इसके बाहर निरपेक्षतः शुभ-संकल्प के सिवाय कुछ भी शुभ नहीं है। संकल्प उसी समय शुभ है जब उसमें नैतिक नियम के प्रति आदर हो या फिर कर्तव्यनिष्ठा की चेतना हो। आत्म-प्रेम या अपने हित के लिए किया गया काम शुभ नहीं हो सकता। शुभ-संकल्प पूर्णतः नैतिक नियम के प्रति आदर पर आधारित है। कान्ट सुखवादियों की इस बात को नहीं मानता कि कार्य की नैतिकता या अनैतिकता उसके परिणाम पर निर्भर है। वह कार्य के शुभ-संकल्प पर अधिक बल देता है । वह कार्य जो शुभ भावना, कर्ता के सत् उद्देश्य, पर आधारित है, नैतिक है. उसका परिणाम चाहे सुख हो अथवा दुःख । नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध आदर ही शुद्ध नैतिकता की सर्वोपरि कसौटी है। कान्ट उपयोगितावादी नैतिकता का विरोधी था। उसने नैतिक नियम को अशर्त आदेश (Categorical Imperative) कहा। नैतिक आदेश निरपेक्ष है। नैतिकता के पालन में शर्त के लिए कोई स्थान नहीं है। अशर्त आदर्श यह नहीं कहता कि सुख प्राप्त करने के लिये ऐसा करो, बल्कि यह कहता है कि "पूर्ण होने के लिए आप इसे कीजिए क्योंकि यह आपका कर्तव्य है।" कर्तव्य कर्तव्य की भावना से करना चाहिये, न कि लोभ-लालच की दृष्टि से।

यह स्पष्ट है कि कान्ट का नैतिक-दर्शन "कर्तव्य कर्तव्य के लिये" की भावना पर बल देता है। वह विशेष बातों से सम्बन्ध न रखकर, कुछ मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है जिन्हें 'अशर्त आदर्श' कहा जाता है। वे निम्नलिखित हैं:—

प्रजा दोनों है। वही नियम बनाता है और वही पालन करता है। अपने नैतिक स्वभाव के कारण, व्यक्ति आध्यात्मिक साम्राज्य का सदस्य है।" वह अपने पर नियम की प्रभुता मानकर आदर्श जगत् को सर्वोच्च शुभ मानता है।

वह मनुष्य, जो अपनी भावनाओं, स्वार्थों तथा अभिलाषाओं में न फँसकर नैतिक नियमों के आधार पर चलता है, स्वतंत्र होता है। असभ्य व्यक्ति अपनी शारीरिक इच्छाओं का दास होता है तथा ऐन्द्रिय सुख देने वाली मूल प्रवृत्तियों में उलझा रहता है। अपने आन्तरिक नैतिक नियम के आधार पर, आदमी इन्द्रिय-प्रवृत्तियों से बच सकता है। उन भावनाओं से मुक्त हो सकता है जो उसे स्वार्थवादी सुखों की ओर ले जाती हैं। चूँकि मनुष्य अपने इन्द्रियगत स्वभाव पर नियंत्रण कर सकता है, वह स्वतंत्र है : उसे करना चाहिये, क्योंकि वह कर सकता है (He ought, therefore he can)। नैतिक आदर्श में मनुष्य की यथार्थ आत्मा के सिद्धान्त तथा उसके अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। नैतिक नियम में मनुष्य की अंतरंग आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। नैतिक नियम प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का आदेश है। वह उसका अपना आदर्श है। मनुष्य स्वयं अपने ऊपर नैतिक नियम का आरोपण करता है जो उसकी स्वायत्तता (autonomy) का द्योतक है।

नैतिक आदर्श संकल्प की स्वतंत्रता की ओर संकेत करता है। यदि उसका नैतिक स्वभाव या व्यावहारिक बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं होता तो स्वतंत्रता का प्रमाण ही अनावश्यक प्रतीत होता। हमारा सामान्य प्रत्यक्षात्मक तथा वैज्ञानिक ज्ञान उन वस्तुओं से सम्बन्धित है जो दिक् और काल में प्रतिबन्धित हैं। दृश्य जगत् की समस्त घटनाएँ अनिवार्य नियमों से नियमित होती हैं। यदि यही जगत् यथार्थ है तो स्वतंत्रता की कल्पना करना व्यर्थ है। किन्तु कान्ट ने यह स्वीकार किया कि दृश्य जगत् जैसा कि हमारी इन्द्रियों को प्रतीत होता है यथार्थ जगत् नहीं है। अतः स्वतंत्रता संभव है। यदि नैतिक नियम हमें दिक्-काल-रहित स्वतंत्र चेतन सत्ताओं के जगत् का संकेत न करता तो हम यह कभी नहीं जान सकते कि वस्तुतः स्वतंत्रता है या नहीं। अन्य शब्दों में, आदमी की नैतिक चेतना, उसका शुभाशुभ का ज्ञान, उसे एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है जो उसे एक ऐसे क्षेत्र में ले जाती है जो इन्द्रियों को प्राप्य दिक् और काल के जगत् से भिन्न है।

संकल्प की स्वतंत्रता नैतिक चेतनता में निहित है। उसमें आत्मा की अमरता और ईश्वर का अस्तित्व भी निहित है। ईश्वर के अस्तित्व के लिये कान्ट इस प्रकार नैतिक मुक्ति प्रस्तुत करता है : अशर्त आदेश निरपेक्षतः शुभ, सद्गुणी तथा पवित्र संकल्प में विश्वास करता है। बुद्धि हमें यह बतलाती है कि ऐसा शुभ संकल्प सुख का अधिकारी है। नैतिक आदमी सुखी होना ही चाहिये। अतः सर्वोच्च शुभ सद्गुण और सुख में निहित होना चाहिये क्योंकि सुख के बिना सद्गुण पूर्ण शुभ नहीं कहा जायेगा। किन्तु, सद्गुण और सुख इस संसार में साथ-साथ नहीं मिलते। सद्गुणी

(1) "सदैव ऐसा कार्य करो जिसे आप सार्वभौम नियम बनाने की इच्छा कर सको।"

यह नियम शुभ तथा अशुभ की परीक्षा करने की एक मौलिक कसौटी है। उदाहरण के लिए, आप यह संकल्प नहीं कर सकते कि सब लोग झूठे वादे करें और यह एक सार्वभौम नियम बनें क्योंकि यदि प्रत्येक आदमी ऐसा करता है तो कोई व्यक्ति किसी का विश्वास नहीं करेगा और झूठे वादों का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। ऐसी स्थिति में जीवन चलाना असंभव हो जायेगा। बौद्धिक प्राणी विरोधी चीजों का संकल्प नहीं कर सकता और झूठे वादे चाहना एक विरोधी बात है। कोई आदमी दूसरे के प्रति अभद्र व्यवहार का संकल्प नहीं कर सकता। यदि अभद्र व्यवहार को सार्वभौम नियम बना दिया जाये तो कभी उसके साथ भी अमानुषिक व्यवहार हो सकता है जिसे वह सहन करने के लिए तैयार ही नहीं होगा। इस प्रकार कोई भी कभी यह नहीं चाहेगा कि वह अमानुषिक समाज का सदस्य बने। दूसरों की सहायता करने का शुभ-संकल्प सार्वभौम नियम बन सकता है। अतः इस दिशा में किया गया कार्य नैतिक होगा।

उपरोक्त नियम या अप्रतिबन्ध आदेश सार्वभौम नैतिक नियम है। वह प्रागनुभव है क्योंकि स्वतः बुद्धि में सन्निहित है। साधारण से साधारण व्यक्ति में यह नियम रहता है चाहे इसका उसे स्पष्ट बोध न हो, किन्तु यह उसके नैतिक निर्णयों को निर्धारित करता है। यह उसके शुभाशुभ की परीक्षा करने की कसौटी है। इसी नैतिक नियम से सम्बन्धित एक दूसरा नियम भी है जो इस प्रकार है:—

2. "मानवता को इस प्रकार समझो, स्वयं की या अन्य की दृष्टि से, कि वह साध्य बनी रहे, साधन कभी नहीं।"

प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को स्वयं में साध्य मानता है अर्थात् हरेक का अपना नैतिक मूल्य है और इसलिए एक आदमी को दूसरे के प्रति उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिये कि वह साध्य बना रहे, साधन कभी नहीं। यहाँ हमें स्टोइक्स तथा ईसाइयों द्वारा बतलाया गया मानवतावादी आदर्श मिलता है जिसका अठारहवीं शताब्दी की नैतिक और राजनैतिक धारणाओं में प्रमुख स्थान था।

बौद्धिक संकल्प अपने पर सबके द्वारा स्वीकृत और सब पर लागू होने वाले सार्वभौम नियमों का आरोप कर लेता है। यदि हर एक व्यक्ति बुद्धि के नियमों का कलन करे तो बौद्धिक प्राणियों का बौद्धिक उद्देश्यों से व्यवस्थित एक समाज बन जायेगा जिसे कान्ट "साध्यों का साम्राज्य" कहता है। अन्य शब्दों में, अशर्त आदेश एक पूर्ण समाज की मांग करता है। इसलिए कान्ट कहता है कि "प्रत्येक व्यक्ति को अपने सार्वभौम नियमों के आधार पर व्यवहार करना चाहिए अर्थात् वह ऐसे कार्य करे कि वह साध्यों की दुनियाँ का एक सम्माननीय सदस्य है।" व्यक्ति राजा और

प्रजा दोनों है। वही नियम बनाता है और वही पालन करता है। अपने नैतिक स्वभाव के कारण, व्यक्ति आध्यात्मिक साम्राज्य का सदस्य है।" वह अपने पर नियम की प्रभुता मानकर आदर्श जगत् को सर्वोच्च शुभ मानता है।

वह मनुष्य, जो अपनी भावनाओं, स्वार्थों तथा अभिलाषाओं में न फँसकर नैतिक नियमों के आधार पर चलता है, स्वतंत्र होता है। असभ्य व्यक्ति अपनी शारीरिक इच्छाओं का दास होता है तथा ऐन्द्रिय सुख देने वाली मूल प्रवृत्तियों में उलझा रहता है। अपने आन्तरिक नैतिक नियम के आधार पर, आदमी इन्द्रिय-प्रवृत्तियों से बच सकता है। उन भावनाओं से मुक्त हो सकता है जो उसे स्वार्थवादी सुखों की ओर ले जाती हैं। चूँकि मनुष्य अपने इन्द्रियगत स्वभाव पर नियंत्रण कर सकता है, वह स्वतंत्र है : उसे करना चाहिये, क्योंकि वह कर सकता है (He ought, therefore he can)। नैतिक आदर्श में मनुष्य की यथार्थ आत्मा के सिद्धान्त तथा उसके अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। नैतिक नियम में मनुष्य की अंतरंग आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। नैतिक नियम प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का आदेश है। वह उसका अपना आदर्श है। मनुष्य स्वयं अपने ऊपर नैतिक नियम का आरोपण करता है जो उसकी स्वायत्तता (autonomy) का द्योतक है।

नैतिक आदर्श संकल्प की स्वतंत्रता की ओर संकेत करता है। यदि उसका नैतिक स्वभाव या व्यावहारिक बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं होता तो स्वतंत्रता का प्रमाण ही अनावश्यक प्रतीत होता। हमारा सामान्य प्रत्यक्षात्मक तथा वैज्ञानिक ज्ञान उन वस्तुओं से सम्बन्धित है जो दिक् और काल में प्रतिबन्धित हैं। दृश्य जगत् की समस्त घटनाएँ अनिवार्य नियमों से नियमित होती हैं। यदि यही जगत् यथार्थ है तो स्वतंत्रता की कल्पना करना व्यर्थ है। किन्तु कान्ट ने यह स्वीकार किया कि दृश्य जगत् जैसा कि हमारी इन्द्रियों को प्रतीत होता है यथार्थ जगत् नहीं है। अतः स्वतंत्रता संभव है। यदि नैतिक नियम हमें दिक्-काल-रहित स्वतंत्र चेतन सत्ताओं के जगत् का संकेत न करता तो हम यह कभी नहीं जान सकते कि वस्तुतः स्वतंत्रता है या नहीं। अन्य शब्दों में, आदमी की नैतिक चेतना, उसका शुभाशुभ का ज्ञान, उसे एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है जो उसे एक ऐसे क्षेत्र में ले जाती है जो इन्द्रियों को प्राप्य दिक् और काल के जगत् से भिन्न है।

संकल्प की स्वतंत्रता नैतिक चेतनता में निहित है। उसमें आत्मा की अमरता और ईश्वर का अस्तित्व भी निहित है। ईश्वर के अस्तित्व के लिये कान्ट इस प्रकार नैतिक युक्ति प्रस्तुत करता है : अशर्त आदेश निरपेक्षतः शुभ, सद्गुणी तथा पवित्र संकल्प में विश्वास करता है। बुद्धि हमें यह बतलाती है कि ऐसा शुभ संकल्प सुख का अधिकारी है। नैतिक आदमी सुखी होना ही चाहिये। अतः सर्वोच्च शुभ सद्गुण और सुख में निहित होना चाहिये क्योंकि सुख के बिना सद्गुण पूर्ण शुभ नहीं कहा जायेगा। किन्तु, सद्गुण और सुख इस संसार में साथ-साथ नहीं मिलते। सद्गुणी

पुरुष को इस जगत् में अनिवार्यतः सुख नहीं मिल पाता। उसके समक्ष अनेक प्रकार के दुःख आ जाते हैं। बुद्धि हमें यह बतलाती है कि कोई ऐसी महान् सत्ता है जो सद्गुणी के कर्मों के अनुसार उसे सुख प्रदान करे। ऐसा करने के लिये, उसे सर्वज्ञ होना चाहिये, उसे मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं तथा संकल्पों का ज्ञान होना चाहिये। उसमें हमारे नैतिक आदर्श होने चाहियें अर्थात् उसे पूर्ण शुभ होना चाहिये। उसमें सद्गुण और सुख में सम्बन्ध करने की पूर्ण शक्ति होनी चाहिये अर्थात् उसे सर्वशक्तिमान होना चाहिये। यह सर्वज्ञ, पूर्ण शुभ और सर्वशक्तिमान सत्ता ईश्वर है।

आत्मा की अमरता का प्रमाण भी इसी प्रकार दिया गया है। नैतिक नियम शुभ संकल्प की अपेक्षा करता है। बुद्धि की देन होने से, नैतिक नियम का आदेश मानने योग्य है। किन्तु आदमी अपनी सत्ता के किसी क्षण में पवित्रता को आसानी से प्राप्त नहीं कर सकता। अतः इस प्रकार की पूर्णता प्राप्त करने के लिये, अनन्त काल और नित्य प्रगति अनिवार्य है। ऐसा तभी सभव है जब आत्मा अमर हो। अन्य शब्दों में, आत्मा अमर होनी चाहिये।

'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' नामक पुस्तक में, कान्ट संकल्प की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता के लिये दी गई समस्त पुरानी युक्तियों को अस्वीकार कर देता है। इस दिशा में, शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा का परिणाम निषेधात्मक है। किन्तु 'व्यावहारिक-बुद्धि की परीक्षा' में वह इन धारणाओं की अनिवार्यता के लिये नैतिक नियमों को आधार बनाता है। मनुष्य स्वतंत्र है; वह अमर है और ईश्वर का अस्तित्व है। ये सभी सत्य आदमी के अन्दर बौद्धिक नैतिक नियमों के अनिवार्य परिणाम हैं। नैतिक नियम ही स्वतंत्रता अमरता तथा ईश्वर की पुष्टि करते हैं। धर्म का आधार इसी प्रकार की नैतिकता है।

कान्ट की इन शिक्षाओं का ईसाई मत से बहुत सम्बन्ध है। वह स्वयं इस बात को स्वीकार करता है। उसकी प्रमुख शिक्षाएँ हैं: (1) नैतिकता को पवित्रता, पूर्णता और पूर्ण शुभ संकल्प की अपेक्षा है। (2) मनुष्य इस आदर्श को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर ही पूर्ण और पवित्र है। इन्द्रिय-इच्छाओं में फँसकर मनुष्य पाप की ओर जाता है। वह यही कर सकता है कि अपना कर्तव्य करे और नैतिक नियमों का आदर करे। (3) सर्वोपरी शुभ भावी जीवन में ही प्राप्त हो सकता है। (4) नैतिक व्यक्ति का मूल्य बहुत होता है और वह सभी संभव सुखों का अधिकारी है। (5) किन्तु नैतिक नियम सुख का वादा नहीं करता; नैतिक नियम का आदर करना चाहिये। कर्तव्य कर्तव्य की भावना से होना चाहिये चाहे परिणाम कुछ भी हो। (6) बुद्धि कहती है कि नैतिक मनुष्य सुखी होने योग्य है। अतः कर्मानुसार सुख देने वाले अस्तित्व को मानना न्यायसंगत है। ईश्वर के राज्य में यही नियम है। हमें कार्य सुख की लालसा से नहीं, वरन् शुभ-संकल्प की भावना से करना चाहिये।

इन्हीं शिक्षाओं के कारण, कान्ट को 'प्रोटेस्टैण्टवाद का दार्शनिक' माना जाता है।

इस प्रकार कान्ट ने अनुभववाद तथा बुद्धिवाद की समीक्षा की और एक आलोचनात्मक समीक्षावाद के दर्शन की प्रतिष्ठापना, उसने ऐसी क्रान्ति दर्शनशास्त्र में की जैसी कि कॉपरनिकस ने ज्योतिष-विद्या में की थी। उसने सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी की चली आती हुई दार्शनिक विचारधाराओं को निकट से देखा और उसने यह पहचाना कि बुद्धिवाद तथा अनुभववाद दोनों की निश्चित सीमाएँ हैं जिनका अतिक्रमण करना अनधिकार चेष्टा होगी। कान्ट पहला चिन्तक था जिसने ह्यूम की सन्देहवादी शंकाओं का स्पष्ट प्रत्युत्तर दिया। ह्यूम के घोर सन्देहवाद से ज्ञानमीमांसा की जड़ें हिल गई थीं। संक्षेप में, कान्ट ने अनुभववाद तथा बुद्धिवाद की परीक्षा करके यह सिद्ध कर दिया कि ये दोनों ही एकांगी हैं और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से ही सही बातों पर पहुँचा जा सकता है। यही उसके आलोचनात्मक समीक्षावाद का ऐतिहासिक एवं दार्शनिक महत्त्व है।

□

14

जार्ज विल्हेल्म हेगेल

(George Wilhelm Hegel : 1770–1831)

हेगेल का जन्म जर्मनी के स्टुअर्ट नगर में हुआ। उसका परिवार मध्यम वर्गीय शिक्षित परिवार था। हेगेल ने दर्शन तथा धर्मशास्त्र का गहन अध्ययन किया। अन्य विज्ञानों में भी उसकी विशेष रुचि थी। धन अर्जित करने के लिए उसने प्राइवेट ट्यूशन्स भी किये। सन् 1801 में वह जेना विश्वविद्यालय में नियुक्त हुआ और सन् 1805 में उसे वहीं प्रोफेसर बना दिया गया। हेगेल उदार, सामाजिक, संयमी तथा गम्भीर था। राजनीतिक हलचल के कारण उसे अपने पद से हटना पड़ा। फिर उसने हैम्बर्ग में एक समाचार-पत्र का सम्पादन किया और नूरमेवर्ग में जिमनैजियम का निर्देशक भी रहा। इतना उतार-चढ़ाव होते हुए भी वह दार्शनिक चिन्तन में लीन रहा। फिर उसे हाईडेलवर्ग विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक बनाया गया और अन्त में, फिक्टे की मृत्यु के पश्चात् उसको बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। जीवन के अन्त तक हेगेल वहीं रहा और सारे जगत् को अपने चिन्तन से प्रभावित करता रहा। हैजे के कारण सन् 1831 में उसका देहान्त हो गया। हेगेल की गणना विश्व के महान्तम दार्शनिकों में की जाती है। उसकी कृतियों का संग्रह अट्ठारह भागों में प्रकाशित हुआ है। उसकी रचनाओं में प्रमुख ये हैं : 'आत्म-तत्व की अभिव्यक्ति' (फैनामिनालॉजी ऑफ स्प्रिट) और 'तर्कशास्त्र का विज्ञान' (साइन्स ऑफ लॉजिक)।

दर्शन की समस्या (Problem of Philosophy)

हेगेल का दर्शन फिक्टे तथा शेलिंग के दार्शनिक विचारों को लेकर प्रारम्भ हुआ। वह फिक्टे की इस बात से सहमत है कि तार्किक-पद्धति का पूर्णतः पालन किया जाना चाहिए। हेगेल ने शेलिंग के विश्व-दृष्टिकोण को एक बौद्धिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया। वह फिक्टे और शेलिंग के इस विचार से सहमत है कि

"यथार्थता एक जीवित विकासात्मक क्रम" हैं। हेगेल भी यह कहता है कि प्रकृति तथा मन (बुद्धि) एक ही है। किन्तु वह प्रकृति को बुद्धि के आधीन मानता है। हेगेल की दृष्टि में, समस्त सत्ता और बुद्धि एकरूप (Identical) हैं। जो क्रम बुद्धि में चलता है वही हरेक स्थान में विद्यमान है। इसलिए वह कहता है "जो कुछ सत् है वह बौद्धिक (चित्) है और जो कुछ बौद्धिक (चित्) है वह सत् है। (Whatever is real is rational, and whatever is rational is real)."

हेगेल ने कान्ट की कई बातों को स्वीकार किया जैसे कि बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, बुद्धि में ज्योति तथा शक्ति विशुद्ध आत्म तत्त्व से आती है, दर्शन आलोचनात्मक विज्ञानवाद है। किन्तु हेगेल ने कान्ट के द्वैतवाद और अज्ञेयवाद का घोर विरोध किया। हेगेल ने सत् को विज्ञानमय (चैतन्य) बताया। 'अज्ञेय' शब्द को तो उसने अपने दर्शन में कोई स्थान ही नहीं दिया। उसके अनुसार एकमात्र तत्त्व निरपेक्ष, पूर्ण विज्ञान (प्रत्यय) या चैतन्य (Absolute Idea) है। सम्पूर्ण विश्व इसीका परिणाम है। अतः द्वैतवाद का प्रश्न ही निरर्थक है। प्रकृति में युक्ति (Logic) है। समस्त इतिहास में भी युक्ति है। समस्त जगत् ही एक तार्किक व्यवस्था (Logical System) है। इसलिये निरपेक्ष भेदरहित निरपेक्ष नहीं है जैसाकि शेलिंग ने कहा। हेगेल ने शेलिंग के निरपेक्ष को एक ऐसी रात्रि की संज्ञा दी जिसमें सब गायें काली हैं। वह निरपेक्ष को कोई द्रव्य भी नहीं कहता जैसा-कि स्पिनोजा मानता है। हेगेल निरपेक्ष को जीवन (Life), क्रम (Process), विकास (Evolution), चेतनता (Consciousness) और ज्ञान (Knowledge) की संज्ञा देता है। इस विकास शक्ति निरपेक्ष का उद्देश्य स्वचेतन की ओर निरन्तर गतियुक्त होना है। समस्त क्रम, जीवन का मूल अर्थ सर्वोच्च विकास में सन्निहित है जिसमें मन और विश्व प्रयोजन एकात्म हो जाते हैं। इस प्रकार हेगेल अपने पूर्व-वर्ती चिंतकों की आलोचना एवं समालोचना करते हुए 'निरपेक्ष विज्ञानवाद' (Absolute Idealism) के सिद्धान्त की स्थापना करता है।

हेगेल के अनुसार, दर्शन की मूल समस्या इसी निरपेक्ष-विज्ञान या परमतत्त्व की समुचित व्याख्या करना है। उसका काम प्रकृति-जगत् तथा मानवी अनुभव को जानना है; विभिन्न वस्तुओं में नित्य सामंजस्य, नियम, तत्त्व की दृष्टि से, न कि क्षणिक, अस्थाई रूपों की दृष्टि से, बुद्धि या तर्क को देखना है। वस्तुओं का निश्चित अर्थ है। जगत् की समस्त विधियाँ (Processes) बौद्धिक हैं। तारामण्डल बौद्धिक व्यवस्था है। चूँकि समस्त यथार्थता मूलतः बौद्धिक विचारों का एक अनिवार्य, तार्किक, क्रम है, इसलिये उसे केवल विचार के द्वारा ही जाना जा सकता है और दर्शनशास्त्र का काम उन अनिवार्य नियमों अथवा रूपों को समझना है जिनके अनुसार बुद्धि कार्य करती है। अतः हेगेल की दृष्टि में, तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र (Logic and Metaphysics) एक ही हैं। परम सत् निरपेक्ष विज्ञानरूप या शुद्ध

चैतन्य रूप है। इस परम सत् की वैज्ञानिक व्याख्या करना ही दर्शनशास्त्र का मूल विषय है। तर्कशास्त्र का विषय परम सत् के विकास की विविध अवस्थाओं की क्रमबद्ध व्याख्या करना है। संक्षेप में, दर्शन सब विज्ञानों का विज्ञान है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method)

यदि दर्शन का कार्य पदार्थों के स्वरूप को समझना है, यथार्थता का विश्लेषण करना है, अस्तित्व तथा उसके उद्देश्य को जानना है, तो निश्चय ही उसकी पद्धति इन बातों के अनुकूल होनी चाहिये। उस पद्धति को जगत् के बौद्धिक क्रम और संसार में बुद्धि के विकास का निरूपण करना चाहिये। इस प्रयोजन की प्राप्ति कलात्मक अनुभूतियों अथवा रहस्यमय विधि से नहीं हो सकती जैसा कि शेलिंग और अन्य विद्वान् मानते हैं। यथार्थ चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। दर्शन एक धारणात्मक ज्ञान है जैसा कि कान्ट ने कहा, किन्तु हेगेल के अनुसार, अमूर्त प्रत्ययों से यथार्थता का ज्ञान नहीं हो सकता। सामान्य अमूर्त विचार यथार्थ (Reality) के विभिन्न स्वरूपों को पृथक्-पृथक् देखता है। आवश्यकता यथार्थ को सम्पूर्ण दृष्टि से जानने की है। बुद्धि (Intellect) विश्लेषण, विरोध तथा सम्बन्ध स्थापित करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। बुद्धि विरोधों और वस्तुओं के आन्तरिक जीवन तथा उद्देश्य को नहीं समझ सकती। हेगेल के अनुसार, समस्त अस्तित्व सत् है जो चित् (Idea) है क्योंकि चित् ही यथार्थता है। चित् (Idea) सम्पर्ण (Whole) तथा उसके समस्त अंगों में व्याप्त है। सभी अंगों की यथार्थता इसी एकता में निहित है। वह क्रिया जो सब वस्तुओं को सम्पूर्णता में देखती है, विरोधों को एक करती है, मन की उच्च क्रिया है जिसे मात्र बुद्धि नहीं कहा जा सकता। दो क्रियाएँ, चिन्तनशील मन और अमूर्त बुद्धि, दोनों ही साथ-साथ काम करती हैं।

उपरोक्त दृष्टि से, विचार (Thought) साधारण, अमूर्त तथा खोखली धारणाओं से प्रारम्भ होकर अधिक मिश्रित, यथार्थ और ठोस धारणाओं की ओर बढ़ता है जिन्हें हेगेल अन्तर्बोध या प्रज्ञाएँ (Notions) कहता है। हेगेल इसी विधि को, जिसका संकेत कान्ट ने दिया और फिक्टे तथा शेलिंग ने प्रयोग किया, 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' (Dialectical Method) मानता है। इसमें तीन अवस्थाएँ होती हैं। सर्वप्रथम हम किसी अमूर्त सार्वभौम धारणा (abstract universal concept) को लेकर चलते हैं जिसे 'वाद' (Thesis) कहते हैं। यह धारणा एक अन्तर्विरोध (Contradiction) को जन्म देती है जिसे 'प्रतिवाद' (antithesis) कहा जाता है। इन विरोधी धारणाओं का एक तीसरी धारणा में समन्वय हो जाता है जिसे दो विरोधों की एकता (Synthesis) कहते हैं। उदाहरण के लिये पार्मेनाइडीज ने कहा कि "सत् अपरिवर्तनशील है", हेरेक्लाइट्स ने बताया कि "सत् निरन्तर परिवर्तनशील है", किन्तु परमाणुवादियों ने इन दो विरोधों का समन्वय किया और कहा कि "सत् परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील दोनों है" लेकिन क्रम इसी समन्वय पर

नहीं रुक जाता। ये समन्वयात्मक धारणाएँ नये विरोधों को जन्म देती हैं। जिनसे नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यह द्वन्द्वात्मक क्रम यथार्थता की अभिव्यक्ति के रूप में निरन्तर चलता रहता है। जब तक हम निरपेक्ष धारणा तक नहीं पहुँच जाते तब तक द्वन्द्वात्मक क्रम अविराम रहता है। किन्तु एक ही धारणा समस्त सत् का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती। सभी धारणाएँ आंशिक सत्य हैं। सत् अथवा ज्ञान समस्त धारणाओं की तार्किक व्यवस्था से निर्मित होता है। प्रत्येक धारणा मौलिक धारणा से ही उत्पन्न होती है। सत्, स्वयं एक बौद्धिक यथार्थता के रूप में, सजीव तार्किक क्रम है।

उपरोक्त बात को हम इस ढंग से स्पष्ट कर सकते हैं: एक विचार से दूसरा विरोधी विचार अनिवार्यतः उत्पन्न होता है और दोनों का फिर तीसरे विचार में समन्वय हो जाता है। यह द्वन्द्वात्मक क्रम विचार की स्वयं तार्किक अभिव्यक्ति है। हेगेल यहाँ यह बताते हुए मालूम पड़ता है कि मानों विचार स्वतः चिंतन करते हैं। उनमें कोई आन्तरिक अनिवार्यता है जो जीवित अवयव के समान है जो अपनी शक्तियों तथा प्रतिभाओं की स्वयं अभिव्यक्ति करता है और अन्त में, मूर्त सार्वभौम (Concrete Universal) का रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक चिंतक को अपने विचारों में इसी क्रम को अबाधित चलने देना चाहिये क्योंकि यह क्रम, यदि सही ढंग से चलता रहे तो वह विश्व-क्रम के निकट ही है। यह उसी विकास का अनुकरण होगा जो समस्तवस्तुओं में अन्तर्निहित है। इस प्रकार हम ईश्वर के पश्चात् उसके विचारों के विषय में चिंतन कर सकते हैं।

सत् और चित् (Being and Thought)

द्वन्द्वात्मक चिन्तन एक ऐसी पद्धति या क्रम है जो सजीव, गतिशील, अवयवी सत्ता के प्रति न्याय करता है। उसमें भेदों तथा विरोधों का समन्वय हो जाता है। हेगेल के अनुसार, सत् (Being) एक बौद्धिक क्रम है जिसका निश्चित अर्थ है। यह कोई अबौद्धिक प्रवाह नहीं है, असंगठित निरपेक्षतः अर्थहीन घटना नहीं है; बल्कि एक व्यवस्थित विकास, एक अविरल प्रगति है। जो भी भेद तथा आत्यन्तिक विरोध दृष्टिगत होते हैं, उसके अन्तर्गत समन्वित हो जाते हैं। यथार्थता को सार और प्रतीति, वाह्य और आभ्यान्तरिक, द्रव्य तथा गुण, ससीम और असीम, मन और पुद्गल, जगत् और ईश्वर की दृष्टि से विभाजित करके देखना निरर्थक भेदों तथा ऐच्छिक कल्पनाओं में फंसना है। जगत् का कोई वाह्य और आन्तरिक रूप नहीं है। सार ही प्रतीति है, आभ्यान्तरिक ही वाह्य है, मन ही शरीर है, ईश्वर ही जगत् है।

यह स्पष्ट है कि यथार्थता एक तार्किक विकास (Logical evolution) है। यह एक आध्यात्मिक क्रम है जिसे हम उसी समय समझ सकते हैं जब हम उसका अपने अन्दर अनुभव करें। स्मरण रहे कि यह क्रम विशेष प्रत्ययों का प्रवाह नहीं है,

न कोई व्यावहारिक या मनोवैज्ञानिक क्रम है। सत् एक ऐसा निरपेक्ष प्रत्यय (Absolute Idea) है जिसकी झलक हमें व्यक्तियों के चिन्तन में मिलती है। विचार विकासात्मक है जो बौद्धिक ढंग से प्रगति की ओर बढ़ता है; उसकी प्रगति तार्किक या द्वन्द्वात्मक है। इस दृष्टि से, विचार सार्वभौम, इन्द्रियानुभवातीत, जैसा कि हेगेल कहता है तात्त्विक (metaphysical) है। यह निरपेक्ष विचार अपने को सांस्कृतिक इतिहास में व्यक्त करता है।

हेगेल ईश्वर को प्रत्यय या विज्ञान या चित् (Idea) कहता है। वही यथार्थ विश्व है, वही विकास की समस्त सम्भावनाओं की समष्टि है जो काल से परे है। जब इस प्रत्यय या विज्ञान की अनुभूति हो जाती है तो उसे मनस् या आत्मा भी कहते हैं। इस विज्ञान या चित् में आदर्शतः समस्त तार्किक-द्वन्द्वात्मक क्रम अन्तर्निहित है जो अपने आपको इस यथार्थ जगत् के रूप में व्यक्त करता है। यह विज्ञान एक क्रियात्मक बुद्धि (Creative logos or reason) है जिसकी क्रिया के रूप (Forms) या श्रेणियाँ (Categories) निर्जीव प्रत्यय नहीं हैं, वरन् आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जो समस्त वस्तुओं का सार हैं। इस क्रियात्मक बुद्धि का, विकास की अनिवार्यता की दृष्टि से, अध्ययन करना तर्कशास्त्र है। हेगेल का यहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि से पहले ईश्वर का शुद्ध विचार के रूप में अस्तित्व होगा। वह मानता है कि इस जगत् की रचना शाश्वत है। निरपेक्ष मन या ईश्वर की सत्ता स्व-अभिव्यक्ति में है। ईश्वर जीवित, गतिशील विज्ञानमय है जो अपने आपको जगत्, प्रकृति और इतिहास के रूप में व्यक्त करता है। स्व-चेतनता की ओर बढ़ने के लिये ये ईश्वर की अनिवार्य अवस्थाएँ हैं। ईश्वर वह निरपेक्ष विज्ञान है जो निरन्तर विकास की ओर अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक भेद या अवयव इस निरपेक्ष विज्ञान की एक धारणा या उसका एक विकल्प (Category) है जो उसी का एक अभिव्यक्त रूप है। निरपेक्ष विज्ञान व्यक्तियों में अन्तर्यामी समष्टि है। प्रत्येक धारणा इस निरपेक्ष स्वरूप को न्यूनाधिक रूप में व्यक्त करती है। अतएव निरपेक्ष विज्ञान के विकास के विभिन्न स्तरों में तारतम्य है। जगत् की समस्त वस्तुएँ निरपेक्ष विज्ञान के विकास के प्रकाश से ही प्राणवान हैं। सम्पूर्ण (Whole) और उसके विभिन्न अंगों (Parts) में सजीव सम्बन्ध है। निरपेक्ष मनस् आत्मा या विज्ञान, चित् या परमतत्त्व जैसा हेगेल विभिन्न नामों से सम्बोधित करता है, समस्त विश्व में अन्तर्यामी है। निरपेक्ष चित् विकास में ही स्वचेतन होता है। ईश्वर विकास रूप सत्-चित् (Being Thought) है जो मानव मन में पूर्णतः स्वचेतन बन जाता है। हेगेल का यह मत कि निरपेक्ष विज्ञान, अपने से अलग जगत् या मानवी मन के द्वारा स्वचेतन (Self-Conscious) बनता है, विमर्श का सिद्धान्त (Doctrine of Reflection) कहलाता है।

निरपेक्ष (The Absolute)

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हेगेल के अनुसार, सत् और चित् एक ही

समष्टि का नाम है। निरपेक्ष विज्ञान या प्रत्यय उनका दूसरा नाम है। सर्वप्रथम यह निरपेक्ष विज्ञान अमूर्त विज्ञान (Abstract or Ideational) के रूप में प्रतीत होता है। अमूर्त विज्ञान शुद्ध विषयी (pure subject) होता है। प्रारम्भ में, वह अपने ही में अभेद रूप (Idea-in-itself) में है। इस स्थिति में, वह अपूर्ण है। लेकिन ज्ञाता को ज्ञेय की सदैव अपेक्षा रहती है। अतएव निरपेक्ष विज्ञान अपने को प्रकृति (ज्ञेय) के रूप में व्यक्त करता है जो उसका यह बाह्य रूप (Idea-outside-itself) है। यह शुद्ध भेदरूप है। प्रकृति में चैतन्य सुप्त अवस्था में प्रतीत होता है किन्तु वह निरन्तर विकास की ओर बढ़ता है। यह निरपेक्ष विज्ञान जड़-जगत् से वनस्पति-जगत् में प्राणरूप हो जाता है। तत्पश्चात् पशु-जगत् में चेतन बन जाता है। वही निरपेक्ष मानव आत्मा में जाकर स्वचेतन (Self-Conscious) रूप धारण कर लेता है। स्वचेतन में ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय का द्वैत विरोध रूप में नहीं रहता, बल्कि उनका समन्वय हो जाता है। यही स्थिति पूर्णत्व की अवस्था है। उसमें न भेद है और न अभेद। अमूर्त विज्ञान बाह्य जगत् में विकसित होकर मूर्त विज्ञान (Idea-in-and-for-itself) बन जाता है। अमूर्त चित्, विचार या विज्ञान, का विकास बाह्य विज्ञान-प्रकृति तथा इतिहास द्वारा मूर्त-विज्ञान, पूर्णत्व तथा निरपेक्षत्व, के रूप में हो, यही हेगेल के अनुसार, सृष्टि का प्रयोजन है।

जिसको हम वस्तु-जगत् कहते हैं, वह हेगेल के दर्शन में, निरपेक्ष का बाह्य रूप है। जगत् के समस्त पदार्थ बौद्धिक विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। वे इस विकास की पूर्णता के लिये गतिशील हैं। अमूर्त विज्ञान अपने को प्रकृति में परिणित करता है ताकि वह अपना असली स्वरूप जान ले। विचार, प्रकृति तथा मानव इतिहास--इनके समस्त विकास के पार्श्व में, वस्तुतः निरपेक्ष विज्ञान की ही सत्ता है। हेगेल के दर्शन में विकास का क्रम अत्यधिक महत्वपूर्ण है। समस्त विकास निषेध (Negation) या विरोध (Contradiction) के रूप में होता है जिसे यहाँ समझना आवश्यक है।

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हेगेल का दर्शन विज्ञान या चित् का विकास है। इस विकास में एक नियम अन्तर्निहित है जिसके कारण समस्त प्रगति संभव होती है। यह निषेध अथवा विरोध का नियम है। इसी निषेध या विरोध नियम के अन्तर्गत समस्त गति, प्रगति, जीवन, बुद्धि, विकास, आदि संभव हैं। निषेध प्राणरूप है। निषेध का अभाव मृत्यु है। अतः निषेध के प्रति हमें उदासीन होने की आवश्यकता नहीं है।

हेगेल के अनुसार, अभी तक तर्कशास्त्र का यह अन्धविश्वास और जन सामान्य में प्रचलित धारणा है कि विरोध तत्त्व के लिये उतना आवश्यक नहीं जितना तादात्म्य है। किन्तु विरोध की तुलना में, तादात्म्य एक निर्जीव वस्तु प्रतीत होती है। निषेध का विरोध, हेगेल के अनुसार, समस्त गति और जीवन का स्रोत है।

विरोध का अर्थ पूर्व अवस्था का उच्च अवस्था में विकास होना है। किसी वस्तु की गति, प्रगति, शक्ति या कार्यरूप में परिणति, तभी संभव है जब उसमें विरोध हो अथवा एक अवस्था दूसरे का निषेध करके आगे बढ़े। विरोध समस्त जगत् का मूलाधार है। वह उसका प्राण है। सत्ता की यह अनिवार्य विशेषता है। यदि किसी वस्तु के "निषेध का निषेध" (Negation of Negation) सिद्ध हो जाये तो उस वस्तु की सत्ता अनिवार्यतः सिद्ध हो जाती है। यथार्थ पदार्थ में विरोधी धर्मों (Qualities) का रहना अनिवार्य है। प्रत्येक वस्तु तथा विचार में एक ऐसी शक्ति अन्तर्निहित होती है जो अपने विरोधी को जन्म दे।

हेगेल ने विरोध-नियम को उस अर्थ में स्वीकार नहीं किया जिसमें वह प्राचीन तर्कशास्त्रियों को मान्य रहा है। सामान्यतः तर्कशास्त्री चार प्रकार के विरोध मानते हैं—समावेश (Sub-alternation), विरोध (Contrariety), उप विरोध (Sub-contrariety) और आत्यन्तिक विरोध (Contradiction)। हेगेल समावेश को विरोध नहीं मानता और उपविरोध को विरोध के अन्तर्गत स्वीकार करता है। इस प्रकार दो ही विरोध-विरोध तथा आत्यन्तिक विरोध, रह जाते हैं। वह आत्यन्तिक विरोध को असंभव मानता है। विरोध सदैव भेद-रूप (Difference) होता है। यह भेद तर्कशास्त्रियों को विरोध (Contrariety) है, 'आत्यन्तिक विरोध' नहीं है। इस प्रकार हेगेल आत्यन्तिक विरोध की सत्ता ही को जगत् में नहीं मानता। वह केवल विरोध को ही स्वीकार करता है जो सत् का प्राण है। प्रत्येक वस्तु में, विचार में, यह नियम अन्तर्निहित है कि वह भेद उत्पन्न करे और उस भेद को अपना विशेषण बनाकर अपने स्वरूप में सन्निहित करे। संक्षेप में, विरोध का वास्तविक अर्थ 'भेद' (Difference) है और भेद सदा अभेद-मूलक होता है।

यह स्पष्ट है कि हेगेल की दृष्टि में, जो कुछ है वह सब निरपेक्ष विज्ञान का विकास मात्र है। यह विकास विरोध अथवा निषेध के कारण संभव होता है। निषेध शक्ति है; समस्त गति और प्रगति का प्राण है। निरपेक्ष विज्ञान का यह विकासात्मक क्रम तीन अवस्थाओं में से गुजरता है। यह विकास त्रिक्-रूप (Triadic) है—पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Antithesis) और समन्वय (Synthesis)। समस्त विचार, चित् या विज्ञान इन्हीं रूपों में विकसित होता है। इस सिद्धांत का नाम "द्वन्द्व-मूलक समन्वय" (Dialectical Synthesis) है जिसे "भेद विशिष्ट अभेद" या रामानुज की भाषा में, "विशिष्टाद्वैत" कहा जाता है। निरपेक्ष सत्ता में विधि और निषेध, पक्ष और विपक्ष, भेद और अभेद, दोनों ही सन्निहित है। परन्तु अलग-अलग दृष्टि से, दोनों अपूर्ण हैं। अपूर्ण को पूर्ण विकसित होने में ही विरोध, विपक्ष, भेद आदि निकल पड़ते हैं। उनका निकलना स्वाभाविक है। प्रत्येक अपूर्ण पक्ष या विज्ञान अपने विरोधी को उत्पन्न करता है। इस विरोध-शक्ति से ही उसका विकास होता है। किन्तु अन्ततोगत्वा विरोध विरोध नहीं रहता क्योंकि विरोध भेद-रूप है

और भेद सदा अभेद पर आश्रित रहता है। भेद और अभेद, पक्ष और विपक्ष, का सामंजस्य होना अनिवार्य है। यह सामंजस्य 'समन्वय' में होता है। लेकिन यदि समन्वय अपूर्ण है तो वह 'पक्ष' का रूप धारण कर लेता है। जैसे ही वह पक्ष बनता है विपक्ष निकल पड़ता है। पक्ष तथा विपक्ष का सामंजस्य अनिवार्य है, अतएव दोनों का समन्वय हो जाता है। वह फिर पक्ष में बदल जाता है। इस प्रकार जब तक अपूर्ण पूर्णत्त्व तक नहीं पहुँच जाता यह क्रमिक विकास-पक्ष, विपक्ष और समन्वय, निरन्तर चलता रहता है। यह क्रमिक विकास उसी समय समाप्त होगा जब अपूर्ण विज्ञान निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) तक पहुँच जाता है। पूर्ण विज्ञान, पूर्ण चित् अथवा पूर्ण समन्वय है। पूर्व समन्वय के पश्चात् पक्ष और विपक्ष नहीं बनता, क्योंकि अपूर्ण पूर्णत्व को प्राप्त कर चुका है। समस्त जगत् इस पूर्ण विज्ञान का भेद है और यह पूर्ण विज्ञान उसमें अनुगत अभेद है।

पूर्ण विज्ञान निरपेक्ष है। वह अवयवी है। समस्त पदार्थ उसके अवयव हैं। यह निरपेक्ष चित् विश्वात्मा है। विश्वात्मा विश्व से परे नहीं है। वह विश्व में ही अनुस्यूत है। प्रत्येक वस्तु इसी की अभिव्यक्ति है। पूर्ण समन्वय से पक्ष तथा प्रतिपक्ष शांत हो जाता है। इसी दृष्टि से, पूर्ण समन्वय को 'निषेध का निषेध' (Negation of Negation) या 'विरोध का विरोध' कहते हैं। निरपेक्ष पूर्ण विज्ञानमय है। वह पूर्ण समन्वय है। अतः पूर्ण विज्ञान, (चित्) की निरपेक्ष पूर्ण सत्ता है। इसलिए हेगेल कहता है कि 'चित् ही चित् है' या 'बोध ही सता है।' पूर्ण समन्वय किसी का विनाश नहीं करता, बल्कि जो कुछ है उसी में सन्निहित रहता है। वाद तथा प्रतिवाद, अपना स्वरूप छोड़कर और समन्वय के विशेषण बनकर उसके उन्नत स्वरूप के अंग बन जाते हैं। उनके गुण पूर्ण विज्ञान के गुण बन जाते हैं। अतः पूर्ण चित् के विकास में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। पूर्ण विज्ञान निरपेक्ष, विश्वात्मा सर्वगुण सम्पन्न है।

दर्शन का कार्य (Programme of Philosophy)

हेगेल के अनुसार, दर्शन के मूलतः तीन खण्ड हैं–तर्कशास्त्र (Logic), प्रकृति-विज्ञान (Philosophy of Nature) और आत्म-विज्ञान (Philosophy of Spirit)।

तर्कशास्त्र एक मौलिक विज्ञान है क्योकि वह निरपेक्ष चित्-क्रम को ज्यों का त्यों व्यक्त करता है। द्वन्द्वात्मक विज्ञान सार्वभौम मन के आंतरिक मूल तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। विचार-क्रिया में मन अपने को स्वतः जान लेता है। अतएव सत् और चित्, कला और ज्ञेय, विषय तथा रूप, एक ही हैं। वे श्रेणियां (Categories) जो तर्कशास्त्र के विचार-क्रम में विकसित होती हैं, यथार्थता की श्रेणियों के समान ही हैं। दोनों का तात्त्विक तथा तार्किक महत्त्व है। मनुष्य तथा जगत् दोनों में चित् की सत्ता समान है। सार्वभौम मन या विज्ञान दोनों में निहित है। अतः चाहे हम अपने अन्दर द्वन्द्वात्मक क्रमों का अध्ययन करें या जगत् में चल रहे क्रमों

विरोध का अर्थ पूर्व अवस्था का उच्च अवस्था में विकास होना है। किसी वस्तु की गति, प्रगति, शक्ति या कार्यरूप में परिणति, तभी संभव है जब उसमें विरोध हो अथवा एक अवस्था दूसरे का निषेध करके आगे बढ़े। विरोध समस्त जगत् का मूलाधार है। वह उसका प्राण है। सत्ता की यह अनिवार्य विशेषता है। यदि किसी वस्तु के "निषेध का निषेध" (Negation of Negation) सिद्ध हो जाये तो उस वस्तु की सत्ता अनिवार्यतः सिद्ध हो जाती है। यथार्थ पदार्थ में विरोधी धर्मों (Qualities) का रहना अनिवार्य है। प्रत्येक वस्तु तथा विचार में एक ऐसी शक्ति अन्तर्निहित होती है जो अपने विरोधी को जन्म दे।

हेगेल ने विरोध-नियम को उस अर्थ में स्वीकार नहीं किया जिसमें वह प्राचीन तर्कशास्त्रियों को मान्य रहा है। सामान्यतः तर्कशास्त्री चार प्रकार के विरोध मानते हैं—समावेश (Sub-alternation), विरोध (Contrariety), उप विरोध (Sub-contrariety) और आत्यन्तिक विरोध (Contradiction)। हेगेल समावेश को विरोध नहीं मानता और उपविरोध को विरोध के अन्तर्गत स्वीकार करता है। इस प्रकार दो ही विरोध-विरोध तथा आत्यन्तिक विरोध, रह जाते हैं। वह आत्यन्तिक विरोध को असंभव मानता है। विरोध सदैव भेद-रूप (Difference) होता है। यह भेद तर्कशास्त्रियों को विरोध (Contrariety) है, 'आत्यन्तिक विरोध' नहीं है। इस प्रकार हेगेल आत्यन्तिक विरोध की सत्ता ही को जगत् में नहीं मानता। वह केवल विरोध को ही स्वीकार करता है जो सत् का प्राण है। प्रत्येक वस्तु में, विचार में, यह नियम अन्तर्निहित है कि वह भेद उत्पन्न करे और उस भेद को अपना विशेषण बनाकर अपने स्वरूप में सन्निहित करे। संक्षेप में, विरोध का वास्तविक अर्थ 'भेद' (Difference) है और भेद सदा अभेद-मूलक होता है।

यह स्पष्ट है कि हेगेल की दृष्टि में, जो कुछ है वह सब निरपेक्ष विज्ञान का विकास मात्र है। यह विकास विरोध अथवा निषेध के कारण संभव होता है। निषेध शक्ति है; समस्त गति और प्रगति का प्राण है। निरपेक्ष विज्ञान का यह विकासात्मक क्रम तीन अवस्थाओं में से गुजरता है। यह विकास त्रिक्-रूप (Triadic) है—पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Antithesis) और समन्वय (Synthesis)। समस्त विचार, चित् या विज्ञान इन्हीं रूपों में विकसित होता है। इस सिद्धांत का नाम "द्वन्द्व-मूलक समन्वय" (Dialectical Synthesis) है जिसे "भेद विशिष्ट अभेद" या रामानुज की भाषा में, "विशिष्टाद्वैत" कहा जाता है। निरपेक्ष सत्ता में विधि और निषेध, पक्ष और विपक्ष, भेद और अभेद, दोनों ही सन्निहित है। परन्तु अलग-अलग दृष्टि से, दोनों अपूर्ण हैं। अपूर्ण को पूर्ण विकसित होने में ही विरोध, विपक्ष, भेद आदि निकल पड़ते हैं। उनका निकलना स्वाभाविक है। प्रत्येक अपूर्ण पक्ष या विज्ञान अपने विरोधी को उत्पन्न करता है। इस विरोध-शक्ति से ही उसका विकास होता है। किन्तु अन्ततोगत्वा विरोध विरोध नहीं रहता क्योंकि विरोध भेद-रूप है

और भेद सदा अभेद पर आश्रित रहता है। भेद और अभेद, पक्ष और विपक्ष, का सामंजस्य होना अनिवार्य है। यह सामंजस्य 'समन्वय' में होता है। लेकिन यदि समन्वय अपूर्ण है तो वह 'पक्ष' का रूप धारण कर लेता है। जैसे ही वह पक्ष बनता है विपक्ष निकल पड़ता है। पक्ष तथा विपक्ष का सामंजस्य अनिवार्य है, अतएव दोनों का समन्वय हो जाता है। वह फिर पक्ष में बदल जाता है। इस प्रकार जब तक अपूर्ण पूर्णत्व तक नहीं पहुँच जाता यह क्रमिक विकास-पक्ष, विपक्ष और समन्वय, निरन्तर चलता रहता है। यह क्रमिक विकास उसी समय समाप्त होगा जब अपूर्ण विज्ञान निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) तक पहुँच जाता है। पूर्ण विज्ञान, पूर्ण चित् अथवा पूर्ण समन्वय है। पूर्व समन्वय के पश्चात् पक्ष और विपक्ष नहीं बनता, क्योंकि अपूर्ण पूर्णत्व को प्राप्त कर चुका है। समस्त जगत् इस पूर्ण विज्ञान का भेद है और यह पूर्ण विज्ञान उसमें अनुगत अभेद है।

पूर्ण विज्ञान निरपेक्ष है। वह अवयवी है। समस्त पदार्थ उसके अवयव हैं। यह निरपेक्ष चित् विश्वात्मा है। विश्वात्मा विश्व से परे नहीं है। वह विश्व में ही अनुस्यूत है। प्रत्येक वस्तु इसी की अभिव्यक्ति है। पूर्ण समन्वय से पक्ष तथा प्रतिपक्ष शांत हो जाता है। इसी दृष्टि से, पूर्ण समन्वय को 'निषेध का निषेध' (Negation of Negation) या 'विरोध का विरोध' कहते हैं। निरपेक्ष पूर्ण विज्ञानमय है। वह पूर्ण समन्वय है। अतः पूर्ण विज्ञान, (चित्) की निरपेक्ष पूर्ण सत्ता है। इसलिए हेगेल कहता है कि 'चित् ही चित् है' या 'बोध ही सत्ता है।' पूर्ण समन्वय किसी का विनाश नहीं करता, बल्कि जो कुछ है उसी में सन्निहित रहता है। वाद तथा प्रतिवाद, अपना स्वरूप छोड़कर और समन्वय के विशेषण बनकर उसके उन्नत स्वरूप के अंग बन जाते हैं। उनके गुण पूर्ण विज्ञान के गुण बन जाते हैं। अतः पूर्ण चित् के विकास में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। पूर्ण विज्ञान निरपेक्ष, विश्वात्मा सर्वगुण सम्पन्न है।

दर्शन का कार्य (Programme of Philosophy)

हेगेल के अनुसार, दर्शन के मूलतः तीन खण्ड हैं—तर्कशास्त्र (Logic), प्रकृति-विज्ञान (Philosophy of Nature) और आत्म-विज्ञान (Philosophy of Spirit)।

तर्कशास्त्र एक मौलिक विज्ञान है क्योंकि वह निरपेक्ष चित्-क्रम को ज्यों का त्यों व्यक्त करता है। द्वन्द्वात्मक विज्ञान सार्वभौम मन के आंतरिक मूल तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। विचार-क्रिया में मन अपने को स्वतः जान लेता है। अतएव सत् और चित्, कला और ज्ञेय, विषय तथा रूप, एक ही हैं। वे श्रेणियां (Categories) जो तर्कशास्त्र के विचार-क्रम में विकसित होती हैं, यथार्थता की श्रेणियों के समान ही हैं। दोनों का तात्त्विक तथा तार्किक महत्त्व है। मनुष्य तथा जगत् दोनों में चित् की सत्ता समान है। सार्वभौम मन या विज्ञान दोनों में निहित है। अतः चाहे हम अपने अन्दर द्वन्द्वात्मक क्रमों का अध्ययन करें या जगत् में चल रहे क्रमों

का, समान परिणामों पर ही पहुँचेंगे। हम अध्ययन कहीं से भी प्रारम्भ करें, हमारे निष्कर्षों में कोई अन्तर नहीं होगा।

तर्कशास्त्र का विषय विशुद्ध विज्ञान (चित्) है जो सृष्टि के पूर्व निरपेक्ष स्थिति में विद्यमान होता है। इस विज्ञान के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं है। इसलिए विज्ञान या चित् का अध्ययन वस्तु जगत् का ही अध्ययन है। विशुद्ध या अमूर्त विज्ञान के तीन रूप हैं—सत्ता (Being), स्वरूप (Essence) और विचार (Notion)। सत्ता पक्ष (Thesis) है; स्वरूप प्रतिपक्ष (Antithesis); और विचार समन्वय (Synthesis) है। सत्ता के भी तीन रूप हैं—गुण (Quality), परिमाण (Quantity) और मात्रा (Measure) जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। स्वरूप के भी तीन रूप हैं—अधिष्ठान (Ground), प्रतीति (Appearance) और वास्तविकता (Actuality), जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। विचार के भी तीन रूप हैं—आत्मगत-विज्ञान (Subjective Notion), वस्तुगत-विज्ञान (Objective Notion) और निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea), जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। हेगेल के दर्शन में त्रिक नियम अबाध है। यह सार्वभौमिक है और सर्वत्र लागू होता है क्योंकि समस्त विकास या पूर्णता का मौलिक आधार यह द्वन्द्वात्मक समन्वय ही है।

हेगेल की दृष्टि में, दर्शन (Logic or Metaphysics) ही सर्वोत्तम ज्ञान है। वह ज्ञान के तीन स्तर मानता है। प्रथम 'साधारण ज्ञान' होता है। यह ज्ञान जगत् की वस्तुओं को अलग-अलग देखता है। यह इन्द्रिय-संवेदन-जन्य ज्ञान का स्तर है। द्वितीय 'वैज्ञानिक ज्ञान' होता है। यह ज्ञान वस्तुओं के व्यापक नियम की खोज करता है। यह स्तर सविकल्प बुद्धि का है। तृतीय 'दार्शनिक ज्ञान है' जो सर्वोच्च है। इस ज्ञान में वस्तुओं को विज्ञान (चित्) के रूप में देखा जाता है। समस्त वस्तुएँ निरपेक्ष समन्वयात्मक पूर्ण विज्ञान की अभिव्यक्तियां हैं। दार्शनिक ज्ञान का स्तर प्रज्ञारूप है। दर्शन ही परम तत्त्व का ज्ञान है। दर्शन के दो व्यावहारिक पक्ष हैं—प्रकृति-विज्ञान और आत्म-विज्ञान।

तर्कशास्त्र धारणाओं को व्यक्त करता है। वह बतलाता है कि किस प्रकार एक धारणा दूसरी धारणा से अवतरित होती है। इस प्रकार व्याख्या करते-करते हम उस धारणा तक पहुँच जाते हैं जहाँ पूर्णत्व है। जब हम इन धारणाओं के बारे में चिंतन करते हैं तब अपने को यथार्थ जगत् में पाते हैं। यह तर्कशास्त्र का अमूर्त विषय है। किन्तु तर्कशास्त्र केवल मानसिक क्रम ही नहीं है जो हमारे मनस् में घटित होता हो। तर्कशास्त्र का विषय अमूर्त विज्ञान—अपने को बाह्य रूप में व्यक्त करता है। प्रकृति वस्तुतः विज्ञान से भिन्न है। यह कहना सत्य नहीं होगा कि अमूर्त विज्ञान (Logical Idea) प्रकृति में परिणित हो जाता है। प्रकृति विज्ञान या चित् (Idea) का ही बाह्य रूप है। वह अमूर्त विज्ञान प्रकृति बन जाता है

ताकि वह विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, के द्वैत से ऊपर उठकर अपने समन्वयात्मक आत्मरूप का साक्षात् कर सके। अमूर्त विज्ञान (Logical Idea) इसलिए प्रकृति-विज्ञान बनता है कि उसके द्वारा मूर्त विज्ञान (Concrete Idea) बन सके। इस प्रकृति को हेगेल 'अचेतन बुद्धि' (Unconscious Intelligence) कहता है।

प्रकृति में भी द्वन्द्वात्मक क्रम चलता है। प्रकृति के तीन रूप होते हैं-जड़रूप, रासायनिक रूप और प्राणरूप, जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। जड़रूप तन्मात्र है। उससे गति उत्पन्न होती है। उसमें यांत्रिकता का आधिक्य है। उसमें चैतन्य सुषुप्तावस्था में होता है। किन्तु धीरे-धीरे जब जड़रूप में चैतन्य उत्पन्न होने लगता है तो वह रासायनिक रूप बनने लगता है जिसमें गुणात्मक भेद उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्रकाश, ताप, विद्युत् आदि शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। जड़ तथा रासायनिक दो रूपों का समन्वय प्राणरूप में होता है। इसके फलस्वरूप वनस्पति-सृष्टि का विकास होता है। तत्पश्चात पशु-जगत् उत्पन्न होता है जिसमें संवेदन-शक्ति का आविर्भाव होता है। इस प्रकार विज्ञान या चित् का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। पशु-जगत् का सर्वोच्च रूप मानव शरीर है जहाँ प्रकृति का विकास पूर्ण हो जाता है और चित-शक्ति का विकास प्रारम्भ होता है।

हेगेल के दर्शन का तृतीय खण्ड आत्म-विज्ञान (Philosophy of Spirit) है। यह चित्-शक्ति या मानसिक जगत् है। चित् भी विकास की द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं में होकर गुजरता है। चित्-शक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं: विषयी-विज्ञान (Subjective Mind), विषय-विज्ञान (Objective Mind) और निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Mind)। मनस् या आत्मा मानव की संस्कृति और सभ्यता का क्रमिक विकास है।

सर्वप्रथम चित्-शक्ति अपने को विषयी-आत्मा (Subjective Mind) के रूप में अभिव्यक्त करती है। मानव जीवन का यह मौलिक रूप है जिसमें चेतना और स्वतंत्रता अर्थात् ज्ञान और संकल्प मुख्य हैं। जीव ज्ञाता है और वह संकल्प क्रिया में स्वतंत्र है। वह शुभ और अशुभ कार्यों का कर्ता एवं भोक्ता है। वस्तुओं का अपने संकल्प के अनुरूप तथा अनुकूल निर्माण करने की उसमें सामर्थ्य है। प्रारम्भ में, स्वतंत्रता तथा सामर्थ्य पर सहज प्रवृत्तियों तथा मनोवेगों का आधिपत्य था, किन्तु धीरे-धीरे जब चित्-शक्ति का विकास होता गया, उसकी स्वतंत्रता निरन्तर बढ़ती गयी। परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति की धारणा बलवती बन गयी और व्यक्तिगत जीव की सुख सुविधा मानव का एकमात्र लक्ष्य हो गया। विकास की परिपक्वता में; व्यक्ति ने अन्य व्यक्तियों की चेतना और स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। इस प्रकार हेगेल के दर्शन में व्यक्ति-चैतन्य से समाज-चैतन्य का विकास हुआ।

बढ़कर धर्म है। कलात्मक अनुभूति का सर्वोच्च रूप धार्मिक अन्तर्दृष्टि है। धर्म के मुख्य तत्त्व ईश्वर, जीव और उनका सम्बन्ध है। हेगेल ने ईसाई-धर्म को सर्वोत्तम कहा क्योंकि यह धर्म समन्वय का रूप है। पूर्वी धर्मों में ईश्वर का प्राधान्य है। यूनानी धर्मों में जीव का प्राधान्य है। ईसाई धर्म में ईश्वर और जीव का समन्वय ईसा मसीह के रूप में हुआ है। किन्तु हेगेल दर्शन को भी धर्म से ऊँचा मानता है क्योंकि धर्म में रूढ़िवादिता होती है जबकि दर्शन में चेतना के स्वातंत्र्य का पूर्ण विकास होता है। दर्शन ही पूर्ण निरपेक्ष की अभिव्यक्ति करता है।

पूर्ण विज्ञान ही निरपेक्ष है। वही समन्वय की चरम सीमा है। निरपेक्ष पक्ष नहीं बनता क्योंकि वह पूर्ण है। वह पूर्ण स्व-चेतन है जिसमें समस्त भेदों का अन्त हो जाता है। विषयी और विषय ज्ञाता और ज्ञेय, जीव और जगत्, का द्वैत परस्पर-विरोध के रूप में नहीं रहता। समस्त पदार्थ पूर्ण निरपेक्ष विज्ञान के जीवित अवयव हैं। न्यूनाधिक रूप में उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। जो कुछ है वह निरपेक्ष विज्ञान के अन्तर्गत ही है, उससे बाह्य कुछ नहीं है। जो अपूर्ण है वह निरपेक्ष विज्ञान में ही पूर्णता का दर्शन करता है। अतएव यह निरपेक्ष विज्ञान समस्त विश्व का आत्म-लाभ है। जगत् के कण-कण में उसकी ज्योति प्रकाशित होती है। जब तक किसी भी अंश में अपूर्णता है, पक्ष-प्रतिपक्ष-समन्वय का अविरल क्रम चलता रहता है। ज्यों ही निरपेक्ष विज्ञान पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, फिर कोई पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं बनता क्योंकि निरपेक्ष विज्ञान पूर्णसमन्वयात्मक है। संक्षेप में, जैसा कि हेगेल स्वयं कहता है, उसका दर्शन उस समन्वय का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें निरपेक्ष मनस् (Absolute Mind) स्व-चेतन बन जाता है।

सारांशतः हेगेल ने अपने दर्शन में उन समस्त विरोधों को समाप्त कर दिया जिन्हें कान्ट के दर्शन ने संवेदनों तथा प्रत्ययों, बुद्धि तथा श्रेणियों, बुद्धि एवं विवेक, प्रपंच और परमार्थ तत्त्वों के रूप में दिया। हेगेल ने माना कि अज्ञेयवाद तथा द्वैतवाद दार्शनिक जिज्ञासा को संतुष्ट नहीं करता। उसमें सबसे बड़ी समस्या परस्पर विरोधी तत्त्वों के सम्बन्ध की होती है जो कि उनको एक निरपेक्ष तत्व का अन्तरंग माने बिना दूर नहीं की जा सकती। वैसे हेगेल कान्ट की कई बातें मान लेता है जैसे दर्शन समीक्षात्मक होना चाहिए और बुद्धि ही प्रकृति को बनाती है। किन्तु वह कान्ट के अज्ञेयवाद को नहीं मानता और कहता है कि समस्त तत्त्व बुद्धिगम्य हैं। जो बुद्धिगम्य नहीं है उसका अस्तित्व ही नहीं है। अपने निरपेक्ष विज्ञानवाद में हेगेल समस्त भेदों को समाप्त कर देता है। उसके अनुसार उसका दर्शन समस्त दर्शनों एवं विचारों का समन्वय है और इसलिए वह पूर्ण है। किन्तु यह उसकी अपनी धारणा है और इस बात को सही मानने के लिए कोई तर्क-संगत प्रमाण नहीं है। हेगेल ने ... त्रिक्-नियम को सर्वत्र लागू किया है और उसी के आधार पर उसने सभ्यता,

संस्कृति, दर्शन, कला, समाज, इतिहास में विकास की विभिन्न अवस्थाओं का जो वर्गीकरण किया है वह बिल्कुल वैज्ञानिक नहीं है। फिर भी हेगेल ने दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया जिसने अनेक विचारधाराओं को जन्म दिया है। अतः हेगेल को 'युग प्रवर्तक' दार्शनिक की संज्ञा दी गई है।

□

15

कार्ल मार्क्स

(Karl Marx : 1818–1883)

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 को रेनिश परसिया के एक नगर त्रियेर में एक यहूदी परिवार में हुआ। उसका पिता वकील था जिसने सपरिवार ईसाई धर्म अपना लिया था। इस प्रकार परिवार के सभी सदस्य प्रोटेस्टेण्ट मत के अनुयायी थे। किन्तु मार्क्स की प्रारम्भ से ही ईसाई धर्म में रुचि नहीं थी। उसने बॉन तथा बर्लिन विश्वविद्यालयों में दर्शन का अध्ययन किया। वह हेगेल के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित था। हेगेल का प्रभाव इसके जीवन में अन्त तक रहा। सन् 1841 में मार्क्स ने 'एपीक्यूरस का भौतिकवाद' नामक प्रबन्ध पर जेना विश्वविद्यालय से डॉक्ट्रेट की उपाधि प्राप्ति की। प्रारम्भ में उसके राजनीतिक विचार उदारवादी थे। उसने पत्रकारिता को जीवन-यापन का साधन बनाया था। सन् 1842 में, वह एक पत्रिका का सम्पादक भी बना। अगले वर्ष उसका जेनी के साथ विवाह हो गया जो उसके बचपन से ही उसकी प्रेमिका थी। थोड़े दिनों पश्चात् सरकार ने उसके पत्र पर पाबन्दी लगा दी। वह पत्नी सहित पेरिस चला गया। वहाँ उसका समाजवादी लेखकों से परिचय हुआ। वहीं पर फ्रेडरिक एंगेल्स जैसे चिन्तक से सम्पर्क हुआ जो जीवन भर उसका मित्र रहा। फ्रान्स सरकार भी मार्क्स से प्रसन्न नहीं थी। सन् 1847 में उसे ब्रुसेल्स जाना पड़ा जहाँ प्रोधों की पुस्तक 'निर्धनता का दर्शन' (फिलॉस्फी ऑफ पॉवरटी) के उत्तर में 'दर्शन की निर्धनता' (पॉवरटी ऑफ फिलॉस्फी) नामक ग्रन्थ की रचना की। उसने 'कम्यूनिस्ट घोषणापत्र' भी लिखा जो फ्रांस की क्रान्ति के समय (1848) प्रकाशित हुआ। राजनीतिक वातावरण देखकर मार्क्स जर्मनी वापिस चला गया। किन्तु सन् 1849 में ही उसे वहाँ से निकाल दिया गया। तत्पश्चात् वह इंगलैंड चला गया जहाँ वह मृत्यु तक सपरिवार रहा। लन्दन में उसके दिन अत्यन्त निर्धनता में व्यतीत हुए। एंगेल्स ने उसके परिवार को भूखों मरने से बचाया क्योंकि वह धनी आदमी था। फिर भी मार्क्स के बच्चे दवा-दारू

संस्कृति, दर्शन, कला, समाज, इतिहास में विकास की विभिन्न अवस्थाओं का जो वर्गीकरण किया है वह बिल्कुल वैज्ञानिक नहीं है। फिर भी हेगेल ने दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया जिसने अनेक विचारधाराओं को जन्म दिया है। अतः हेगेल को 'युग प्रवर्तक' दार्शनिक की संज्ञा दी गई है।

□

15

कार्ल मार्क्स

(Karl Marx : 1818-1883)

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 को रेनिश परसिया के एक नगर त्रियेर में एक यहूदी परिवार में हुआ । उसका पिता वकील था जिसने सपरिवार ईसाई धर्म अपना लिया था । इस प्रकार परिवार के सभी सदस्य प्रोटेस्टेण्ट मत के अनुयायी थे । किन्तु मार्क्स की प्रारम्भ से ही ईसाई धर्म में रुचि नहीं थी । उसने बॉन तथा बर्लिन विश्वविद्यालयों में दर्शन का अध्ययन किया । वह हेगेल के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित था । हेगेल का प्रभाव इसके जीवन में अन्त तक रहा । सन् 1841 में मार्क्स ने 'एपीक्यूरस का भौतिकवाद' नामक प्रबन्ध पर जेना विश्वविद्यालय से डॉक्ट्रेट की उपाधि प्राप्ति की । प्रारम्भ में उसके राजनीतिक विचार उदारवादी थे । इसने पत्रकारिता को जीवन-यापन का साधन बनाया था । सन् 1842 में, वह एक पत्रिका का सम्पादक भी बना । अगले वर्ष उसका जेनी के साथ विवाह हो गया जो उसके बचपन से ही उसकी प्रेमिका थी । थोड़े दिनों पश्चात् सरकार ने उसके पत्र पर पाबन्दी लगा दी । वह पत्नी सहित पेरिस चला गया । वहाँ उसका समाजवादी लेखकों से परिचय हुआ । वहीं पर फ्रेडरिक एंगेल्स जैसे चिन्तक से सम्पर्क हुआ जो जीवन भर उसका मित्र रहा । फ्रान्स सरकार भी मार्क्स से प्रसन्न नहीं थी । सन् 1847 में उसे बुसैल्स जाना पड़ा जहाँ प्रोधों की पुस्तक 'निर्धनता का दर्शन' (फिलॉस्फी ऑफ पॉवरटी) के उत्तर में 'दर्शन की निर्धनता' (पॉवरटी ऑफ फिलॉस्फी) नामक ग्रन्थ की रचना की । उसने 'कम्यूनिस्ट घोषणापत्र' भी लिखा जो फ्रांस की क्रान्ति के समय (1848) प्रकाशित हुआ । राजनीतिक वातावरण देखकर मार्क्स जर्मनी वापिस चला गया । किन्तु सन् 1849 में ही उसे वहाँ से निकाल दिया गया । तत्पश्चात् वह इंगलैंड चला गया जहाँ वह मृत्यु तक सपरिवार रहा । लन्दन में उसके दिन अत्यन्त निर्धनता में व्यतीत हुए । एंगेल्स ने उसके परिवार को भूखों मरने से बचाया क्योंकि वह धनी आदमी था । फिर भी मार्क्स के बच्चे दवा-दारू

के अभाव में मर गये। ऐसी विकट आर्थिक कठिनाइयों में भी मार्क्स ने 'डॉस 'केपिटल' नामक विश्वविख्यात ग्रन्थ की रचना तीन भागों में की जिसकी तैयारी में एंगेल्स का सराहनीय योगदान रहा। मार्क्सवाद आज एक प्रभावशाली दर्शन बन चुका है।

ज्ञान-मीमांसा (Epistemology)

मार्क्स कान्ट तथा हेगेल की इस बात से असहमत है कि जगत् का पूर्ण ज्ञान असंभव है। वह यह मानता है कि विश्व सर्वथा ज्ञेय (Knowable) है। मानवी बुद्धि में यथार्थ की सही समझ (ज्ञान) प्राप्त करने की सामर्थ्य है। ज्ञान क्या है? ज्ञान मानव के मस्तिष्क में वस्तुगत जगत् और उसके नियमों का सक्रिय, सोद्देश्य प्रतिबिम्ब है। मानव के चारों ओर बाह्य जगत् ज्ञान का स्रोत है। मनुष्य के मस्तिष्क पर बाह्य जगत् की प्रतिक्रिया होती है और वह उसके अन्दर तदनुकूल उद्वेग, भावनाएँ और धारणाएँ उत्पन्न करता है जो ज्ञान के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं। अतः मार्क्स का ज्ञान-सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि "वस्तुगत जगत्, उसकी वस्तुएँ और व्यापार मानव ज्ञान का एक मात्र स्रोत है।"

मार्क्स ने ज्ञान का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त (Doctrine of Dialectical Materialism) प्रस्तुत किया जिसका मौलिक तथ्य इस बात में है कि यह ज्ञान की प्रक्रिया को व्यवहार पर, जनता के भौतिक उत्पादन सम्बन्धी कार्य-कलाप, पर आधारित करता है। इसी प्रक्रिया के दौरान मनुष्य वस्तुओं और व्यापारों का ज्ञान प्राप्त करता है। मार्क्स के दर्शन में, व्यवहार ज्ञान की प्रक्रिया का प्रारम्भिक बिन्दु है; उसका आधार है और साथ-साथ सत्य की कसौटी भी है। मनुष्य के व्यावहारिक कार्यकलाप तथा भौतिक उत्पादन में ही मानव ज्ञान का सक्रिय स्वरूप तथा सोद्देश्यता परिलक्षित होती है। मनुष्य, व्यक्ति के रूप में, विश्व पर सक्रिय प्रभाव नहीं डालता। व्यक्ति अन्य मनुष्यों के सहयोग से अर्थात् सम्पूर्ण समाज के साथ ही ऐसा कर सकता है। इसका अर्थ है कि यदि भौतिक जगत् ज्ञान का विषय या स्रोत है तो मानव समाज ज्ञान का कर्त्ता एवं उसका वाहक है। ज्ञान के सामाजिक स्वरूप का प्रतिपादन करना मार्क्सवादी ज्ञान सिद्धान्त की एक प्रमुख विशेषता है। अभी तक पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान की व्यक्तिवादी धारणाएँ ही प्रस्तुत की गई हैं। मार्क्सवाद में हमें ज्ञान का सामाजिक आधार मिलता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार, ज्ञान चिंतन को ज्ञात वस्तु के निकट लाने की अन्तहीन प्रक्रिया (Unending Process) है। वह चिंतन का अज्ञानता से ज्ञान की ओर, अपूर्ण तथा अनिश्चित ज्ञान से अधिक पूर्ण और अधिक निश्चित ज्ञान की ओर स्पन्दित होना है। ज्ञान की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है जिसमें पुराने मूल्यहीन मतों के स्थान पर नये-नये मत प्रकट होते हैं। अतः मानव व्यवहार ज्ञान के आधार का काम करता है।

व्यवहार (Practice) ज्ञान का प्रारम्भिक बिंदु और आधार है। यह इसलिए है कि ज्ञान स्वयं व्यवहार अथवा भौतिक उत्पादन पर आधारित है। ज्यों ही मानव जाति अस्तित्व में आई, मनुष्यों ने काम करना आरम्भ किया। जीवित रहने के लिए ऐसा करना आवश्यक है। काम के दौरान मनुष्य का प्रकृति की शक्तियों से मुकाबला होता है और वह धीरे-धीरे उन्हें समझने लगता है। इस प्रकार उत्पादन के विकास में नवीन ज्ञान की उत्पत्ति होती है। मानव व्यवहार ज्ञान के समक्ष निश्चित कार्य प्रस्तुत करता है और उन कार्यों की पूर्ति को सुगम बनाता है। ज्ञान की अभिवृद्धि व्यवहार के माध्यम से होती है। अतएव व्यवहार ज्ञान की नींव ही नहीं, उसका लक्ष्य भी है। मार्क्सवाद में तीन प्रकार का ज्ञान माना गया है :—

(1) संवेदनात्मक ज्ञान (Sensate Knowledge)—ज्ञान सदैव गतिमय तथा विकासमय होता है। ज्ञान का यह विकास प्रत्यक्ष सजीव अनुभूति से अमूर्त (Abstract) चिंतन की दिशा की गति में अभिव्यक्त होता है। सजीव अनुभूति से अविशिष्ट या अमूर्त चिंतन की ओर और उससे फिर व्यवहार की ओर जाना, सत्य के ज्ञान का यही द्वन्द्वात्मक पथ है।

ज्ञान का प्रारम्भ हमारी इन्द्रियों की सहायता से बाह्य जगत् की वस्तुओं द्वारा होता है। अतएव वस्तुओं की प्रत्यक्ष अनुभूति प्रारम्भिक सीढ़ी होती है। प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के बारे में प्रथम धारणाएँ इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त होती हैं। अतएव ज्ञानेन्द्रियाँ एक अर्थ में वे द्वार हैं जिनसे होकर बाह्य जगत् मानव-मस्तिष्क में प्रवेश करता है। बाह्‌य जगत् की वस्तुओं में विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक गुण पाये जाते हैं। वस्तुएँ गर्म या ठण्डी, ठोस या मुलायम, प्रकाशयुक्त या अन्धकार-मय होती हैं। ये गुण हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर आघात करते हैं और कुछ संवेदनाओं को जन्म देते हैं। अतः संवेदन किसी वस्तु के वैयक्तिक गुणों का सार है। संज्ञान की प्रक्रिया में इन संवेदनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे किसी वस्तु को परखने की सामग्री प्रदान करती हैं। संवेदनाएँ हमें वस्तुओं के बारे में जो सूचनाएँ प्रदान करती हैं, आगे उसी पर ज्ञान की समूची प्रक्रिया आधारित होती है। इन संवेदनाओं का मनोगत स्वरूप भी होता है। किन्तु उनका स्वरूप मानव मनोविज्ञान के नियमों, व्यक्ति की अपनी चारित्रिक विशेषताओं और उन सामाजिक अवस्थाओं से (सामाजिक परिवेश) जिनमें वह रहता है, प्रभावित होता है।

संवेदनाओं के अतिरिक्त, संवेदनात्मक ज्ञान में अनुभूतियाँ और भावनाएँ भी सम्मिलित हैं। इन्द्रियगत अनुभूतियाँ संवेदनात्मक ज्ञान का उच्चतर रूप हैं। वह रूप किसी वस्तु को उसकी संवेदनात्मक, प्रत्यक्ष सम्पूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित करता है। उसके बाह्‌य पहलुओं और विशिष्ट लक्षणों के कुल योग को प्रतिबिम्बित करता है। भावना मनुष्य के मस्तिष्क में पहले से विद्यमान अनुभूतियों का पुनर्जनन

है। अपने किसी पुराने साथी को बहुत दिनों से न देखे हुए भी हम उसकी कल्पना कर सकते हैं।

(2) तार्किक ज्ञान (Logical Knowledge)—मानव ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो बाह्य वस्तुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है वह तीव्र तथा रंग-बिरंगा होता है। किन्तु वह सीमित और धूर्ण होता है। संवेदनात्मक ज्ञान हमें वस्तुओं के बाहरी पहलुओं की धारणा प्रदान करता है। किन्तु वह वस्तुओं की आन्तरिक प्रकृति व उनके सार को, उनके विकास के नियमों को, प्रकट नहीं कर सकता। वस्तुओं के आन्तरिक नियमों को जानना ही ज्ञान का प्रयोजन है। नियमों का ज्ञान, वस्तुओं के सार का ज्ञान ही व्यावहारिक कार्यों में मनुष्य का पथ-प्रदर्शन कर सकता है। अमूर्त चिंतन (Abstract thinking) यहीं काम आता है।

तार्किक चिंतन ज्ञान के विकास की गुणात्मक रूप में नई उच्चतर सीढ़ी है। उसका काम किसी वस्तु के मुख्य गुण-धर्मों को प्रकट करना है। चिंतन के रूप में ही मनुष्य यथार्थ के विकास को अधिशासित करने वाले नियमों का ज्ञान प्राप्त करता है जो उसके व्यावहारिक कार्यों के लिए अति-आवश्यक है। तार्किक चिंतन का मुख्य रूप धारणा है जो वस्तुओं में उनके सभी पहलुओं को नहीं, बल्कि केवल सारभूत और आम पहलुओं को प्रतिबिम्बित करती है। धारणा के अन्तर्गत गौण लक्षणों की उपेक्षा की जाती है जैसे 'मानव' धारणा में वही आयेगा जो स्थिर, सामान्य तथा सारभूत है, जो हरेक मनुष्य में निहित है। 'मानव' धारणा में काम करने, भौतिक सम्पत्ति उत्पन्न करने, सोचने की क्षमता, न कि उम्र, निवास-स्थान आदि आते हैं। व्यावहारिक क्रियाकलाप धारणाओं के उद्भव का आधार है। व्यावहारिक जीवन के आधार पर ही आदमी सारभूत तथा सामान्य को, धारणाओं के गौण लक्षणों से पृथक् कर देता है।

धारणाओं के निर्माण में विश्लेषण और संश्लेषण जैसी तार्किक विधियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सारभूत तथा गौण को अलग-अलग करना विश्लेषण कहलाता है। संश्लेषण किसी व्यापार के अंशों को जोड़ना है। यह व्यापार को उसकी सम्पूर्णता में; उसके सभी लक्षणों एवं गुण धर्मों की एकता में समझना संभव बनाता है। अतएव विश्लेषण ज्ञान के उच्चतर रूप को संभव बनाता है।

मार्क्सवाद संसार की परिवर्तनशीलता (Change) को स्वीकार करता है। धारणाएँ संसार के निरन्तर विकासशील व्यवहार को प्रतिबिम्बित करती हैं। अतः वे स्वयं भी नमनशील तथा सचल होती हैं। भौतिक विकास के क्रम में, वर्तमान धारणाएँ गहन तथा विशद बनती चली जाती हैं। इसी में धारणाओं की नमनशीलता और सचलता अभिव्यक्त होती है।

निर्णय तथा निष्कर्ष, चिंतन के अन्य दो रूप हैं जो धारणाओं के आधार पर बनते हैं। निर्णय चिन्तन का वह रूप है जिसमें कोई बात बल देकर कही जाती है

जैसे "समाजवाद सबकी समृद्धि है।" निर्णय आपस में सम्बन्धित होते हैं। उनका सम्बन्ध तार्किक चिंतन का एक विशेष रूप है जिसे निष्कर्ष कहते हैं। निष्कर्ष अन्य निर्णयों के आधार पर प्राप्त नये निर्णय को कहते हैं। उपलब्ध ज्ञान से अवतरित किये गये निष्कर्षों के माध्यम से हम नया ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार निर्णय और निष्कर्ष ज्ञान की अभिवृद्धि में योगदान करते हैं।

(3) आनुमानिक ज्ञान (Hypothetical Knowledge)—मार्क्सवाद अनुमान (Hypothesis) को भी स्वीकार करता है। अनुमान तथा सिद्धान्त जैसे ज्ञान के उच्चतर रूपों में धारणाओं, निर्णयों और निष्कर्षों के जटिल योग निहित हुआ करते हैं। व्यापारों, घटनाओं और नियमों सम्बन्धी किसी मान्यता को अनुमान कहते हैं। पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति अथवा सौर-मण्डल की उत्पत्ति सम्बन्धी मान्यताएँ अनुमान के उदाहरण हैं। विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में, सिद्धान्तों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। विकास के निरन्तर क्रम में नये-नये अनुमानों और सिद्धान्तों की उत्पत्ति की जाती है। अतएव ज्ञान अपने विकास में एक लम्बा मार्ग तय करता है। वह सरलतम संवेदनों से जटिल वैज्ञानिक सिद्धान्तों तक जाता है।

संक्षेप में, संवेदनात्मक ज्ञान तथा अविशिष्ट विचार में एकता है क्योंकि दोनों एक ही भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करते हैं। दोनों का समान आधार है—मानव जाति का व्यावहारिक कार्यकलाप। निस्संदेह अविशिष्ट विचार संवेदनों के ऊपर आधारित है, उसमें ऐसी कोई चीज नहीं है जो ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त न हो, किन्तु अविशिष्ट विचार अधिक गम्भीर और विशद होता है। संवेदनात्मक ज्ञान और तार्किक ज्ञान में एकता होती है। वे एक दूसरे के पूरक हैं और एक दूसरे को समृद्ध बनाते हैं। अतः ज्ञान की प्रक्रिया में हमें न तो संवेदनों के संकेतों की उपेक्षा करनी चाहिये, न ही बुद्धि के निष्कर्षों की। लेकिन दर्शन में, अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों ही ऐसे मत हैं जो ज्ञान की प्रक्रिया को अलग-अलग एकांगी ढंग से समझते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)—मार्क्सवाद का तत्त्व-विचार, उसकी ज्ञान-मीमांसा पर आधारित है। उसमें केवल उसी को स्वीकार किये जाने पर बल दिया गया है जिसका संवेदनों से सम्बन्ध हो अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के परे किसी का अस्तित्व मान्य नहीं हो सकता। तार्किक चिंतन अनुमान या सिद्धान्त, में ऐसा कुछ नहीं होता जिसका सम्पर्क ज्ञानेन्द्रियों से न हुआ हो। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होता है वह, मार्क्सवाद के अनुसार, पुद्‌गल (Matter) है। पुद्‌गल ही अन्तिम सत्ता है। मानव चेतना पुद्‌गल के विकास का परिणाम है। पुद्‌गल प्रमुख है। चेतना गौण है। पुद्‌गल और चेतना में इस प्रकार का परस्पर सम्बन्ध मार्क्सवाद की आधारशिला है। यही कारण है कि उसके मत को भौतिकवादी दर्शन कहते हैं। पुद्‌गल से ही सब कुछ विकसित होता है। किन्तु मार्क्सवाद का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। उसे भौतिकवादी इसलिये कहते हैं कि वह

इस मान्यता को लेकर चलता है कि पुद्गल (प्रकृति) अथवा 'सत्ता' प्राथमिक (Primary) है और चेतना गौण (Secondary) है। वह जगत् की भौतिकता तथा ज्ञेयता को स्वीकार करता है और सम्पूर्ण जगत् को यथार्थ के रूप में देखता है। मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक इसलिये है कि वह यह मानता है कि यह भौतिक जगत् निरन्तर गतिशील, विकासमान और पुनरुज्जीव है।

मार्क्स ने हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को भौतिक जगत् तथा चेतना दोनों पर लागू किया। उसका कहना है कि हेगेल ने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति को न्यायोचित स्थान नहीं दिया। पक्ष, विपक्ष तथा समन्वय–द्वन्द्वात्मक पद्धति का क्रम है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विशेष विज्ञानों (भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, आदि) से इस बात में सर्वथा भिन्न है कि वह उन सामान्य नियमों का अध्ययन करता है जो यथार्थ (Reality) के समस्त क्षेत्रों में कार्यरत हैं। ये द्वन्द्वात्मक नियम, भौतिक जगत्, मानव समाज और विचार क्षेत्र में सामान्यतः सन्निहित हैं। इन नियमों को समझकर जीवन को समृद्धिशील बनाना मार्क्सवाद का मूल उद्देश्य है। भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक की आंगिक एकता मार्क्सवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि पुद्गल (Matter) और चेतना (Consciousness) क्या हैं? उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है?

दार्शनिक धारणा के रूप में पुद्गल उस गुणधर्म की अभिव्यक्ति करता है जो सभी वस्तुओं और व्यापारों में समान है। पुद्गल मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र है किन्तु वह उसकी चेतना में प्रतिबिम्बित होता है। पुद्गल की धारणा बड़ी व्यापक है। वह केवल किसी पृथक् वस्तु या प्रक्रिया को ही नहीं, वस्तुओं और व्यापारों के किसी समूह को ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण वस्तुगत वास्तविकता को अपने में सन्निहित करती है। पुद्गल में समस्त वाह्य सत्ता आती है। पुद्गल केवल गति में ही रहता है और गति के माध्यम से ही अपने को अभिव्यक्त करता है। गति के कारण ही भौतिक वस्तुओं का निर्माण संभव है। ये वस्तुएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर प्रभाव डालती हैं। गति पुद्गल के अस्तित्व का एक रूप है, उसका अभिन्न गुण है। गतिमान पुद्गल (Matter in motion) का कोई संचालक नहीं है। अतएव मार्क्सवाद ईश्वरवादी व्याख्या से बहुत दूर है। वह उन तात्त्विक विचारों से मुक्त है जिनमें पाश्चात्य दर्शन के अनेक चिंतक उलझे रहे।

भौतिकवादी द्वन्द्ववाद के अनुसार, चेतना पुद्गल नहीं है। चेतना अति-संगठित पुद्गल (Highly organized matter) का परिणाम है। वह मस्तिष्क का एक विशेष गुणधर्म है जिसके माध्यम से चेतना भौतिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है। वह भौतिक उपकरणों के प्रभाव से उदित और विकसित होती है। अतः चेतना पुद्गल के विकास की उपज है। विकास के क्रम में, अजीव से सजीव पुद्गल और सजीव पदार्थ से चिन्तनशील पुद्गल उत्पन्न हुआ। विचार की समस्त क्रियाएँ,

जैसे आवेग, इच्छा-शक्ति, संवेदन, भावना, मत, चरित्र, चेतना में सन्निहित हैं। यद्यपि चेतना अति-संगठित पुद्गल का गुणधर्म है, किन्तु पुद्गल से उदित होकर वह एक प्रकार की स्वतंत्र स्थिति प्राप्त कर लेती है और भौतिक जगत् के विकास पर सक्रिय प्रभाव डालती है। मनुष्य की चेतना पशुओं की मनःशक्ति से गुणात्मक रूप में भिन्न है। इस अन्तर का कारण यह है कि पशुओं की मनःशक्ति केवल जैव-कीय विकास की उपज है, पर मनुष्य की चेतना सामाजिक और ऐतिहासिक विकास की उपज है।

अपने चारों ओर की वस्तुगतता यथार्थ है। मानव संवेदन तथा चिन्तन द्वारा वह ज्ञेय है। मानव चेतना पुद्गल के विकास की उपज है—ये सब द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के मूल विचार हैं। यहाँ द्वन्द्ववाद की थोडी सी व्याख्या करना आवश्यक है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है—द्वन्द्ववाद क्या है?

द्वन्द्ववाद सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध का सिद्धान्त है—मार्क्स का द्वन्द्ववाद विकास का क्रम है। एंगेल्स ने एक स्थान पर लिखा है कि "द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज तथा चिन्तन की विकास गति के सामान्य नियमों का विज्ञान है।" यह विकास निरन्तर निम्नस्तर से उच्च स्तर की ओर, सरल से जटिल की ओर, चलता रहता है। भौतिक जगत् का विकास पुरातन के अवसान और नये के उद्भव की अनन्त प्रक्रिया है। प्रकृति समाज और विचार के विकास में नये की अजेयता प्रमुख विशेषता है। नया वह है जो प्रगतिशील, समुन्नत और जीवन-क्षम है, जो निरन्तर विकासमान है। यह भौतिक जगत् विकासशील ही नहीं अपितु एक सुसम्बद्ध, अखण्ड समग्रता भी है। वस्तुओं और व्यापारों का सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध और परस्पर पर प्रभावीकरण भौतिक जगत् की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। किसी वस्तु का असली ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसके सभी पहलुओं और सम्बन्धों का अध्ययन करना आवश्यक है। अतः द्वन्द्ववाद सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध (Universal Connection) का सिद्धान्त है।

मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद विकास एवं सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध की विद्या है। द्वन्द्वात्मक विकास के भौतिक नियमों का हम यहाँ विवेचन करेंगे :—

(i) विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम—यह नियम द्वन्द्ववाद का सार है। यह भौतिक जगत् की शाश्वत गति एवं विकास के स्रोतों की अभि-व्यक्ति करता है। विपरीत (Opposite) किसी वस्तु के वे आन्तरिक पहलू, प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ हैं जो परस्पर निषेधक होने के साथ-साथ एक दूसरे को पूर्व मान्य भी करती हैं। इन पहलुओं के अविच्छेद्य अन्तस्सम्बन्ध से ही विपरीतों की एकता बनती है। यह नियम सार्वत्रिक तथा आम है। वह समस्त वस्तुओं तथा व्यापारों में अन्त-र्निहित है। मानव समाज में भी इस प्रकार के अन्तर्विरोधी पहलू मिलेंगे। विपरीत वर्गो—श्रमिक और पूँजीपति के बिना पूँजीवादी समाज का होना असंभव है।

इस मान्यता को लेकर चलता है कि पुद्गल (प्रकृति) अथवा 'सत्ता' प्राथमिक (Primary) है और चेतना गौण (Secondary) है। वह जगत् की भौतिकता तथा ज्ञेयता को स्वीकार करता है और सम्पूर्ण जगत् को यथार्थ के रूप में देखता है। मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक इसलिये है कि वह यह मानता है कि यह भौतिक जगत् निरन्तर गतिशील, विकासमान और पुनरुज्जीव है।

मार्क्स ने हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को भौतिक जगत् तथा चेतना दोनों पर लागू किया। उसका कहना है कि हेगेल ने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति को न्यायोचित स्थान नहीं दिया। पक्ष, विपक्ष तथा समन्वय—द्वन्द्वात्मक पद्धति का क्रम है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विशेष विज्ञानों (भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, आदि) से इस बात में सर्वथा भिन्न है कि वह उन सामान्य नियमों का अध्ययन करता है जो यथार्थ (Reality) के समस्त क्षेत्रों में कार्यरत हैं। ये द्वन्द्वात्मक नियम, भौतिक जगत्, मानव समाज और विचार क्षेत्र में सामान्यतः सन्निहित हैं। इन नियमों को समझकर जीवन को समृद्धिशील बनाना मार्क्सवाद का मूल उद्देश्य है। भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक की आंगिक एकता मार्क्सवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि पुद्गल (Matter) और चेतना (Consciousness) क्या हैं? उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है?

दार्शनिक धारणा के रूप में पुद्गल उस गुणधर्म की अभिव्यक्ति करता है जो सभी वस्तुओं और व्यापारों में समान है। पुद्गल मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र है किन्तु वह उसकी चेतना में प्रतिबिम्बित होता है। पुद्गल की धारणा बड़ी व्यापक है। वह केवल किसी पृथक् वस्तु या प्रक्रिया को ही नहीं, वस्तुओं और व्यापारों के किसी समूह को ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण वस्तुगत वास्तविकता को अपने में सन्निहित करती है। पुद्गल में समस्त बाह्य सत्ता आती है। पुद्गल केवल गति में ही रहता है और गति के माध्यम से ही अपने को अभिव्यक्त करता है। गति के कारण ही भौतिक वस्तुओं का निर्माण संभव है। ये वस्तुएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर प्रभाव डालती हैं। गति पुद्गल के अस्तित्व का एक रूप है, उसका अभिन्न गुण है। गतिमान पुद्गल (Matter in motion) का कोई संचालक नहीं है। अतएव मार्क्सवाद ईश्वरवादी व्याख्या से बहुत दूर है। वह उन तात्त्विक विचारों से मुक्त है जिनमें पाश्चात्य दर्शन के अनेक चिंतक उलझे रहे।

भौतिकवादी द्वन्द्ववाद के अनुसार, चेतना पुद्गल नहीं है। चेतना अतिसंगठित पुद्गल (Highly organized matter) का परिणाम है। वह मस्तिष्क का एक विशेष गुणधर्म है जिसके माध्यम से चेतना भौतिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है। वह भौतिक उपकरणों के प्रभाव से उदित और विकसित होती है। अतः चेतना पुद्गल के विकास की उपज है। विकास के क्रम में, अजीव से सजीव पुद्गल और सजीव पदार्थ से चिन्तनशील पुद्गल उत्पन्न हुआ। विचार की समस्त क्रियाएँ

जैसे आवेग, इच्छा-शक्ति, संवेदन, भावना, मत, चरित्र, चेतना में सन्निहित हैं। यद्यपि चेतना अति-संगठित पुद्‌गल का गुणधर्म है, किन्तु पुद्‌गल से उदित होकर वह एक प्रकार की स्वतंत्र स्थिति प्राप्त कर लेती है और भौतिक जगत् के विकास पर सक्रिय प्रभाव डालती है। मनुष्य की चेतना पशुओं की मनःशक्ति से गुणात्मक रूप में भिन्न है। इस अन्तर का कारण यह है कि पशुओं की मनःशक्ति केवल जैव-कीय विकास की उपज है, पर मनुष्य की चेतना सामाजिक और ऐतिहासिक विकास की उपज है।

अपने चारों ओर की वस्तुगतता यथार्थ है। मानव संवेदन तथा चिन्तन द्वारा वह ज्ञेय है। मानव चेतना पुद्‌गल के विकास की उपज है—ये नव द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के मूल विचार हैं। यहाँ द्वन्द्ववाद की थोड़ी सी व्याख्या करना आवश्यक है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है—द्वन्द्ववाद क्या है?

द्वन्द्ववाद सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध का सिद्धान्त है—मार्क्स का द्वन्द्ववाद विकास का क्रम है। एंगेल्स ने एक स्थान पर लिखा है कि "द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज तथा चिन्तन की विकास गति के सामान्य नियमों का विज्ञान है।" यह विकास निरन्तर निम्नस्तर से उच्च स्तर की ओर, सरल से जटिल की ओर, चलता रहता है। भौतिक जगत् का विकास पुरातन के अवसान और नये के उद्‌भव की अनन्त प्रक्रिया है। प्रकृति समाज और विचार के विकास में नये की अजेयता प्रमुख विशेषता है। नया वह है जो प्रगतिशील, समुन्नत और जीवन-क्षम है, जो निरन्तर विकासमान है। यह भौतिक जगत् विकासशील ही नहीं अपितु एक सुसम्बद्ध, अखण्ड समग्रता भी है। वस्तुओं और व्यापारों का सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध और परस्पर पर प्रभावीकरण भौतिक जगत् की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। किसी वस्तु का असली ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसके सभी पहलुओं और सम्बन्धों का अध्ययन करना आवश्यक है। अतः द्वन्द्ववाद सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध (Universal Connection) का सिद्धान्त है।

मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद विकास एवं सार्वत्रिक अन्तस्सम्बन्ध की विद्या है। द्वन्द्वात्मक विकास के भौतिक नियमों का हम यहाँ विवेचन करेंगे :—

(i) विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम—यह नियम द्वन्द्ववाद का सार है। यह भौतिक जगत् की शाश्वत गति एवं विकास के स्रोतों की अभिव्यक्ति करता है। विपरीत (Opposite) किसी वस्तु के वे आन्तरिक पहलू, प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ हैं जो परस्पर निषेधक होने के साथ-साथ एक दूसरे को पूर्व मान्य भी करती हैं। इन पहलुओं के अविच्छेद्य अन्तस्सम्बन्ध से ही विपरीतों की एकता बनती है। यह नियम सार्वत्रिक तथा आम है। वह समस्त वस्तुओं तथा व्यापारों में अन्तर्निहित है। मानव समाज में भी इस प्रकार के अन्तर्विरोधी पहलू मिलेंगे। विपरीत वर्गों—श्रमिक और पूँजीपति के बिना पूँजीवादी समाज का होना असंभव है।

विपरीतों की एकता का अर्थ उनमें निरन्तर परस्पर संघर्ष होना है। वस्तु के परस्पर विरोधी गुण शान्तपूर्वक एक दूसरे के साथ नहीं रह सकते। अन्तर्विरोध, विपरीतों का संघर्ष ही, पुद्गल और चेतना के विकास का मुख्य स्रोत है। यह संघर्ष भौतिक जगत्, मानव समाज तथा विचार में अर्थात् भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न ढंगों से अभिव्यंजित होता रहता है। उदाहरणार्थ: विरोधी वर्गों में पारस्परिक विरोध के कारण संघर्ष होता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक क्रांति होती है और पुरानी समाज-व्यवस्था के स्थान पर नवीन सामाजिक व्यवस्था आती है। संक्षेप में, विपरीतों का संघर्ष यथार्थ के विकास का स्रोत है। इन विरोधों के कई रूप होते हैं जैसे आन्तरिक तथा वाह्य अन्तर्विरोध, वैमनस्यपूर्ण और वैमनस्य-रहित अन्तर्विरोध, बुनियादी तथा गैर-बुनियादी अन्तर्विरोध।

(ii) **परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन में सन्तरण का नियम**—यह द्वन्द्ववाद का दूसरा नियम है जो सार्वत्रिक है। समस्त भौतिक जगत् में परिमाणात्मक (Quantitative) तथा गुणात्मक (Qualitative) भेद पाये जाते हैं। विकास के निरन्तर क्रम में परिमाण तथा गुण बदलते रहते हैं। जब परिमाणात्मक परिवर्तनों की विशेष सीमाएँ पार हो जाती हैं तो वे गुणात्मक हो जाते हैं। परिमाण गुण में बदल जाता है। परिमाणात्मक परिवर्तनों के फलस्वरूप गुणात्मक परिवर्तन तो होते ही हैं, गुणात्मक परिवर्तनों के फलस्वरूप परिमाण की भी वृद्धि होती है। सामाजिक व्यवस्था में आमूल, गुणात्मक परिवर्तन से, पूंजीवाद की जगह समाजवाद की स्थापना से विभिन्न प्रकार के परिमाणों में भी भारी परिवर्तन होता है। औद्योगिक और कृषि उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास अधिक तीव्र गति से होने लगता है, राष्ट्रीय आय और मजदूरी में वृद्धि होती है। इस प्रकार परिमाणात्मक और गुणात्मक परिवर्तन एक दूसरे से जुड़े हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। परिमाण तथा गुण परस्पर सम्बद्ध हैं।

(iii) **निषेध के निषेध का नियम**—हेगेल ने 'निषेध' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया कि विचार का विकास ही निषेध या विरोध में अन्तर्निहित होता है। हेगेल ने निषेध का प्रयोग विज्ञानवादी (Idealistic) अर्थ में किया। किन्तु मार्क्स ने उसका भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार, निषेध स्वयं पुद्गल के विकास का अभिन्न अंग है। किसी भी क्षेत्र में तब तक कोई विकास नहीं हो सकता जब तक वह अपने अस्तित्व के पुराने रूपों का निषेध न करे। इस नियम के आधीन प्रकृति, समाज तथा विचार में पुराने या कम विकसित के स्थान पर नवीन आता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। ज्ञान के विकास में भी निषेध अन्तर्निहित है। प्रत्येक नया, उन्नत वैज्ञानिक सिद्धान्त पुराने और कम विकसित सिद्धान्त का निषेध करता है। निषेध वस्तु के अपने ही आन्तरिक विकास का परिणाम होता है। समाजवाद पूंजीवाद का स्थान इसलिये ग्रहण करता है कि वह

पूंजीवादी व्यवस्था के आन्तरिक, आभ्यान्तरिक अन्तर्विरोधों का समाधान करता है। निषेध के क्रम में, पुराना पूर्णत: नष्ट नहीं होता। नया पुराने से वे लक्षण आत्मसात् कर लेता है जो विकास के लिये आवश्यक होते हैं। नया सदैव नया नहीं रहता। नये में परिपक्वता आने पर निषेध की पुनरावृत्ति होती है। यह निषेध का निषेध है अर्थात् उसका निषेध जिसने पहले स्वयं पुराने को अभिभूत किया था। इसी तरह यह अनन्त क्रम चलता रहता है। किन्तु नया जो पुराने का निषेध करता है, पुराने के सद्गुणों को कायम रखता है और उन्हें विकसित करता है। इसलिये विकास का मौलिक स्वरूप प्रगतिशील है।

समाज तथा नैतिक दर्शन (Social and Moral Philosophy)

मार्क्स का दर्शन यह मानता है कि समाज के विकास का स्वरूप भी द्वन्द्वात्मक और भौतिकवादी है। मार्क्सवाद में समाज के विकास के वैज्ञानिक सिद्धान्त का निरूपण किया गया है जिसे 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (Historical Materialism) कहते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद की विषयवस्तु 'समाज और उसके विकास के नियमों' का अध्ययन करना है। मार्क्स और एंगेल्स ने कहा कि सर्वसाधारण, मेहनतकश लोग ही इतिहास के सच्चे निर्माता हैं। जनता अपने श्रम द्वारा सारी भौतिक सम्पदा का सृजन करती है। समस्त साधारण नर-नारियों की मेहनत मानव जाति के जीवन और प्रगति की अनिवार्य नींव है। मानव-श्रम के बिना किसी प्रकार की व्यवस्था संभव नहीं हो सकती।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की यह मुख्य स्थापना है कि 'उत्पादन पद्धति' समाज के विकास में निर्णायक भूमिका अदा करती है। किसी भी उत्पादन पद्धति में 'श्रम' (Labour) का अत्यधिक महत्त्व होता है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति स्वयं नहीं करती। उनके लिये श्रम करना पड़ता है। श्रम के बिना, उत्पादक कार्य-कलाप के बिना, मानव जीवन ही असंभव हो जायेगा। अत: भौतिक सम्पदा का उत्पादन सामाजिक विकास का मुख्य निर्धारक उपादान है। उत्पादन लोग समाज में संगठित होकर और मिलजुलकर ही कर सकते हैं क्योंकि श्रम का स्वरूप सामाजिक है और सदैव ऐसा ही रहा है। उत्पादन के लिये, मनुष्य एक दूसरे के साथ निश्चित संसर्ग एवं सम्बन्ध स्थापित करते हैं और इन सामाजिक सम्बन्धों के दायरे में ही प्रकृति पर उनकी क्रिया होती है, उत्पादन होता है। उत्पादन पद्धति तथा वितरण सामाजिक स्वरूप को निर्धारित करते हैं। इसलिये मार्क्सवाद उत्पादन के साधनों (Means of Production) पर श्रमिकों का स्वामित्व चाहता है। ऐसा करने से ही शोषण का अन्त किया जा सकता है। यदि पूंजीपतियों के हाथ में उत्पादन के साधन रहते हैं तो सदैव श्रमिकों का शोषण होगा क्योंकि वे लोग श्रमिकों को पूरा वेतन नहीं देते और यह समझते हैं कि श्रमिक उनके ऐसे दास हैं जिनसे चाहे जितना काम लिया जा सकता है। जब तक उत्पादन विधि और उत्पादन सम्बन्धों पर पूंजी-पतियों का आधिपत्य रहता है, तब तक समस्त सामाजिक ढांचा उनके ही हित में

रहता है। जब श्रमिक-वर्ग अपने अधिकारों की मांग करते हैं तो पूंजीपति उनका दमन करते हैं। अत: श्रमिक-वर्ग तथा पूंजीपति-वर्ग का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। इसलिये मार्क्स ने यह घोषणा की "मानव समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।"

स्वाभाविक रूप से, प्रकृति तथा समाज का विकास श्रमिकों के हित में हो रहा है। किन्तु अपने हितों की रक्षा के लिये, संसार के समस्त श्रमिकों का संगठन होना आवश्यक है। श्रमिकों की सुदृढ़ एकता मार्क्स के समाज-दर्शन का मूलाधार है। वर्ग-संघर्ष में उनकी सफलता अनिवार्य है। वर्ग-संघर्ष की उपेक्षा करना जीवन को प्रगति के मार्ग से विमुख करना है। पूंजीवादी व्यवस्था में, थोड़े से लोग अपने हितों की रक्षा करने के लिये विभिन्न प्रकार के दमनचक्र चलाते हैं। किन्तु पूंजीपति वर्ग के साथ श्रमिक-वर्ग भी अपना विकास करता है। फलत श्रमिक-वर्ग का पूंजीपति-वर्ग के साथ विभिन्न रूपों में संघर्ष होता है। दोनों का पारस्परिक संघर्ष विविधतापूर्ण और होता चला जाता है। सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष के तीन मुख्य रूप हैं—आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक। आर्थिक संघर्ष सर्वहारा वर्ग द्वारा भौतिक स्थितियों को सुधारने और श्रम की अवस्थाओं को अच्छा बनाने का प्रयास है। श्रमिक मालिकों से न्यायोचित मजदूरी, काम के कम घण्टे, आदि की मांग करते हैं और उनकी पूर्ति होते न देख, हड़तालें करते हैं। आर्थिक संघर्ष का यह रूप राजनीतिक संघर्ष मे प्रवेश कर जाता है। राजनीतिक संघर्ष पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिये और सर्वहारा-अधिनायकवाद (Proletariat Dictatorship) की स्थापना के लिए आवश्यक है। राजनीतिक संघर्ष में विभिन्न प्रकार की हड़तालें तथा प्रदर्शनात्मक क्रियाएँ करनी पड़ती है। सर्वहारा के क्रांतिकारी आन्दोलन में वैचारिक संघर्ष का बहुत बड़ा महत्व है। यह संघर्ष पूंजीवादी विचारधारा के विरुद्ध किया जाता है ताकि समाजवादी विचारधारा का प्रसार एवं प्रचार हो। सर्वहारा की शीघ्र प्रगति तथा विजय के लिए, कभी-कभी बल का प्रयोग भी अनिवार्य हो जाता है। बल प्रयोग करने से संक्रमण-काल (Transitional period) की अवधि घट जाती है। संक्षेप में, वर्ग-संघर्ष समाज में नैतिक व्यवस्थाओं के निर्धारण में योगदान करता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की यह प्रमुख मान्यता है कि समाज का मूलाधार (Basis) उत्पादन सम्बन्ध या भौतिक स्थितियाँ हैं और कानून, नैतिकता, आदि अधि-संरचना (Superstructure) हैं। नैतिकता अधि-संरचना का महत्त्वपूर्ण तत्त्व होने के कारण, सामाजिक जीवन के हर पक्ष को प्रभावित करती है। मार्क्सवाद के अनुसार, दो प्रकार की नैतिकता होती है—पूंजीवादी नैतिकता तथा साम्यवादी नैतिकता।

पूंजीवादी नैतिकता समाज में, जैसा कि मार्क्सवादी मानते हैं, प्रतिक्रियावादी भूमिका अदा करती है। उसका प्रमुख लक्ष्य होता है : निजी सम्पत्ति और शोषण को निर-

न्तर बनाये रखना जो पूंजीवादी व्यवस्था की आधारशिला है। तथाकथित धार्मिक नैतिकता भी ऐसे कार्य की सिद्धि में सहायता करती है। पूंजीवादी व्यवस्था में धार्मिक उपदेश देकर श्रमिकों को उनके लक्ष्य से विचलित किया जाता है। उन्हें धीरज धरने, संतोष करने और मूक बने रहने के पुरस्कार के रूप में किसी अन्य दुनियां में स्वर्ग का लालच दिया जाता है जिसे आज तक किसी ने अपनी आंखों से नहीं देखा है। पूंजीवादी नैतिकता व्यक्तिगत लाभ पर आधारित होती है। आर्थिक स्वार्थ पहले आता है। इस प्रकार व्यक्तिवादी स्वार्थ पूंजीवादी नैतिकता का मुख्य सिद्धान्त है। समस्त उत्पादन के साधनों पर कुछेक व्यक्तियों का आधिपत्य होता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक उद्देश्य रह जाता है।

मार्क्सवादी नैतिकता सामाजिक उद्देश्य को लेकर चलती है। मार्क्सवादी नैतिक-विचार पूंजीवाद तथा निजी सम्पत्ति के विरुद्ध एक मानवीय अभिव्यक्ति है। शोषण को समाप्त करना उसका मूल लक्ष्य है। लेनिन ने साम्यवादी नैतिकता को सर्वहारा वर्ग संघर्ष के हितों के आधीन रखा। श्रमिकों के हितों की रक्षा करना नैतिकता का सामान्य ध्येय है। वे ही विचार शुभ हैं जो श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा के लिये व्यक्त किये जाते हैं और वे ही क्रियाएँ श्रेयस्कर है जो श्रमिक-वर्ग की विजय के लिए सम्पन्न की जाती हैं। पूंजीवादी विचार तथा क्रियाएँ श्रमिकों का हित नहीं देखतीं; उनके संघर्ष का दमन करती हैं तथा उनके श्रम का शोषण करने में व्यस्त होती हैं। इसलिए पूंजीवादी प्रभुत्व को समाप्त करना, समाजवाद की प्रतिष्ठापना करना और साम्यवादी समाज की ओर बढ़ना, मार्क्सवादी नैतिकता के प्रमुख उद्देश्य हैं।

जीवन में श्रम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। समाज के कल्याणार्थ ईमानदारी से श्रम करना, सार्वजनिक सम्पत्ति की हिफाजत करना, सार्वजनिक धन में अभिवृद्धि करना प्रत्येक व्यक्ति को सावधान रहना, आदि साम्यवादी नैतिकता की मांगें हैं। इसलिए साम्यवादी नैतिकता इस सिद्धान्त पर बल देती है कि "जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं।" सब लोगों के हित के लिए व्यवस्था हो, उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो, समान वितरण हो, आदि साम्यवादी नैतिकता के मूल तत्त्व हैं। साम्यवादी नैतिकता के प्रमुख मूल्य हैं–पारस्परिक सहयोग, श्रम के प्रति आदर, सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति, बन्धुत्वपूर्ण मैत्री, सामूहिकवाद में आस्था, अन्याय के प्रति संघर्ष, आदि। साम्यवादी नैतिकता की महत्वपूर्ण बात इस सिद्धान्त में व्यक्त होती है—"एक सबके लिए और सब एक के लिये।" सामाजिक कल्याण मानव प्राणियों का परम हित है।

यह स्मरण रहे कि साम्यवादी नैतिकता 'वर्ग-नैतिकता' (Class Morality) को लेकर प्रारम्भ होती है क्योंकि किसी भी समाज में नैतिकता पर आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वर्ग का आधिपत्य होता है। पूंजीवादी नैतिकता में, पूंजीपतियों का स्वार्थ

प्रथम होता है। वे श्रमिक-वर्ग की मांगों का दमन करते हैं। अतः अन्याय से टक्कर लेने के लिये, श्रमिक वर्ग संगठित होते हैं और अपनी दृष्टि से नैतिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन करते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों वर्ग-संघर्ष द्वारा समाजवाद की स्थापना होती है, त्यों-त्यों वर्ग-नैतिकता का स्वरूप समाजवाद में परिणित होता चला जाता है। सामाजिक कल्याणार्थ मूल्यों तथा संस्थाओं के विकास में यह समाजवादी नैतिकता, साम्यवादी व्यवस्था की ओर बढ़ती है जहाँ पहुँचकर आदमी स्वयं उतना काम करेंगे जितना उन्हें करना चाहिए और उतना ही उपभोग करेंगे जितना उनके लिए आवश्यक है। साम्यवादी नैतिक व्यवस्था में, वर्गाधार समाप्त हो जायेगा। यहाँ तक कि कोई वर्ग तथा राज्य नहीं रहेगा। समाज की व्यवस्था वर्ग-विहीन ही नहीं, अपितु, राज्य-विहीन भी हो सकेगी। स्वार्थवाद समाप्त हो जायेगा और सब लोग मानववादी मूल्यों से प्रेरित होकर विना किसी दबाव के अपना काम स्वयं करेंगे। तत्पश्चात् लोगों का संघर्ष प्रकृति के विरुद्ध चलेगा ताकि प्राकृतिक शक्तियों की खोज मनुष्य द्वारा समाज के कल्याणार्थ हो सके। मानव-संघर्ष का अन्त नही है क्योंकि मानव ही अपनी स्थिति का कर्ता है। उसका श्रम ही उसके व्यापक कल्याण का स्रोत है।

यह स्पष्ट है कि साम्यवादी नैतिकता मार्क्सवाद के भौतिकवादी दर्शन पर आधारित है। भौतिक स्थितियां (Material Conditions) प्रमुख हैं। उनके प्रवन्ध से ही समाज व्यवस्था का विकास होता है और उसी प्रकार अन्य मूल्यों का उद्भव होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन में धर्म का कोई स्थान नहीं है क्योंकि धर्म वास्तविकता (Reality) का एक विकृत रूप है। धर्म उन बातों की ओर ध्यानाकर्षित करता है जिनका श्रमिकों के वर्ग-संघर्ष से कोई सम्वन्ध नहीं है। अतः साम्यवादी नैतिकता धर्म-विहीन व्यवस्था है। वह ईश्वरवादी भी नहीं है क्योंकि मार्क्सवाद ईश्वर, नित्य-आत्मा, स्वर्ग, आदि को कल्पना मात्र मानता है। उनका संवेदनात्मक, तार्किक अथवा आनुमानिक ज्ञान असंभव है। जो भौतिकता से परे है, जिसका कोई संवेदन नहीं है, उसका अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। समाज में रहने वाले स्त्री-पुरुष अपना कल्याण आप कर सकते हैं। अतएव साम्यवादी नैतिकता स्वयं मानव परिश्रम की अभिव्यक्ति है। मार्क्सवाद जगत् के स्वरूप की व्याख्या पर उतना ध्यान केन्द्रित नहीं करता जितना कि वह जगत् को मानव कल्याण के लिये परिवर्तित करने पर वल देता है। वह दर्शन को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक निर्माण में एक साधन मानता है।

□

परिशिष्ट : 1

(क) सम्प्रत्यय, सिद्धान्त एवं मूल-ग्रन्थ

दार्शनिक सम्प्रत्ययों का अर्थ

निरपेक्ष सत्ता (Absolute)

दर्शन में परमतत्व को निरपेक्ष सत्ता कहा जाता है। यह मुख्यतः अध्यात्मवादी दर्शन में सर्वोच्च सत्ता है जो सर्वग्राही, स्वयंभू, नित्य, निरुपाधि, स्वतंत्र और पूर्ण है। निरपेक्ष वह परमतत्त्व है जो देश, काल, परिस्थिति आदि से सम्बन्ध न रखने वाला, उपाधियों से रहित, अनन्य रूप से अस्तित्व रखने वाला, दोषों से सर्वथा, हीन, सर्वोच्च इत्यादि है। उसमें वह सब कुछ है जो सत्ता में है। वही समस्त अस्तित्व का आधार है जैसा कि हेगेल के दर्शन में मिलता है।

परम-प्रत्ययवाद (Absolute Idealism)

यह सम्प्रत्यय परमतत्त्व से सम्बन्धित है। पाश्चात्य दर्शन में, हेगेल का तत्त्व-मीमांसीय सिद्धान्त जिसमें परमतत्त्व ही चिद्रूप या आध्यात्मिक और सम्पूर्ण सत्ता की आधारभूत एकता के रूप में माना गया है। भारतीय दर्शन में ब्रह्म को इस विचारधारा का समकक्ष मानना चाहिए।

सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics)

दर्शन की वह शाखा जो सौन्दर्य, उसके मानकों तथा निर्णयों का विवेचन करती है। सौन्दर्य आत्मगत है अथवा वस्तुगत। इसी के अन्तर्गत विश्लेपित किया जाता है। अब यह कलाकृतियों और रसानुभूतियों का अध्ययन करने वाला एक स्वतंत्र शास्त्र है। यह समस्त सौन्दर्य भावों का एक सुसंगठित अध्ययन है।

अज्ञेयवाद (Agnosticism)

यह वह विचारधारा है जो ईश्वर तथा परमतत्त्व के ज्ञान को असंभव मानती है। इसमें विवाद परमतत्त्व. ईश्वर आदि के अस्तित्व पर न होकर, उनके स्वरूप से सम्बन्धित है अर्थात् जगत् के मूलरूप का ज्ञान पूर्णतः या आंशिक रूप में संभव नहीं

है। अज्ञेयवाद एक प्रकार से सन्देहवाद का समर्थन भी करता है जैसा कि ह्यूम के दर्शन में मिलता है।

अज्ञेयवादी प्रकृतिवाद (Agnostic Naturalism)

यह वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि पुद्गल और आत्मा का स्वरूप तो अज्ञेय है, पर फिर भी विश्व को दृश्य घटनाओं के रूप में समझा जा सकता है, जिसमें आत्मा या मन की स्थिति अकिंचित्कर छाया की तरह होती है।

विश्लेषणात्मक कथन (Analytic Statement)

यह ज्ञान की समस्या का एक पक्ष है जिसे कान्ट की ज्ञान-मीमांसा में विवेचित किया गया है। कान्ट के अनुसार ज्ञान सदैव निर्णयों (कथनों) के रूप में होता है जिनमें या तो किसी बात को स्वीकार किया जाता है या उसे अस्वीकार किया जाता है। किन्तु प्रत्येक निर्णय या कथन ज्ञान नहीं होता। किसी विश्लेषणात्मककथन में विधेय वही व्यक्त करता है जो उद्देश्य में पहले से ही है जैसे "वस्तु विस्तारमय होती है।" अतः विश्लेषणात्मक कथन वह है जिसका विधेय उद्देश्य के गुणार्थ में पहले से ही निहित रहता है।

प्रागनुभविक (A Priori)

उन सिद्धान्तों या प्रतिज्ञप्तियों के लिए संज्ञा और विशेषण के रूप में प्रयुक्त लैटिन शब्द जिनकी वैधता अनुभव पर आश्रित नहीं होती या जिनके ज्ञान के लिए अनुभव की अपेक्षा नहीं होती अथवा जो तर्कबुद्धि मात्र से ज्ञेय होते हैं। उदाहरण के लिए, दो समानान्तर रेखाएँ कभी नहीं मिलती हैं। इस प्रकार के ज्ञान के लिए किसी प्रकार के अनुभव की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिए इसे प्रागनुभविक ज्ञान कहते हैं।

आनुभविक (A Posteriori)

ज्ञान की उस सामग्री के लिए प्रयुक्त सम्प्रत्यय जो अनुभव से प्राप्त होती है अर्थात् कुछ ज्ञान ऐसा होता है जो इन्द्रियानुभव के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। उदाहरणतः, अग्नि जलाती है; बर्फ ठण्डी होती है। ऐसा ज्ञान अनुभवाश्रित होता है जिसे आनुभविक-ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। यह प्रागनुभविक ज्ञान का उल्टा है जो मात्र तर्कबुद्धि से ही संभव होता है।

साहचर्यवाद (Associationism)

यह वह सिद्धान्त है जो मन की संरचना एवं उसके संगठन के बारे में मानता है कि प्रत्येक मानसिक अवस्था सरल, विविक्त घटकों से बनी होती है और सम्पूर्ण

मानसिक जीवन की इन्हीं घटकों के संयोजन और पुनर्योजन के द्वारा व्याख्या की जा सकती है।

प्रत्ययों का साहचर्य (Association of Ideas)

विभिन्न प्रत्यय अव्यवस्थित नहीं होते। उनमें एक नियमावस्था होती है। उनमें पारस्परिक एकता भी पाई जाती है। एक प्रत्यय के बाद दूसरा प्रत्यय आता है। वे संयोगवश ही जुड़े हुए नहीं होते। किसी चित्र को देखने पर हमें मूल दृश्य स्मरण हो आता है। यह सादृश्यानुमान है। मकान का एक कमरा पास वाले कमरे का संकेत देता है। यह सामीप्य है। घाव के साथ दु:ख का विचार आता है। यह कारण-कार्य कहलाता है। इन सबको ह्यूम प्रत्ययों का साहचर्य कहता है। साहचर्य के नियम हैं—सादृश्य, दिक् तथा काल में सामीप्य और कारण-कार्य का सम्बन्ध।

निरीश्वरवाद (Atheism)

यह वह सिद्धान्त है जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता अर्थात् जगत् में किसी प्रकार के ऐसे ईश्वर का अस्तित्व नहीं है जो सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी या सर्वशक्तिमान् हो। ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाले, परन्तु उसके स्वरूप को अवैयक्तिक मानने वाले मत के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

विशेषण (Attribute)

स्पिनोजा के अनुसार, ईश्वर अथवा द्रव्य में असंख्य विशेपण होते हैं। विशेपण से स्पिनोजा का तात्पर्य द्रव्य के उस सार से है जिसको बुद्धि जान पाती है। विशेपण ईश्वर के स्वरूप की वास्तविक अभिव्यंजना है। ईश्वर का हरेक विशेपण अपने में असीम तथा नित्य हैं। ईश्वर इतना महान् है कि उसमें असीम गुण असीम मात्रा में होते हैं। दो विशेषण, जिन्हें बुद्धि जान पाती है, मनस् एवं शरीर अथवा आत्मा तथा पुद्गल हैं।

मूल्य-मीमांसा (Axiology)

यह वह शास्त्र है जिसके अन्तर्गत मूल्यों के स्वरूप तथा मानदण्डों का अध्ययन किया जाता है। मूल्यों के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन इसी में होता है और साथ ही, मूल्यों की आत्मपरकता और वस्तुपरकता का विश्लेषण भी मूल्य-मीमांसा में किया जाता है। मूलतः यह दर्शन की एक शाखा है, पर अब इसे स्वतंत्र माना जाने लगा है।

संभवन (Becoming)

यह एक प्रकार का निरन्तर परिवर्तन है जो सत्ता में होता रहता है। इसमें किसी शक्य या बीजभूत स्थिति का वास्तविक रूप में आना है जो परिवर्तन द्वारा ही संभव होता है।

भाव, सत् (Being)

प्राचीन यूनान में, पारमेनिडीज द्वारा परिवर्तन के विपरीत अर्थ में सर्वथा परिवर्तनहीन सत्ता के लिए, जो एक ओर शाश्वत है, प्रयुक्त सम्प्रत्यय है। किन्तु आधुनिक दर्शन के अनुसार, जो कुछ भी मन में, कल्पना में। बुद्धि में या जगत् में, कहीं भी है, अस्तित्व रखता है या वास्तविक है, वह भाव या सत् है अर्थात् जिसका किसी भी रूप में अस्तित्व है, वह भाव है।

शिलाकल्प विश्व (Block Universe)

तर्कबुद्धिवाद और प्रत्ययवाद के आलोचकों की दृष्टि में, यह एक परिकल्पित विश्व है जिसकी व्यवस्था पहले से निर्धारित है। उसमें किसी प्रकार का हेर-फेर नहीं हो सकता, और जिसमें नवीनता, स्वतंत्रता तथा अनेकता के लिए बिलकुल भी कोई गुंजाइश नहीं है। अतः शिलाकल्प विश्व को एक 'अवरुद्ध-विश्व' कहा गया है।

मुख्य सद्गुण (Cardinal Virtues)

अरस्तू के अनुसार, सद्गुण वह भावना अथवा आदत है जिसमें ऐच्छिक प्रयोजन तथा चुनाव सन्निहित है और ऐसे मध्यम दृष्टिकोण पर आधारित है जिसका सम्बन्ध मानव प्राणियों से है। सभी सद्गुणों के आधारभूत मुख्यतः चार सद्गुण होते हैं— न्याय, मिताचार, साहस और प्रज्ञान। इन्हें ही मुख्य सद्गुणों की संज्ञा दी गई है।

कार्टीसियन–पद्धति (Cartesian Method)

रेने देकार्त की दार्शनिक पद्धति को कार्टीसियन-पद्धति कहा जाता है जिसकी मूल विशेषता यह है कि देकार्त समस्त वस्तुओं के प्रति सन्देह प्रकट करता है। उसके अनुसार, "ज्ञान का उद्गम सन्देह है।" किन्तु देकार्त का सन्देह उसके दर्शन का प्रारम्भ है, अन्त नहीं। वह ह्यूम की भाँति नितान्त सन्देहवादी नहीं है। अतः देकार्त की पद्धति में सन्देह होते हुए भी वह सन्देहवादी नहीं है।

कान्ट की वैचारिक कोटियाँ (Categories-Kant)

कान्ट के अनुसार, बुद्धि के अपने कुछ रूप (Forms) हैं जिनके आधार पर वह संवेदनों की व्यवस्था करती है। इनको बुद्धि की विशुद्ध धारणाएँ या विचार-श्रेणियाँ (वैचारिक कोटियाँ) कहा जाता है क्योंकि वे अनुभव से प्राप्त न होकर, प्रागनुभव हैं। ये विचार-श्रेणियाँ बारह हैं परिमाणात्मक : पूर्णता, अनेकता, एकता, गुणात्मक : सत्ता; अभाव, ससीमता, सम्बन्धात्मक : द्रव्य-गुण सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, अन्योन्य-सम्बन्ध; प्रकारात्मक : संभावना-असंभावना, भाव-अभाव, अनिवार्यता-आकस्मिकता। अनुभव इन्हीं श्रेणियों द्वारा ज्ञान के रूप में प्रामाणिक बनता है।

कारणता (Causality)

पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों दर्शनों में कारणता सिद्धान्त पर विशद् विवेचन किया गया है। यह कार्य-कारण का सम्बन्ध है अर्थात् दो घटनाओं का इस प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध कि एक के होने पर दूसरी हो और उसके न होने पर वह न हो। यह जगत् व्यवस्थित एवं कार्य-कारण शृंखला में आवद्ध है; यह विचार कारणता सिद्धान्त पर आश्रित है।

चिन्तये अतोऽस्मि (Cogito ergo sum)

यह देकार्त की एक सुप्रसिद्ध उक्ति है कि "मैं चिन्तन करता हूँ; इसलिए, मेरा अस्तित्व है।" वह इस सिद्धान्त को बिल्कुल स्पष्ट एवं निश्चित मानता है। कोई गम्भीर सन्देहवादी भी इस तथ्य की स्वीकृति से इन्कार नहीं कर सकता। देकार्त के दर्शन का यह प्रथम स्वयं-सिद्ध युक्ति-वाक्य है। यही उसकी ज्ञान-मीमांसा का मूलाधार भी है। इसी को वह तत्त्व-मीमांसा का प्रारम्भिक विन्दु मानता है।

सम्प्रत्यय (Concept)

सामान्यतः किसी वर्ग के व्यक्तियों में पाये जाने वाले समान और आवश्यक गुणधर्मों का समुच्चय सम्प्रत्यय कहलाता है। यह वह सामान्य धारणा है जिसमें एक ही वर्ग की सभी इकाइयों की विशेषताएँ सन्निहित होती हैं। उदाहरणतः गौत्व, मनुष्यत्व, द्रव्यत्व—सामान्य सम्प्रत्यय हैं।

सम्प्रत्ययवाद (Conceptualism)

यह नामवाद तथा वस्तुवाद के बीच का मत है। सम्प्रत्ययवाद यह मानता है कि सामान्य (जैसे, मनुष्यत्व, गौत्व) विशेष वस्तुओं के आवश्यक और समान गुणों के प्रत्यय होते हैं तथा उनका अस्तित्व हमारे मन के अन्दर होता है अर्थात् सामान्य का अस्तित्व तो है पर हमारे मन पर आश्रित है।

सृष्टि-मीमांसा (Cosmogony)

यह ब्रह्मांड की उत्पत्ति एवं विकास से सम्बन्धित अध्ययन है। यह अध्ययन वैज्ञानिक हो सकता है, दार्शनिक हो सकता है और कोरा कल्पनात्मक भी हो सकता है जैसाकि पुराणों तथा लोक-कथाओं में मिलता है। सृष्टिमीमांसा दर्शन की ही एक शाखा है जिसके अन्तर्गत ब्रह्मांड का आदि कारण ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है।

विश्वोत्पत्तिशास्त्र (Cosmology)

विश्वोत्पत्तिशास्त्र दर्शन का ही एक अंग है। यह दर्शन की वह शाखा है जो विश्व की प्रकृति (स्वरूप) एवं रचना का अध्ययन करती है। विश्व का स्वरूप ईश्वरवादी

हो अथवा निरीश्वरवादी, अध्यात्मवादी या भौतिकवादी, उसकी संरचना का विधिवत् अध्ययन विश्वोत्पत्तिशास्त्र में ही किया जाता है।

विश्वोत्पत्ति-मूलक युक्ति (Cosmological Argument)

विश्व में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होता है। कारणों की इस शृंखला के पीछे अवश्य ही एक ऐसा आदि कारण है जिसका कोई और कारण नहीं है। यही आदि कारण ईश्वर है जो सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी एवं सर्वशक्तिमान् है। विश्व के अस्तित्व के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए दी जाने वाली तर्क विश्वोत्पत्ति-मूलक युक्ति कहलाती है।

सृष्टि (Creation)

यह जगत् स्वतः विकसित नहीं हो सकता अर्थात् उसको किसी सर्वशक्तिमान् सत्ता ने उत्पन्न किया है। ऐसा अनेक विद्वानों तथा दार्शनिकों का विश्वास है। अतः ईश्वर के द्वारा जगत् की रचना-प्रक्रिया अथवा उसके द्वारा रची हुई वस्तुओं के सम्पूर्ण समूह को सृष्टि कहा जाता है। सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता का होना अनिवार्य है अर्थात् ईश्वर आदि।

सृष्टिवाद (Creationism)

सृष्टि से सृष्टिवाद की विचारधारा का जन्म हुआ। इसके अन्तर्गत दो पक्ष प्रबल हैं : (i) यह सिद्धान्त मानता है कि विश्व की सृष्टि (रचना) विश्वातीत ईश्वर द्वारा शून्य से हुई; और (ii) यह सिद्धान्त विश्वास करता है कि ईश्वर गर्भाधान के समय प्रत्येक व्यक्ति में एक आत्मा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार सृष्टिवाद में ईश्वर के अस्तित्व की परिकल्पना सन्निहित है।

समीक्षात्मक वास्तववाद (Critical Realism)

ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत यह वह मत है जो यह मानता है कि मन से स्वतंत्र बाह्य जगत् का अस्तित्व है, किन्तु ज्ञान में हर बात को वस्तुगत मानने में आने वाली कठिनाइयों को स्वीकार करता है। विशेषतः ड्रैक, लवजॉय इत्यादि सात समसामयिक अमरीकी वास्तववादियों के सम्प्रदाय का नाम 'समीक्षात्मक वास्तववाद' है।

समीक्षावाद (Criticalism)

कान्ट के दर्शन को समीक्षावाद कहा जाता है क्योंकि उसने बुद्धिवाद एवं अनुभववाद दोनों की समीक्षा करके यह पाया कि किसी एक के द्वारा निश्चित ज्ञान पाना असंभव है। अतः कान्ट ने बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के मूल-तत्त्वों का समन्वय करके अपने समीक्षात्मक दर्शन की प्रतिष्ठापना की अर्थात् ज्ञान-प्रक्रिया में बुद्धि तथा इन्द्रिय दोनों का महत्त्व है।

निगमन (Deduction)

यह अनुमान का वह प्रकार है जिसमें एक या अधिक आधार वाक्यों से ऐसा निष्कर्ष निकाला जाता है जो उनकी अपेक्षा कम सामान्य होता जैसे सभी मनुष्य बुद्धिशील प्राणी हैं, सभी विद्यार्थी मनुष्य हैं; अतः सभी विद्यार्थी बुद्धिशील प्राणी हैं। आगमन इस अनुमान का उल्टा है जिसमें कम सामान्य से अधिक सामान्य का अनुमान किया जाता है।

तटस्थ ईश्वरवाद (Deism)

इस मत के अनुसार, ईश्वर जगत् का कर्ता अवश्य है, पर उसकी सृष्टि करने के पश्चात् वह जगत् के कार्य-कलाप से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और उसमें बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करता अर्थात् वह जगत् की रचना के बाद बिल्कुल तटस्थ हो जाता है, और यह जगत् अपने नियमों के अनुरूप चलता रहता है।

नियतत्ववाद (Determinism)

यह सिद्धान्त मानता है कि जगत् की प्रत्येक घटना, कार्य, पूर्व-निर्धारित नियमों द्वारा नियन्त्रित है। विशेषतः इसकी यह मान्यता है कि व्यक्ति का संकल्प स्वतन्त्र नहीं होता, बल्कि मानसिक या भौतिक कारणों के द्वारा निर्धारित होता है। अतः कुछ भी आकस्मिक नहीं है।

द्वन्द्व समीक्षा (Dialectic)

आधुनिक दर्शन में, कान्ट के अनुसार, विप्रतिषेधों, तर्कभासों तथा शुद्ध तर्क-बुद्धि के प्रत्ययों का विवेचन, अथवा 'क्रि-टीक ऑफ प्योर रीज़न' का वह भाग जिसमें ऐसा विवेचन किया गया है। यह द्वन्द्व समीक्षा है। इसके अतिरिक्त 'द्वन्द्व न्याय' भी है जो हेगेल के अनुसार, पक्ष, प्रतिपक्ष और संपक्ष के तीन चरणों वाली तर्क या विचार की क्रिया है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)

यह कार्ल मार्क्स तथा ऐंगेल का मूल दर्शन है जो साम्यवाद की अधिकृत विचारधारा है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार, भौतिक द्रव्य, ज्ञानमीमांसीय तथा सत्ता-मीमांसीय दोनों दृष्टियो से, आधारभूत (अन्तिम) तत्त्व है। भौतिक तत्त्व को मन का पूर्ववर्ती माना गया है। समस्त जगत् भौतिक तत्त्वों से ही विकसित हुआ है अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जगत् के निरीश्वरवादी स्वरूप तथा संरचना में विश्वास रखता है। जगत् में जड़-तत्त्व ही प्रधान हैं। चेतना भौतिक तत्त्वों की एक व्युत्पत्ति है।

रूढ़िवाद (Dogmatism)

सामान्यतः रूढ़िवाद एक ऐसा विश्वास है जिसे तर्क अथवा अनुभव का समुचित आधार प्राप्त न हो, किन्तु फिर भी जिसे त्यागने के लिए व्यक्ति तैयार नहीं

होता । विशेषतः कान्ट की दृष्टि में, रूढ़िवाद वह तत्त्वमीमांसीय विश्वास है जिसे बौद्धिक औचित्य को दिखाए बिना और बुद्धि की प्रकृति और शक्ति की विश्लेषणात्मक परीक्षा किए बिना मान लिया गया हो ।

द्वैतवाद (Dualism)

तत्त्वमीमांसा में, वह सिद्धान्त जो दो स्वतन्त्र तत्त्वों अथवा सत्ताओं को अंतिम मानता है जैसाकि देकार्त का पुद्गल एवं आत्मा में विश्वास । पुद्गल तथा आत्मा एक दूसरे से भिन्न, पृथक्, तत्त्व हैं जिनकी स्वतंत्र सत्ताएँ हैं । ज्ञानमीमांसा में, यह सिद्धान्त कि प्रत्यक्ष में जिस बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है वह तथा ज्ञाता के मन में साक्षात् उपस्थित दत्त दो पृथक् तत्त्व हैं, न कि एक और अभिन्न ।

संकलनवाद (Eclecticism)

यह वह सिद्धान्त है जो मौलिक न होकर विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों या तन्त्रों के तत्त्वों को लेकर बनाया गया हो, अथवा ऐसे तत्त्वों को ग्रहण एवं संकलित करके आत्मसात् करने की वृत्ति को संकलनवाद कहा जाता है ।

अहंवाद (Egoism)

दार्शनिक क्षेत्र में, बर्कले इत्यादि द्वारा यह माना गया है कि अहम् ही सत्य है । समस्त बाह्य एवं आन्तरिक सत्ताएं अहम् पर आश्रित है । अहम् से स्वतंत्र कुछ भी नहीं है । इसीलिए, बर्कले ने कहा है कि "दृष्टि ही सृष्टि" है । फिक्टे का भी यह सिद्धान्त कि पराहम् (Absolute Ego) ही परम सत्य है, अहंवाद कहलाता है।

निस्सरणवाद (Emanationism)

इसे निर्गमनवाद या उद्भववाद भी कहते हैं । नव्य-प्लेटोवादी दर्शन में जगत् की उत्पत्ति सम्बन्धी यह एक सिद्धान्त है जो यह मानता है कि ईश्वर ने जगत् की सृष्टि नहीं की, अपितु यह समस्त विश्व ईश्वर के स्वरूप से निःसृत अथवा उद्भवित होता है । ईश्वर समस्त अस्तित्व का स्रोत है जैसा कि प्लोटिनस मानता है ।

अनुभववाद (Empisicism)

अनुभववाद बुद्धिवाद का प्रबल खण्डन करने वाला सिद्धान्त है । ज्ञानमीमांस में मुख्यतः अनुभववाद मानता है कि (संकीर्ण अर्थ में) इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला अनुभव अथवा (विस्तृत अर्थ में) किसी भी रूप में होने वाला अनुभव ही ज्ञान का और हमारे संप्रत्ययों का एकमात्र अन्तिम आधार है । जैसाकि लॉक का कहना है, अनुभव ही ज्ञान का स्रोत है । समस्त ज्ञान अनुभव द्वारा ही प्राप्त होता है ।

ज्ञानमीमांसा (Epistemology)

यह दर्शनशास्त्र की प्रमुख शाखा है जो ज्ञान की उत्पत्ति, संरचना, प्रणालियों

तथा स्रोतों का विवेचन करती है अर्थात् ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत सत्यता और उसकी कसौटियों का विवेचन किया जाता है।

अस्तित्ववाद (Existentialism)

कीर्केगार्द, हाइडेगर, इत्यादि कुछ आधुनिक दार्शनिकों के नाम के साथ जुड़े हुए एक आन्दोलन की विचारधारा का नाम, जिसका उद्देश्य चिंतन को विचारों और वस्तुओं से हटाकर मानवीय अस्तित्व पर केन्द्रित करना है। ज्यां-पॉं सात्र का नाम भी अस्तित्ववादी आन्दोलन में प्रमुख है। अस्तित्ववाद की मूल धारणा है कि "अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।"

अनुभव (Experience)

अनुभव वह ज्ञान की प्रक्रिया है जो इन्द्रियों से सम्बन्धित है। अतः मन तथा पंच-इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी महसूस होता है अथवा उनके द्वारा ज्ञात एवं प्राप्त होता है, वह अनुभव कहलाता है। अनुभववादी दार्शनिक (लॉक, बर्कले, ह्यूम) मानते हैं कि अनुभव ही समस्त ज्ञान का मूल स्रोत है।

तथ्य (Fact)

तथ्य से तात्पर्य उससे है जो वस्तुतः है; जो अस्तित्ववान् है, या जो घटित हुआ अथवा होता है। वस्तुस्थिति तथ्य का दूसरा नाम है। तथ्य मानसिक तथा भौतिक, विशेष एवं सामान्य, दोनों ही प्रकार का हो सकता है।

आस्था (Faith)

किसी ऐसी चीज में विश्वास जिसके पक्ष में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध न हो, अथवा जो प्रमाणों से परे हो, जैसे ईश्वर, अमरत्व, आवागमन, नैतिक आदर्श इत्यादि।

भाग्यवाद, दैववाद (Fatalism)

यह एक प्रकार का विश्वास है जो यह मानता है कि मनुष्य जो कुछ भी होता है अथवा करता है, वह पहले से ही ईश्वर के द्वारा निर्धारित होता है। मनुष्य अपने भाग्य के हाथों में एक खिलौना मात्र है।

अन्तिम कारण (Final Cause)

तत्वमीमांसा में, अंतिम कारण से तात्पर्य ईश्वर, प्रकृति, इत्यादि से है जो इस जगत् का मूल कारण है, पर उसका कोई कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त, अरस्तू के द्वारा स्वीकृत चार प्रकार के कारणों में से अंतिम, जो कि किसी चीज की उत्पत्ति के पीछे उत्पादनकर्त्ता का प्रयोजन या उद्देश्य होता है।

आकार (Form)

अरस्तू के दर्शन में, वस्तु का वह रूप जो उसके प्रकार को निर्धारित करता है। किसी वस्तु के दो पक्ष होते हैं—पुद्गल और आकार। पुद्गल भौतिक पक्ष प्रदान करता है, जबकि वस्तु का आकार उसे रूप (Form) में ढालता है। प्लेटो के दर्शन में, शाश्वत प्रत्यय को आकार कहा गया है। लेकिन कान्ट के दर्शन में, वह प्रागनुभविक तत्त्व जो इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री को एकता और व्यवस्था प्रदान करके सार्थक प्रत्यक्षों और निर्णयों में बदलता है।

मध्यम मत (Golden Mean)

अरस्तू के अनुसार, दो अतियों के बीच मध्यम मार्ग को 'मध्यम मत' कहा गया है। इसे सद्गुण भी कहते हैं। अधिकतम और न्यूनतम का मध्यम गुण सद्गुण है। उदाहरणतः साहस उद्दण्डता तथा कायरता का मध्यम मत (गुण) है।

एकैकाधिदेववाद (Henotheism)

यह वैदिक विचारधारा में पाया जाने वाला सिद्धान्त है। यह प्रत्येक देवता की स्तुति करते समय उसको सर्वोच्च मान लेने की प्रवृत्ति है। इस सिद्धान्त का नामकरण मैक्समूलर ने किया था।

ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)

इसके अन्तर्गत भौतिक तत्त्व प्रधान होते हैं। यह मार्क्स एवं एंगेल्स का मत है जो यह मानता है कि समाज का ढांचा और उसका ऐतिहासिक विकास "जीवन की भौतिक परिस्थितियों" अथवा जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन के तरीकों के द्वारा निर्धारित होते हैं। आर्थिक-सम्बन्ध समाज का आधार और अन्य चीजों (कानून, धर्म, नैतिकता, आदि) को समाज का ढाँचा माना गया है।

भूतजीववाद (Hylozoism)

यह सिद्धान्त मानता है कि जीवन भौतिक द्रव्य से व्युत्पन्न है, उसका एक गुणधर्म है और उससे पृथक् नहीं किया जा सकता अर्थात् वह कोई स्वतन्त्र और नया तत्त्व नहीं है।

विज्ञान-प्लेटोवादी (Idea-Platonic)

प्लेटो के तत्त्वदर्शन में, प्रत्यय का दूसरा नाम 'विज्ञान' है विज्ञान वस्तुओं का वह सार है जो सार्वभौम है। प्रत्येक विज्ञान का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उनकी मनुष्य और ईश्वर के मन से भी स्वतन्त्र सत्ता है। विज्ञान स्वतः स्थित मूल-द्रव्य हैं। वे वस्तुओं के अनुभवातीत मौलिक एवं प्रारम्भिक नित्य स्वरूप हैं। इस प्रकार प्लेटो के प्रत्यय अमूर्त, सार्वभौम तथा अतीन्द्रिय हैं।

आदर्श (Ideal)

सौन्दर्य, पूर्णता, नैतिक या भौतिक उत्कर्ष इत्यादि का वह पराकाष्ठागत रूप जिसे प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य है, पर जो कभी समग्र रूप में प्राप्त नहीं होता। वह सदैव आदर्शमात्र बना रहता है अर्थात् जो पूर्णतः व्यावहारिक नहीं हो सकता है।

प्रत्ययवाद, अध्यात्मवाद (Idealism)

यह ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा दोनों में पाया जाने वाला सिद्धान्त है। ज्ञानमीमांसा में, यह मानता है कि प्रत्यक्ष बोध केवल प्रत्ययों का ही होता है न कि बाह्य वस्तुओं का। तत्त्वमीमांसा में यह मत कि 'मनस्' या आत्मा का ही वास्तविक अस्तित्व है : परम सत्ता आध्यात्मिक चिद्रूप है, न कि भौतिक। प्रत्ययवाद में चेतन्य तत्त्व प्रधान हैं।

अन्तर्भूत (Immanent)

यह मुख्यतः ईश्वरमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा में ईश्वर या ब्रह्म के सन्दर्भ में प्रयुक्त सम्प्रत्यय है। इसका तात्पर्य है कि ईश्वर सर्वव्यापी है अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त, वर्तमान या उपस्थित है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञानी है। अन्य शब्दों में, ईश्वर जगत् में व्याप्त भी है और उससे अतीत भी है।

सवेदन, संस्कार (Impression)

ह्यूम के अनुसार, संवेदन अधिक स्पष्ट सजीव प्रत्यक्ष है। जब हम देखते, सुनते, स्पर्श, घृणा तथा प्रेम करते हैं तो मन में प्रथम बार जो तात्कालिक प्रभाव होते हैं वे संवेदन, भाव या भावनाएँ हैं। हमारे समस्त विचार या प्रत्यय इन्हीं संवेदनों की प्रतियां हैं। बाह्य संवेदन मन या आत्मा में अज्ञात कारणों से उत्पन्न होते हैं, जबकि आन्तरिक संवेदन स्वयं हमारे प्रत्ययों द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं। ह्यूम की दृष्टि में, समस्त ज्ञान इन्हीं संवेदनों तक सीमित है।

संस्कारवाद, संवेदनवाद (Impressionism)

ह्यूम का यह मत संस्कारवाद कहलाता है कि बाह्य वस्तुओं के हमारी इन्द्रियों के ऊपर जो संस्कार (या छाप) पड़ते हैं, उन्हीं से ज्ञान मूलतः प्राप्त होता है।

आगमन (Induction)

यह अनुमान का वह प्रकार है जिसके अन्तर्गत विशेष तथ्यों से सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है जैसे : गोपाल मरणशील है; मोहन मरणशील है; सोहन मरणशील है; इसलिए सब मनुष्य मरणशील हैं। अर्थात् विशेष तथ्यों के संकलन

या निरीक्षण के आधार पर सामान्य निष्कर्षों का अवतरण करने की प्रक्रिया आगमन है।

जन्मजात-प्रत्यय (Innate Ideas)

बुद्धिवाद के प्रणेता रेने देकार्त के अनुसार, ये वे प्रत्यय हैं जो जन्म से ही मनुष्य के मन में होते हैं, जिन्हें शिक्षा तथा अनुभव से प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, और सामान्यत: जो सभी मनुष्यों के मन में पहले से ही स्थित होते हैं। ईश्वर, अमरत्व, पाप, पुण्य नैतिकता, इत्यादि के प्रत्ययों को प्राय: जन्म-जात प्रत्यय माना गया है। ये जन्म-जात प्रत्यय ही ज्ञान का स्रोत हैं। यही देकार्त का बुद्धिवाद है जिसके द्वारा वह अनुभववाद के आधार को ही समाप्त कर देता है।

क्रिया-प्रतिक्रियावाद (Interactionism)

यह मन और शरीर के सम्बन्ध का सम्प्रत्यय है जिसे देकार्त ने स्थापित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार, मन और शरीर एक दूसरे से भिन्न दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, पर मन तथा शरीर के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है जिसके आधार पर मानवीय जीवन के समस्त व्यापार सम्पन्न होते हैं। पिनियल-ग्रन्थि के माध्यम से मन और शरीर के बीच एक निश्चित अन्तर्क्रिया होती है। देकार्त ने मन एवं शरीर की पारस्परिक क्रियाओं का कारण पिनियल-ग्रन्थि को ही माना है।

पर्याप्त-हेतु का नियम (Law of Sufficient reason)

यह तर्कशास्त्र में, विचार का एक आधारभूत नियम है। इस नियम के अनुसार, प्रत्येक परिवर्तन के पार्श्व में कोई न कोई पर्याप्त कारण होता है जिसके द्वारा उसकी संतोषजनक व्याख्या की जा सकती है। बिना कारण के, कुछ भी घटित नहीं होता। अत: प्रत्येक घटना के पीछे पर्याप्त कारण होता है।

भौतिक-द्रव्य, पुद्गल (Matter)

यह जड़तत्त्व है जो परिमाण, विस्तार, संहतत्त्व, आकर्षण, विकर्षण, आदि गुणधर्मों से युक्त वह द्रव्य जिससे दृश्य जगत् की वस्तुओं का निर्माण हुआ है। पुद्गल वह उपादान सामग्री है, जिससे कोई भौतिक वस्तु बनाई जाती है। अरस्तू के अनुसार, आकार (Form) से भिन्न वह स्थूल एवं अनियत चीज़ जिसे आकार प्रदान किया जाता है, पुद्गल है।

भौतिकवाद (Materialism)

यह सिद्धान्त भौतिक या जड़ तत्वों को प्रधान मानता है अर्थात् विश्व का मूल-स्वरूप भौतिक है, और चेतन तत्त्व भौतिक तत्वों की एक व्युत्पत्ति है। सामान्यत: भौतिकवाद ईश्वर आदि को नहीं मानता क्योंकि यह जगत् अपने ही अन्त-

निहित नियमों द्वारा विकसित होता है, और निरन्तर गतिशील बना रहता है। भौतिक तत्त्वों की किसी ने (ईश्वर) सृष्टि नहीं की। वे अनादि काल से हैं, और सदैव रहेंगे।

चिद्बिन्दु (Monad)

लाइबनित्ज के दर्शन में उन तात्त्विक सत्ताओं के लिए प्रयुक्त नाम जो चिद्रूप, आणविक, विस्तारहीन, गतिमान, नित्य, अविभाज्य, सप्रयोजन, इत्यादि हैं। ईश्वर को भी एक चिद्बिन्दु माना गया है, यद्यपि वह अन्य चिद्णुओं की अपेक्षा अधिक विकसित है। ये चिद्णु विशिष्ट, गवाक्षहीन तथा शाश्वत होते हैं। इनमें श्रेणियां होती हैं, और परम चिद्णु ईश्वर है जो अन्य सभी चिद्बिन्दुओं का सृष्टा है।

एकतत्त्ववाद, एकत्ववाद (Monism)

यह मुख्यतः तत्त्वमीमांसीय सम्प्रत्यय है। इस मत के अनुसार, इस नानात्व से युक्त विश्व में मूलभूत तत्त्व या सत्ता एक है जैसाकि स्पिनोजा (भारतीय दर्शन में शंकर) मानता है। संभवतः इस एक सत्ता के स्वरूप को लेकर यह विवाद हो सकता है कि क्या वह भौतिक है, आध्यात्मिक है अथवा दोनों है। यह सत्ता निरपेक्ष एवं नित्य, निराकार तथा निरवयव, इत्यादि है। यह सत्ता ही समस्त जगत् का मूलाधार है।

रहस्यवाद (Mysticism)

यह वह धार्मिक आस्था अथवा साधना-पद्धति है जो ईश्वर के अपरोक्षानुभव पर और अपने संकीर्ण अहं की सीमाओं को त्यागकर उसमें लीन हो जाने या उससे अभेद स्थापित करने पर बल देती है तथा प्रयोजन की प्राप्ति के लिए योग-मार्ग में बताये गये एकान्त, चिन्तन, मनन, ध्यान, समाधि इत्यादि उपायों का आश्रय लेती है। रहस्यवाद में ईश्वर के ज्ञान के लिए बुद्धि को असमर्थ माना गया है और उसके अनुभव को अनिर्वचनीय आनन्द की स्थिति कहा गया है जो तर्क तथा भाषा से परे है।

प्रकृतिवाद (Naturalism)

इस सिद्धान्त के अनुसार, विश्व में होने वाली किसी भी प्रक्रिया या घटना के पीछे किसी अतिप्राकृतिक शक्ति का हाथ नहीं है; सब कुछ प्रकृति से व्युत्पन्न है और कार्य-कारण नियम के द्वारा व्याख्येय है; प्रकृति के अन्दर कोई प्रयोजन कार्य नहीं कर रहा है; तथा मानवीय व्यवहार और नैतिक तथा सौन्दर्य मीमांसीय मूल्यों

को समझने के लिए भी किसी आध्यात्मिक सत्ता का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है।

नास्तिवाद, शून्यवाद (Nihilism)

यह मत कि संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है अर्थात् किसी वस्तु के बारे में निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता या फिर कोई वस्तु मूल्यवान नहीं है। इसमें यह भी माना गया है कि मृत्यु के पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहता।

नाममात्रवाद (Nominalism)

इस सिद्धान्त के अनुसार, 'सामान्य' कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसका समुचित अस्तित्व हो : 'मनुष्य' इत्यादि जो अनेक व्यापी पद हैं, जिनका एक से अधिक व्यक्तियों के लिए प्रयोग होता है, वे किसी ऐसी चीज़ के अस्तित्व के सूचक नहीं होते जो उन व्यष्टियों में समान हो; व्यष्टियों में समान केवल नाम होता है। अतः इस सिद्धान्त को नाममात्रवाद कहा गया है।

परमार्थसत्–कान्ट (Noumenon)

यह विशुद्ध चिन्तन का विषय है जो संवेदन के अंशों से बिल्कुल मुक्त होता है। इस अर्थ में प्लेटो ने 'प्रत्ययों' के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। किन्तु कान्ट ने इसका प्रयोग 'वस्तु-निजरूप' (thing-in-itself) के लिए किया है और इसे अनैंद्रिय प्रत्यक्ष का विषय कहा है। चूंकि परमार्थसत् का अनैंद्रिय प्रत्यक्ष हो नहीं सकता, इसलिए इसे कान्ट ने अज्ञेय माना है। परन्तु शुद्ध-बुद्धि के द्वारा अज्ञेय होने के बावजूद कान्ट ने इसे व्यावहारिक-बुद्धि का एक अभिगृहीत कहा है अर्थात् नैतिक हेतुओं से इसकी आवश्यकता स्वीकार की है।

प्रसंगवाद (Occasianalism)

17वीं शताब्दी के देकार्तवादी दार्शनिक गुलिंग्स का यह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि मन तथा शरीर दो भिन्न तत्त्व हैं, पर उनमें परस्पर क्रिया संभव है अर्थात् जब भी कोई मानसिक या भौतिक घटना घटती है तब ईश्वर उस अवसर पर हस्तक्षेप करके स्वयं तदनुरूप भौतिक या मानसिक घटना को उत्पन्न करता है। अतः यह सिद्धान्त प्रसंगवाद कहलाता है जिसके अनुसार, जगत् में समस्त घटनाएं या परिवर्तन ईश्वरीय संयोग या प्रसंग हैं।

सत्तामीमांसा (Ontology)

यह तत्त्वमीमांसा की एक शाखा है जो सत्ता के सामान्य स्वरूप का विवेचन करती है। इसमें आदि-तत्वों का विवेचन और पदार्थों का वर्गीकरण भी शामिल है। सर्वप्रथम, क्रिश्चियन वूल्फ ने इस शब्द को यह अर्थ दिया, हालाँकि Ontologia

शब्द का प्रयोग स्कॉलैस्टिक दार्शनिकों ने 17वीं शताब्दी में प्रारम्भ कर दिया था। कुछ विद्वान सत्तामीमांसा को तत्त्वमीमांसा के पर्याय के रूप में लेते हैं।

सर्वेश्वरवाद (Pantheism)

जगत् की सम्पूर्ण सत्ता का ईश्वर से अभेद मानने वाला सिद्धांत सर्वेश्वरवाद कहलाता है जैसा कि स्पिनोजा के दर्शन में मिलता है। तदनुसार ईश्वर जगत् से अलग नहीं है बल्कि प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है अर्थात् ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है और जगत् ईश्वर में निहित है। सब चीजें ईश्वर के पर्याय, उसके अंग या उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं।

समानान्तरवाद (Parallelism)

यह मन और शरीर के सम्बन्ध के बारे में स्पिनोजा द्वारा प्रस्तुत एक सिद्धांत है। इसके अनुसार, प्रत्येक मानसिक क्रिया के साथ-साथ एक शारीरिक, विशेषतः तंत्रिकीय क्रिया होती है। परन्तु उनके मध्य कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं होता; मन और शरीर दो द्रव्य हैं जो एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते, पर दोनों से सम्बन्धित परिवर्तनों की शृंखलाएँ चलती हैं। अतः समानान्तरवाद का अर्थ है कि मानसिक और भौतिक क्रियाएँ कार्य-कारण के रूप में सम्बन्धित न होकर, एक दूसरे की सहचारी अथवा समानान्तर हैं।

तर्काभास (Paralogism)

सामान्यतः यह एक दोषपूर्ण न्यायवाक्य या तर्क है जिसके दोष का ज्ञान उसका प्रयोग करने वाले को नहीं होता, और इसलिए इसका प्रयोग दूसरे को धोखा देने के उद्देश्य से नहीं किया जाता। विशेषतः कान्ट के द्वारा उन दोषपूर्ण युक्तियों के लिए प्रयुक्त जो आत्मा को एक द्रव्य, निरवयव एवं नित्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत की जाती है।

संवृतिवाद, दृश्यप्रपंचवाद (Phenomenalism)

यह सिद्धान्त मानता है कि ज्ञान संवृति, दृश्य प्रपंच या दृश्य जगत् तक ही सीमित है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्षगम्य भौतिक विषय और अंतर्निरीक्षणगम्य मानसिक विषय आते हैं। इसको मानने वाले साधारण वस्तुविषयक कथनों को संवृति-विषयक कथनों में अर्थात् इन्द्रिय-दत्तों की भाषा में बदलने की आवश्यकता बताते हैं। वे संवृति के पीछे कोई सत्ता या तो मानते नहीं या उसे अज्ञेय कहते हैं।

प्रपंच, घटना, संवृति (Phenomenon)

सामान्यतः कोई भी दृश्य चीज, तथ्य या घटना जिसका वर्णन अथवा व्याख्या विज्ञान के लिए महत्वपूर्ण हो। विशेषतः कान्ट के दर्शन में, वस्तु का वह रूप जो

हमें प्रतीत होता है और हमारे मन तथा हमारी ज्ञानेन्द्रियों के स्वरूप से प्रभावित होता है। अर्थात् प्रपंच वह है जो जगत् का दृश्य रूप है। इसके विपरीत वस्तु का निजरूप (Noumenon) हमारे लिए सदैव अज्ञेय बना रहता है।

अनेकवाद, बहुत्ववाद (Pluralism)

यह सिद्धांत विश्व में दृश्यमान नानात्व की उपेक्षा कर केवल एक या दो अन्तिम या मूल तत्त्वों को मानने का विरोध करने वाला मत है। बहुत्ववाद के अनुसार, जगत् में अनेक नित्य एवं स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य हैं जो भौतिक या आध्यात्मिक हो सकते हैं। जैसा कि लाइबनित्ज के दर्शन में मिलता है। लाइबनित्ज ने असंख्य चिद्विन्दुओं को माना है जो शाश्वत, निरवयव, स्वतंत्र, तात्त्विक सत्ताएँ हैं। इसलिए उसका दर्शन अनेकत्ववादी कहलाता है।

अर्थक्रियावाद, व्यावहारिकतावाद (Pragmatism)

20वीं शताब्दी में अमेरिका में चलाया गया एक आन्दोलन जिसके प्रणेता चार्ल्स पर्स एवं विलियम जेम्स थे। उनके अनुसार, किसी भी संप्रत्यय का अर्थ उसके व्यावहारिक प्रभावों में ढूंढ़ा जाना चाहिए; विचार का काम व्यवहार का पथ प्रदर्शन होता है और सत्य वह है जो व्यवहारोपयोगी हो। समस्त प्रत्ययों या विचारों की सत्यता उनकी व्यावहारिक उपयोगिता में निहित होती है।

पूर्व-स्थापित सामंजस्य (Pre-established harmony)

लाइबनित्ज स्वतंत्र एवं नित्य चिद्विन्दुओं की सत्ता मानता है। ये तात्त्विक सत्ताएँ हैं जिनमें सुव्यवस्था है अर्थात् लाइबनित्ज के अनुसार, सभी चिद्विन्दुओं के बीच, और विशेषतः मन एवं शरीर के मध्य पहले से ही स्थापित सामंजस्य है जिसके फलस्वरूप उनके परस्पर स्वतंत्र होते हुए भी उनकी क्रियाओं में उसी प्रकार तालमेल बना रहता है जिस प्रकार एक ही समय बताने वाली अलग-अलग घड़ियों में समय होता है।

मुख्य गतिदाता (Prime Mover)

अरस्तू के अनुसार, वह जो सभी परिवर्तनों का आदि कारण है और स्वयं परिवर्तनहीन, गतिहीन या कारणरहित होते हुए, गति उत्पन्न करता है अर्थात् ईश्वर मुख्य-गतिदाता है जो जगत् में समस्त गति का मूल-कारण है।

प्राथमिक एवं गौण गुण (Qualities-primary and Secondary)

लॉक के अनुसार, वस्तुओं में दो प्रकार के गुण होते हैं—प्राथमिक एवं गौण गुण। वस्तुओं के प्राथमिक गुण वे हैं जो उन्हीं में निहित होते हैं जैसे ठोसपन, विस्तार, आकृति, गति, स्थिति और संख्या। इनके बिना वस्तुओं के बारे में सोचा

नहीं जा सकता। अन्य सभी गुणों को जैसे रंग, ध्वनि, गंध आदि को लॉक गौण कहता है। गौण गुण वे हैं जो स्वयं वस्तुओं में तो नहीं होते, किन्तु हमारे अन्तर्गत विभिन्न संवेदनाएँ उत्पन्न करने की शक्तियों के सिवाय और कुछ नहीं होते। गौण गुण ज्ञाता के ऊपर निर्भर होते हैं जैसे आँख के बिना रंग, कान के बिना ध्वनि अथवा नाक के बिना गंध संभव नहीं हो सकते।

उत्कट इन्द्रियानुभववाद (Radical empiricism)

यह विलियम जेम्स का सिद्धान्त है जो यह मानता है कि दार्शनिकों को वाद-विवाद केवल उन्हीं बातों पर करना चाहिए जो इन्द्रियानुभव पर आधारित हैं; न केवल वस्तुएँ अपितु उनके सम्बन्ध भी इन्द्रियानुभवगम्य होते हैं; और वाह्य जगत् के तत्त्वों को जोड़ने के लिए किन्हीं मनोबाह्य या अनुभवातीत आलंबनों की आवश्यकता नहीं है।

बुद्धिवाद (Rationalism)

यह सिद्धान्त अनुभववाद का विरोधी है। बुद्धिवाद यह मानता है कि ज्ञान का एकमात्र अथवा सर्वश्रेष्ठ साधन तर्कबुद्धि है और थोड़े से प्रागनुभविक या तर्क-बुद्धिमूलक सिद्धान्तों या संप्रत्ययों से निगमन द्वारा सम्पूर्ण तात्त्विक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। बुद्धिवाद के मुख्य प्रणेता रेने देकार्त के अनुसार, समस्त ज्ञान बुद्धि से ही प्राप्त होता है और ज्ञान के सभी प्रत्यय बुद्धि में जन्म से ही होते हैं। अतः अनुभव की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्पिनोजा एवं लाइबनित्ज ने भी बुद्धिवाद का प्रबल समर्थन किया है।

वस्तुवाद, वास्तववाद (Realism)

यह सिद्धान्त मानता है कि सामान्यों का बाह्य जगत् में स्वतंत्र रूप से अस्तित्व होता है अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुसार, बाह्य जगत् वास्तविक है, न कि मन की कल्पना, अथवा यह कि प्रत्यक्ष की वस्तु सचमुच अस्तित्व रखती है यानी उसका अस्तित्व ज्ञाननिरपेक्ष है। चूँकि वस्तुओं का मन से स्वतंत्र अस्तित्व है, यह सिद्धान्त वस्तुवाद कहलाता है।

प्रतिनिधानवाद (Representationism)

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में, यह सिद्धान्त मानता है कि हमारे मन में वाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व उनके प्रत्यय करते हैं जो उनकी प्रतिलिपियाँ हैं, और हमें अपरोक्ष रूप से इन्हीं का ज्ञान होता है, न कि वाह्य वस्तुओं का, क्योंकि वे वास्तव में अनुमानगम्य हैं।

प्रतिनिधानात्मक वास्तववाद (Representative realism)

यह सिद्धान्त लॉक की ज्ञानमीमांसा का एक पक्ष है। इसके अनुसार, बाह्य जगत् का अस्तित्व वास्तविक है अर्थात् वस्तुओं का मन से स्वतंत्र अस्तित्व है, परन्तु वस्तुओं का ज्ञान उनकी प्रतियों द्वारा होता है अर्थात् वस्तुओं की नकल या प्रतियाँ हमारे मन में आती हैं, और हमारा ज्ञान उन्हीं तक सीमित होता है। ये प्रतियां वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी कारण लॉक के इस सिद्धान्त को 'प्रतिनिधानात्मक वास्तववाद' कहा गया है।

संशयवाद (Scepticism–or Skepticism)

इस मत की मान्यता है कि पूर्ण, असंदिग्ध या विश्वसनीय ज्ञान की प्राप्ति असंभव है, अथवा किसी क्षेत्र-विशेष में (तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्रीय, धार्मिक इत्यादि) या साधन-विशेष (तर्कबुद्धि, प्रत्यक्ष, अन्तःप्रज्ञा इत्यादि) से ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इस मत के प्रबल समर्थक ह्यूम के अनुसार, हमारा ज्ञान संवेदनों तक ही सीमित है, और जिनका संवेदन नहीं होता, वे भले ही हों, पर उनका ज्ञान असंभव है। अतः ह्यूम के दर्शन में अनुभववाद की पराकाष्ठा संशय-वाद में परिणित हो जाती है।

सुकराती प्रणाली (Socratic Method)

यह सुकरात द्वारा परस्पर बातचीत करने का एक ढंग है। यह शिक्षा की सुकरात द्वारा प्रयुक्त विधि है जिसमें गुरु उपयुक्त प्रश्न पूछकर शिष्य को समस्या का समाधान स्वयं अपने अन्दर से ही निकालने के लिए प्रेरित करता है। सुकराती प्रणाली में प्रश्नात्मक, वार्तालापात्मक, संवादात्मक, आगमनात्मक, निगमनात्मक इत्यादि अंशों का समावेश पाया जाता है। सत्यान्वेषण के क्षेत्र में, सुकराती प्रणाली कारगर सिद्ध हुई।

अहंमात्रवाद (Solipsism)

यह सिद्धान्त केवल "मैं" (ज्ञाता) का अस्तित्व मानने वाला है। अन्य व्यक्तियों या ज्ञाताओं और वाह्य वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर उन्हें 'मैं' के प्रत्यय मात्र मानने में इसका विश्वास है।

अध्यात्मवाद (Spiritualism)

यह भौतिकवाद का विरोधी सिद्धान्त है जो यह मानता है कि अन्तिम सत्ता चेतन (आत्मा) है जो समस्त विश्व में व्याप्त है अथवा यह है कि विश्व में ब्रह्म और आत्माओं के अलावा कुछ भी नहीं है। अध्यात्मवाद के अनुसार, जगत् में चैतन्य तत्त्व प्रधान हैं, और उन्हीं से सब कुछ फलित होता है। यह विश्व-आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर को मानता है।

आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद (Subjective Idealism)

इस सिद्धान्त के प्रणेता जॉर्ज वर्कले हैं। यह ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त मानता है कि ज्ञाता अपने प्रत्ययों के जगत् के अन्दर ही सीमित होता है। उसे केवल अपने प्रत्ययों का ही साक्षात् ज्ञान हो सकता है और इसलिए, वाह्य जगत्, जिसे हम वास्तविक मान बैठते हैं, कल्पना मात्र है। वाह्य जगत् के अस्तित्व का कोई पक्का प्रमाण नहीं है। इसी कारण वर्कले ने कहा कि दृष्टि ही सृष्टि है अर्थात् वस्तुओं का अस्तित्व आत्मा के देखे जाने पर निर्भर है।

द्रव्य (Substance)

द्रव्य वह है जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं होता अर्थात् द्रव्य निरपेक्ष, नित्य, निराश्रित, शाश्वत है। यह निरपेक्ष द्रव्य अनिवार्य रूप में अनन्त (Infinite) है अर्थात् उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। द्रव्य में कारण तथा कार्य का भेद नहीं है क्योंकि उसके बाहर कुछ नहीं है जैसाकि हमें स्पिनोजा के दर्शन में मिलता है।

संश्लेषणात्मक कथन (Synthetic Statement)

यह वह कथन होता है जो किसी वस्तु के वारें में ऐसी बात वतलाए जो उसके प्रत्यय में पहले से शामिल न हो। कान्ट की दृष्टि से, वह कथन या प्रतिज्ञप्ति जो पुनरुक्त न हो, अथवा जो न विश्लेषी हो और न स्वतोव्याघाती। उदाहरणतः "दशहरी आम खाने में बड़े ही मजेदार होते हैं।" यह संश्लेषणात्मक कथन है।

प्रयोजनवाद, उद्देश्यवाद (Teleology)

यांत्रिकवाद के विपरीत, उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा अन्तिम कारणों का अस्तित्व मानने वाला यह सिद्धान्त है। यांत्रिकवाद भविष्य तथा वर्तमान को भूत के परिप्रेक्ष्य में देखता है, परन्तु प्रयोजनवाद भूत तथा वर्तमान को भविष्य के परिप्रेक्ष्य में देखता है। मानव जीवन में ही नहीं, अपितु प्रकृति में भी प्रयोजन है, यह वहुत प्राचीन विश्वास है। अरस्तू ने इसे व्यवस्थित रूप दिया और 'अंतिम कारण' के सिद्धान्त द्वारा इस विश्वास को व्यक्त किया।

ईश्वरवाद (Theism)

सामान्यतः यह एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है जो ज्ञान, चेतना, अनुभूति तथा इच्छाशक्ति से सम्पन्न है। ईश्वर जगत् और जीवों का रचयिता है, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और मंगलमय है, तथा सभी नैतिक मूल्यों का उद्गम और श्रद्धा का विषय है। इस प्रकार ईश्वरवाद ईश्वर के अस्तित्व में पूर्ण आस्था है। ईश्वरवाद के अनेक रूप होते हैं—तटस्थ ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, एकेश्वरवाद, इत्यादि।

वस्तु-निजरूप (Thing-in-itself)

कान्ट के अनुसार, प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—प्रपंच तथा निजरूप। प्रपंच वस्तु का दृश्य रूप है, किन्तु वस्तु का अपना निजी या आन्तरिक रूप भी होता है जिसे इन्द्रियानुभव द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह अज्ञेय है। इसी को कान्ट ने वस्तु-निजरूप कहा है।

अतींद्रिय, अनुभवातीत (Transcendent)

यह वह सत्ता है जो इन्द्रियों की पहुँच से परे, अनुभव से परे, प्रकृति से परे, इहलोक से परे है। विशेषत: कान्ट ने इस शब्द का प्रयोग उन चीजों के विशेषण के रूप में किया जो अनुभव या ज्ञान की सीमा से बाहर हैं।

प्रागनुभविक-कान्ट, इन्द्रियातीत (Transcendental)

सामान्यत: इसका अतींद्रिय (Transcendent) से कोई भेद नहीं किया जाता। परन्तु कान्ट ने थोड़े से स्थलों को छोड़कर इस शब्द का प्रयोग प्राय: अनुभव के उन हेतुओं के विशेषण के रूप में किया है जिनके बिना अनुभव संभव नहीं है।

प्रागनुभविकवाद (Transcendentalism)

यह ज्ञान के प्रागनुभविक तत्त्वों पर बल देने वाला अथवा वास्तविकता के अज्ञेय या ज्ञानातीत स्वरूप में विश्वास करने वाला कान्टीय सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त, यह विश्व में अनुभवातीत तत्त्वों को आधारभूत मानने वाला कान्टोत्तर प्रत्ययवाद है।

सत्यता (Truth)

वाक्यों, प्रतिज्ञप्तियों और प्रत्ययों की वह विशेषता जो उनके वास्तविकता के अनुरूप होने से आती है। सत्यता आकारगत तथा विषयगत दोनों हो सकती है।

परमार्थ, परम तत्त्व, परम सत्ता (Ultimate Reality)

यह अंतिम सत्ता है जिससे सारा विश्व व्युत्पन्न है, जो सबका आधारभूत है, जिसके आगे विचार की गति रुद्ध हो जाती है और जो सबका मूल या सर्वोच्च है। परम सत्ता भौतिक या आध्यात्मिक हो सकती है।

बोध, समझ (Understanding)

कान्ट के अनुसार, मन की तीन शक्तियों में से एक : वह जो प्रागनुभविक संप्रत्ययों या 'पदार्थ' की सहायता से संवेदनों "को निर्णय के रूप में व्यवस्थाबद्ध करती है।" अन्य दो शक्तियाँ हैं : संवेदन शक्ति तथा तर्कबुद्धि।

सामान्य, सार्वभौम (Universal)

वह बात जो अनेक विशेषों में समान रूप से विद्यमान होती है जैसे गोत्व

या मनुष्यत्व; अथवा वह पद जिसका प्रयोग अनेक वस्तुओं के लिए समान रूप से होता है अथवा वह प्रतिज्ञप्ति जिसका प्रयोग एक वर्ग के सभी सदस्यों के लिए किया गया हो जैसे सब मनुष्य बुद्धिशील प्राणी हैं। सामान्य केवल नाम, प्रत्यय या वास्तविक के रूपों में माना जाता है।

वैधता, प्रामाण्य (Validity)

उस निष्कर्ष की विशेषता जो आधारवाक्यों के अनुमान के नियमों के अनुसार प्राप्त होती है। यदि आधारवाक्य सत्य हों तो निष्कर्ष प्रामाणिक या वैध ही नहीं अपितु सत्य भी होता है। अतः अनुमान के विभिन्न प्रकारों के निष्कर्षों को लेकर वैधता या अवैधता का निर्धारण किया जाता है।

□

दार्शनिक सम्प्रत्ययों में भेद

मत एवं ज्ञान (Opinion and Knowledge)

प्लेटो के अनुसार, सबसे निम्न स्तर का ज्ञान 'कल्पित विचार' होता है जिसकी अभिव्यक्ति कल्पनाओं, स्वप्नों, प्रतिबिम्बों आदि के रूप में होती है। ज्ञान का दूसरा स्तर 'विश्वास' है जिसके अन्तर्गत अनुभव के समस्त विषयों का संकलन होता है। कल्पित विचार एवं विश्वास दोनों के संगठित रूप को प्लेटो 'मत' कहता है।

ज्ञान का सर्वोच्च स्तर बौद्धिक अन्तर्दृष्टि में होता है जो विशुद्ध चिन्तन है और जिसके द्वारा धारणाओं अथवा प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। प्लेटो की दृष्टि से, सार्वभौम, नित्य, स्वतंत्र तथा निराकार प्रत्ययों का ज्ञान ही यथार्थ 'ज्ञान' है। यह 'ज्ञान' अनुभव से नहीं, बल्कि बौद्धिक चिन्तन से प्राप्त होता है।

प्रत्यय (विज्ञान) जगत् एवं इन्द्रिय जगत् (World of Ideas and World of Sense)

प्लेटो ने इस जगत् को दो भागों में विभाजित किया। एक है 'प्रत्यय (विज्ञान) जगत्' जिसका मूल-विषय धारणाएँ या प्रत्यय हैं जो अमूर्त, सार्वभौम, दिक्-काल से परे, शाश्वत, निरवयव तथा निराकार हैं। इनका ज्ञान द्वन्द्वात्मक चिंतन से ही हो सकता है।

इस इन्द्रियातीत जगत् के अतिरिक्त, इन्द्रिय जगत् भी है जिसका सम्बन्ध भौतिक जगत् से है। यह वस्तुओं का जगत् है जो परिवर्तनशील तथा विनाशशील होती हैं। वस्तुओं की उत्पत्ति, विकास तथा विनाश होता रहता है। अत: प्लेटो इन्द्रिय जगत् को असत् और प्रत्यय जगत् को सत् कहता है।

अनुभवातीतता एवं अन्तर्वर्तिता (Transcendence and Immanence)

वह बात जो इन्द्रियों की पहुँच से परे, अनुभव से परे, प्रकृति से परे, इहलोक से परे हो, अनुभवातीतता कहलाती है। कान्ट ने इस शब्द का प्रयोग उन चीजों के विशेषण के रूप मे किया जो अनुभव या ज्ञान की सीमा से बाहर है।

इसके विपरीत, अन्दर व्याप्त, वर्तमान या उपस्थित होने की विशेषता-मुख्यतः ईश्वर-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा में ईश्वर या ब्रह्म के सन्दर्भ में प्रयुक्त

सम्प्रत्यय जो यह मानता है कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। इसी को अन्तर्वर्तिता कहा जाता है।

आकार-रूप एवं भौतिक द्रव्य-पुद्गल (Form and Matter)

अरस्तू के अनुसार, वस्तु-जगत् के प्रत्येक तत्व में दो पक्ष होते हैं—पुद्गल और आकार। आकार या रूप तो सामान्य है जो एक वर्ग (जाति) के सभी सदस्यों में समान है। एक ही जाति की समस्त इकाइयों के सार्वभौम पक्ष को रूप कहते हैं। सामान्य या सार्वभौम रूप नित्य, अपरिणामी तथा अविनाशी हैं।

पुद्गल वह है जो विशेषता और विलक्षणता प्रदान करता है। पुद्गल ही वस्तु को जैसी है वैसी बनाता है। पुद्गल गति और परिणाम का आधार है। पुद्गल जड़ता का प्रतीक है। इस प्रकार वस्तु विशेष में पुद्गल और रूप दो अपृथक् अंग होते हैं। अर्थात् इस संसार की प्रत्येक वस्तु पुद्गल और रूप का सम्मिश्रण है।

वास्तविक एवं शक्य (Actual and Potential)

पुद्गल और रूप को अरस्तू क्रमशः 'साध्य' (Potential) और 'सिद्ध' (Actual) अर्थात् शक्य तथा वास्तविक कहता है। शक्य तथा वास्तविक किसी वस्तु विशेष की दो अवस्थाएँ हैं। शक्य अवस्था में सुप्त शक्ति होती है अर्थात् उसमें कुछ बनने की सामर्थ्य होती है। अतः वस्तु में निहित शक्ति को शक्य कहा गया है।

जब शक्य किसी रूप को धारण कर लेता है तब वह वास्तविक (सिद्ध) बन जाता है। शक्य में विकास की क्षमता होती है, पर जैसे ही वह विकसित हो जाती है वैसे ही वह निश्चित रूप को ग्रहण कर वास्तविक बन जाती है। इस प्रकार शक्य ही वास्तविक में परिणित या विकसित हो जाता है।

विशेष एवं सामान्य (Particular and Universal)

वर्ग के परिभाषक गुण धर्म के विपरीत उसका एक सदस्य, अथवा अनेक व्यष्टियों में समान रूप से निवास करने वाले सामान्य के विपरीत एक व्यष्टि को विशेष कहा गया है। कुछेक व्यष्टियों के लिए प्रयुक्त प्रतिज्ञप्ति को भी विशेष की संज्ञा दी जाती है।

सामान्य वह है जो अनेक विशेषों में समान रूप से विद्यमान होता है जैसे गौत्व, मनुष्यत्व; अथवा वह पद जिसका प्रयोग अनेक वस्तुओं के लिए समान रूप से होता है। एक वर्ग के समस्त विशेषों के लिए प्रयुक्त प्रतिज्ञप्ति को भी सामान्य या सार्वभौम कहा जाता है। सामान्य को मात्र 'नाम' तथा 'वास्तविक' दोनों ही माना गया है।

नाममात्रवाद एवं वस्तुवाद (Nominalism and Realism)

नाममात्रवाद के अनुसार, सामान्य कोई ऐसी चीज नहीं है जिसका समुचित

अस्तित्व हो : 'मनुष्य' इत्यादि जो अनेक व्यापी पद हैं, जिनका एक से अधिक व्यक्तियों के लिए प्रयोग होता है, वे किसी ऐसी चीज के अस्तित्व के सूचक नहीं होते जो उन व्यष्टियों में समान हो; व्यष्टियों में समान केवल नाम होता है। इसी को नाममात्रवाद कहा गया है।

वस्तुवाद मानता है कि सामान्यों का बाह्य जगत् में स्वतंत्र रूप से अस्तित्व होता है अर्थात् गौत्व, मनुष्यत्व, जैसे सामान्यों की अपने व्यष्टियों से स्वतंत्र सत्ता है। वस्तुवाद के अनुसार, बाह्य जगत् वास्तविक है, न कि मन की कल्पना अर्थात् प्रत्यक्ष की वस्तुओं का सचमुच अस्तित्व होता है। यही वस्तुवाद है।

वस्तुवाद एवं सम्प्रत्ययवाद (Realism and Conceptualism)

वस्तुवाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि सामान्यों का बाह्‌य जगत् में स्वतंत्र रूप से अस्तित्व है अर्थात् गौत्व, मनुष्यत्व, जैसे सामान्यों की अपने व्यष्टियों से स्वतंत्र सत्ता है। वह यह भी मानता है कि बाह्‌य जगत् वास्तविक है, न कि मन की कल्पनामात्र अर्थात् प्रत्यक्ष की वस्तुओं का सचमुच अस्तित्व होता है। यही वस्तुवाद है।

नामवाद तथा वस्तुवाद के बीच का यह सिद्धान्त कि सामान्य (जैसे मनुष्यत्व, गौतुत्व) विशेष वस्तुओं के आवश्यक और समान गुणों के सम्प्रत्यय होते हैं तथा उनका अस्तित्व हमारे मन के अन्दर होता है, सम्प्रत्ययवाद कहलाता है।

नाममात्रवाद एवं सम्प्रत्ययवाद (Nominalism and Conceptualism)

पूर्व पृष्ठों पर देखिये।

निस्सरण एवं सृष्टि (Emanation and Creation)

निस्सरण का अर्थ बाहर निकलना, उद्भवित या निःसृत होना है। यह विशेष रूप से, विश्व के अपने मूल कारण, ईश्वर से उत्पन्न होने की क्रिया के लिए प्रयुक्त सम्प्रत्यय है। ईश्वर स्वयं जगत् को पैदा नहीं करता, अपितु उसके स्वरूप से समस्त जगत् का निस्सरण होता है।

निस्सरण तथा सृष्टि दोनों में ईश्वर का अस्तित्व मान्य है। निस्सरण में ईश्वर जगत् की सृष्टि नहीं करता, जबकि सृष्टि में जगत् की रचना प्रक्रिया ईश्वर द्वारा स्वयं सम्पन्न होती है। अर्थात् ईश्वर द्वारा रची हुई वस्तुओं के समूह (विश्व) को सृष्टि की संज्ञा दी जाती है।

संकल्प एवं प्रज्ञा (Will and Intellect)

संकल्प मानसिक जीवन का वह पक्ष है जो प्रयोजनात्मक क्रियाशीलता से सम्बन्धित है, और जो मन के दो अन्य पक्षों से— ज्ञानपक्ष तथा भावपक्ष से गुणात्मक

रूप से भिन्न है। इसमें विभिन्न विकल्प होते हैं; उनके गुण-दोषों पर विचार करके एक का चुनाव तथा चुने हुए विकल्प का क्रियान्वयन सम्मिलित है।

टॉमस एक्विनास के अनुसार, प्रज्ञा आत्मा की एक विशेष शक्ति होती है जो संवेदन से प्राप्त वस्तु की नक़ल से अपनी प्रकृति से सामंजस्य रखने वाले तत्वों को लेकर वस्तु की नक़ल यानी 'संवेदी प्रतिरूप' को 'प्रज्ञा प्रतिरूप' में बदल देती है।

आस्था एवं बुद्धि (Faith and Reason)

आस्था किसी ऐसी चीज में विश्वास है जिसके पक्ष में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध न हो, या जो प्रमाणों से परे हो जैसे ईश्वर, अमरत्व, नैतिक आदर्श, आवागमन, इत्यादि में अटूट विश्वास है।

बुद्धि आस्था से भिन्न है। वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों को ग्रहण करने वाली, अनुभवों को व्यवस्था प्रदान करने वाली, तुलना, विश्लेषण, और संश्लेषण करने वाली, आधारिकाओं से निष्कर्ष निकालने वाली, ज्ञात से अज्ञात और विशेषों से सामान्यों का ज्ञान कराने वाली मानसिक शक्ति को बुद्धि कहा गया है।

मनस् एवं शरीर (Mind and Body)

देकार्त मन तथा शरीर या आत्मा एवं पुद्गल, को दो भिन्न और स्वतंत्र परम तत्त्व मानता है। मन तत्त्व आत्मा है जो क्रियाशील तथा चेतन है। आत्मा (मन) चिन्तनशील द्रव्य है। सोचना, विचार करना, कल्पना या इच्छा करना आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। आत्मा में किसी प्रकार का विस्तार नहीं होता। वह देश-कालातीत है। वह गतिशील, स्पष्ट तथा विशिष्ट है।

मन से भिन्न शरीर है। शरीर (पुद्गल) का विशेषण विस्तार है। शरीर निष्क्रिय होता है। शरीर में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं होता। इस प्रकार, मन और शरीर एक दूसरे से भिन्न दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं।

क्रिया-प्रतिक्रियावाद एवं समानान्तरवाद (Interactionism and Parallelism)

देकार्तके अनुसार, मत और शरीर यद्यपि दो स्वतंत्र द्रव्य हैं; किन्तु उनके बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। यह क्रिया-प्रतिक्रिया कारणात्मक न होकर, पिनियल-ग्रन्थि के माध्यम से मन और शरीर के बीच एक निश्चित अन्तर्क्रिया है। इसे ही क्रिया-प्रतिक्रियावाद या अन्योन्यक्रियावाद की संज्ञा दी गई है।

समानान्तरवाद के अनुसार, प्रत्येक मानसिक क्रिया के साथ-साथ एक शारीरिक, विशेषतः तांत्रिकीय, क्रिया होती है; परन्तु उनके मध्य कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं होता। स्पिनोजा के अनुसार, मन और शरीर ऐसे दो विशेषण हैं जो एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते, पर दोनों से सम्बन्धित परिवर्तनों की शृंखलाएँ समानान्तर चलती रहती हैं।

बुद्धिवाद एवं इन्द्रियानुभववाद (Rationalism and Empiricism)

बुद्धिवाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि ज्ञान का एकमात्र अथवा सर्वश्रेष्ठ साधन तर्कबुद्धि है और थोड़े से प्रागनुभविक या तर्कबुद्धिमूल सिद्धान्तों या सम्प्रत्ययों से निगमन द्वारा सम्पूर्ण तात्त्विक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् समस्त ज्ञान बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है जैसाकि देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनित्ज मानते हैं।

इन्द्रियानुभववाद बुद्धिवाद का विरोधी सिद्धान्त है। अनुभववाद के प्रमुख प्रणेता लॉक, वर्कले, ह्यूम, आदि थे। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में यह सिद्धान्त मानता है कि इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला अनुभव अथवा किसी भी रूप में होने वाला अनुभव ही ज्ञान का और हमारे संप्रत्ययों का एक मात्र अंतिम आधार है।

एकत्त्ववाद एवं बहुदेववाद–बहुतत्त्ववाद (Monism and Pluralism)

तत्त्वमीमांसा में वह सिद्धान्त एकत्त्ववाद है जो यह मानता है कि इस नानात्व से युक्त विश्व में मूलभूत तत्त्व या सत्ता एक है जैसाकि स्पिनोजा एवं शंकर मानते हैं। वह सत्ता समस्त अस्तित्व का मूलाधार है और स्वयं कारणरहित, निराश्रित एवं नित्य है।

बहुतत्त्ववाद या बहुदेववाद के अनुसार, विश्व में एक अंतिम सत्ता नहीं है, अपितु अनेक हैं अर्थात् भौतिक जगत् की चार या पाँच महाभूतों से उत्पत्ति मानने वाले प्राचीन मत से लेकर असंख्य चिद्णुओं को मानने वाले लाइबनित्ज के आधुनिक मत तक उसके अनेक रूप हैं।

ईश्वरवाद एवं सर्वेश्वरवाद (Theism and Pantheism)

ईश्वरवाद एक ऐसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता है जो ज्ञान, चेतना, अनुभूति और इच्छाशक्ति से सम्पन्न है; जो जगत् और जीवों का रचयिता है; सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और मंगलमय है; तथा सभी नैतिक मूल्यों का उद्‌गम और श्रद्धा का विषय है।

सर्वेश्वरवाद ईश्वरवाद का ही एक अंग है। सर्वेश्वरवाद सम्पूर्ण सत्ता का ईश्वर से अभेद मानने वाला मत है। तदनुसार ईश्वर जगत् से अलग नहीं है बल्कि प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है, सब चीजें ईश्वर के पर्याय, उसके अंग या उसकी अभिव्यक्ति हैं, जैसाकि स्पिनोजा मानता है।

एकदेववाद एवं बहुदेववाद (Monotheism and Polytheism)

एकदेववाद का दूसरा नाम एकेश्वरवाद है। अनेक देवताओं की कल्पना के विपरीत, यह धार्मिक विश्वास या आस्था कि ईश्वर एक है। वही सब कुछ है। समस्त जगत् में एक ही देव (ईश्वर) है।

एकदेववाद के विपरीत, बहुदेववाद या अनेकदेववाद है जो यह मानता है कि जगत् में अनेक देवताओं का अस्तित्व है जो अपने-अपने क्षेत्रों में अभूतपूर्व शक्तियों के परिचालक हैं।

प्राथमिक एवं गौण गुण (Primary and Secondary Qualities)

लॉक के अनुसार, दो प्रकार के गुण होते हैं—प्राथमिक एवं गौण गुण। प्राथमिक गुण वे हैं जो वस्तुओं में स्वतः निहित हैं जैसे ठोसपन, विस्तार, आकृति, गति, स्थिति और संख्या, जिनके बिना वस्तुओं को सोचा ही नहीं जा सकता। ये वस्तुओं के स्थायी गुण हैं।

पुनः लॉक के अनुसार, वस्तुओं के प्रतीत होने वाले वे गुण जो उनमें वस्तुतः नहीं होते बल्कि ज्ञाता के मन में वस्तु के प्राथमिक गुणों के कारण उत्पन्न होते हैं। ऐसे गुण हैं रंग, ध्वनि, गंध, स्पर्श तथा स्वाद। गौण वस्तुओं में निहित न होकर, मानवीय चेतना में आश्रित होते हैं। वे परिवर्तनशील गुण हैं।

सरल प्रत्यय एवं जटिल प्रत्यय (Simple Ideas and Complex Ideas)

लॉक के अनुसार, वे प्रत्यय जो संवेदन तथा आत्म-चिन्तन से प्राप्त होते हैं, सरल प्रत्यय होते हैं। सरल प्रत्यय बाह्य-वस्तुओं तथा आत्म-चिन्तन द्वारा मन में उत्पन्न होते हैं अर्थात् जब मन निष्क्रिय रूप से प्रत्ययों को ग्रहण करता है तब वे सरल कहे जाते हैं।

लेकिन जब मन सक्रिय हो जाता है तब जटिल प्रत्यय उत्पन्न होते हैं अर्थात् मन जब सरल प्रत्ययों की अनन्त रूप से तुलना, संगठन और पुनरावृत्ति करता है तब जटिल प्रत्यय बनते हैं जैसे सुन्दरता का प्रत्यय जिसके अन्तर्गत अनेक सरल प्रत्यय संगठित होते हैं। मन सरल प्रत्ययों को न उत्पन्न करता है और न नष्ट कर सकता है; वह केवल जटिल प्रत्ययों का निर्माण कर सकता है।

जड़वाद एवं विज्ञानवाद (Materialism and Idealism)

जड़वाद जड़-तत्त्वों को प्रधान मानता है अर्थात् विश्व का मूल-स्वरूप भौतिक है और चेतन तत्त्व भौतिक तत्त्वों की एक व्युत्पत्ति है। भौतिकवाद निरीश्वरवादी होता है और यह जगत् अपने अन्तर्निहित नियमों से गतिशील बना रहता है अर्थात जगत् की किसी ईश्वर द्वारा सृष्टि नहीं हुई।

विज्ञानवाद ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा दोनों में पाया जाने वाला सिद्धान्त है। ज्ञानमीमांसा में, यह मानता है कि प्रत्यक्ष बोध केवल प्रत्ययों का ही होता है, न कि बाह्य वस्तुओं का। तत्त्वमीमांसा में यह मत कि 'मनस्' या आत्मा का ही वास्तविक अस्तित्व है विज्ञानवाद। इसके अनुसार, परम सत्ता आध्यात्मिक चिद्रूप है, न कि भौतिक। विज्ञानवाद में, चेतन तत्त्व प्रधान हैं।

आपातिक सत्य एवं अनिवार्य सत्य (Contingent Truth and Necessary Truth)

आपातिक सत्य वह होता है जो किसी तार्किक अनिवार्यता को व्यक्त न करता हो अर्थात् जिसका निषेध तर्कत: सम्भव हो ।

अनिवार्य सत्य वह है जो तार्किकता में निहित हो । उदाहरणत: हम इन्द्रिय सापेक्ष सम्पूर्ण जगत् को किसी बुद्धिगम्य सत्ता की अभिव्यक्ति मान सकते हैं जो द्रव्य और अनिवार्य सत्ता है जिसके बिना किसी वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती और जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं है ।

विश्लेषणात्मक निर्णय एवं संश्लेषणात्मक निर्णय (Analytic Judgment and Synthetic Judgment)

कान्ट के अनुसार, ज्ञान सदैव निर्णयों के रूप में होता है जिनमें या तो किसी बात को स्वीकार किया जाता है या उसे अस्वीकार किया जाता है । किन्तु प्रत्येक निर्णय ज्ञान नहीं होता । किसी विश्लेषणात्मक निर्णय में विधेय वही व्यक्त करता है जो उद्देश्य में पहले से ही है जैसे "वस्तु विस्तारमय होती है।" अर्थात् यह वह निर्णय है जिसका विधेय उद्देश्य के गुणार्थ में पहले से ही निहित रहता है।

संश्लेषणात्मक निर्णय वह होता है जो विधेय में नवीन बात जोड़े, न कि उद्देश्य में ही सन्निहित बात को स्पष्ट करे, जैसे : "सब वस्तुओं में गुरुत्वाकर्षण होता है ।" कान्ट के अनुसार, ज्ञान प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णयों द्वारा निर्मित होता है ।

प्रागनुभविक एवं आनुभविक (A Priori and a Posteriori)

'प्रागनुभविक' उन सिद्धान्तों या प्रतिज्ञप्तियों के लिए संज्ञा और विशेषण के रूप में प्रयुक्त लैटिन शब्द जिनकी वैधता अनुभव पर आश्रित नहीं होती या जिनके ज्ञान के लिए अनुभव की अपेक्षा नहीं होती अथवा जो तर्कबुद्धि मात्र से ज्ञेय होते हैं जैसे दो समानान्तर रेखाएँ कभी नहीं मिलती हैं ।

'आनुभविक' a Priori का विरोधी है । A Posteriori ज्ञान की उस सामग्री के लिए प्रयुक्त संप्रत्यय है जो अनुभव से प्राप्त होती है । अर्थात् कुछ ज्ञान ऐसा होता है जो इन्द्रियानुभव के बिना प्राप्त नहीं हो सकता । यह अनुभवाश्रित ज्ञान है जिसे आनुभविक-ज्ञान की संज्ञा दी जाती है (जैसे अग्नि जलाती है) ।

निरुपाधिक एवं सोपाधिक (Categorical and Hypothetical)

निरुपाधिक एक निर्णय होता है जिसमें कोई उपाधि या शर्त शामिल न हो जैसे 'सब मनुष्य मरणशील होते हैं ।' या "कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं है ।" इन्हें निरुपाधिक प्रतिज्ञप्तियाँ भी कहते हैं ।

सोपाधिक प्रतिज्ञप्तियाँ भी होती हैं। ये वे प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं जिनमें 'यदि' से प्रारम्भ होने वाला हेतु हो और 'तो' से शुरु होने वाला उसका एक फल बताया गया हो, जैसे : "यदि उत्पादन बढ़ता है तो कीमतें घटती हैं।" ये सशर्त निर्णय होते हैं।

आभास एवं परमार्थ (Phenomenon and Noumenon)

'आभास' सामान्यत: कोई भी दृश्य चीज, तथ्य या घटना है जिसका वर्णन या व्याख्या विज्ञान के लिए महत्वपूर्ण हो। विशेषत: कान्ट की दृष्टि में, वस्तु का वह रूप जो हमें प्रतीत होता है और हमारे मन तथा हमारी ज्ञानेन्द्रियों के स्वरूप से प्रभावित होता है।

कान्ट के ही अनुसार, 'आभास' के अतिरिक्त, वस्तु का निजरूप भी होता है जिसे परमार्थ कहा जाता है और जो हमारे लिए सदैव अज्ञेय बना रहता है। कान्ट ने इसका प्रयोग 'वस्तु-निजरूप' (Thing-in itself) के लिए किया है। चूंकि उसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिए कान्ट ने इसे अज्ञेय माना है।

द्रव्य एवं गुण (Substance and Attributes)

द्रव्य वह है जिसमें गुण समवेत रहते हैं अर्थात् गुणों (विशेषणों) का आधार द्रव्य है। स्पिनोजा के अनुसार, द्रव्य एक है और वह स्वतंत्र, निरवयव, निराश्रित, शाश्वत, निरपेक्ष है। वह सबका कारण है। अत: द्रव्य समस्त अस्तित्व का आधार है। इस सार्वभौम द्रव्य को प्रकृति या ईश्वर भी कहा गया है।

ईश्वर या द्रव्य में अनेक गुण या विशेषण होते हैं। विशेषण से स्पिनोजा का तात्पर्य, द्रव्य के उस सार से है जिसको बुद्धि जान पाती है। ईश्वर के असंख्य गुणों में से मानव बुद्धि केवल दो गुणों को ही जान पाती है और वे हैं विस्तार और विचार जिन्हें क्रमश: पुद्गल और आत्मा (जगत् एवं जीव) भी कहते हैं।

गुण और पर्याय (Attributes and Modes)

जैसाकि पूर्व पंक्तियों में बतलाया गया है, गुण-द्रव्य का सार है जिसको बुद्धि जान पाती है। इन गुणों में पुद्गल तथा आत्मा ज्ञात हैं। ये गुण (या विशेषण) विभिन्न पर्यायों में अभिव्यक्त होते हैं। पर्यायों से स्पिनोजा का तात्पर्य द्रव्य की परिवर्तित आकृतियों से है अर्थात् पर्याय वस्तु की आकृति के अतिरिक्त दिखाई नहीं दे सकता। विस्तार के विशेषण की अभिव्यक्ति विशेष वस्तुओं में होती है और चिन्तन के विशेषण की अभिव्यंजना विशेष प्रत्ययों अथवा संकल्प-क्रियाओं के पर्यायों में होती है। ये पर्याय परिवर्तनशील एवं अस्थायी होते हैं।

निरपेक्ष एवं सापेक्ष (Absolute and Relative)

निरपेक्ष वह है जो स्वयंभू, निरुपाधि, नित्य, स्वतंत्र और पूर्ण है। देश, काल, परिस्थिति इत्यादि से सम्बन्ध न रखनेवाला; उपाधियों से रहित; अनन्य रूप

से अस्तित्व रखने वाला; दोषों से सर्वथाहीन; सर्वोच्च सत्ता निरपेक्ष है। यह मुख्यत: अध्यात्मवादी विचारधारा में ब्रह्म, परम तत्त्व या परतत्त्व है।

निरपेक्ष का विरोधी सापेक्ष है। इसके अनुसार, जगत् की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे के सापेक्ष है अर्थात् अपने में स्वतन्त्र कुछ भी नहीं है। सत्य, ज्ञान, नैतिकता, इत्यादि व्यक्ति, समाज और काल या परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होते रहते हैं। नैतिक मूल्य या सिद्धान्त भी सापेक्ष होते हैं। आवश्यकतानुसार उनमें बदलाव आता रहता है।

कारण एवं कार्य (Cause and Effect)

कारण वह घटना है जो किसी अन्य घटना (कार्य) की नियत पूर्ववर्ती हो और उसकी उत्पत्ति के लिए अनिवार्य हो। जैसे दूध दही के लिए अनिवार्य है।

कार्य कारण का अनिवार्य परिणाम है अर्थात् कार्य वह है जो उत्पन्न होता है, भले ही वह अन्य कार्य का कारण बन जाए। इस प्रकार कार्य-कारण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। कारण के बिना कार्य संभव नहीं हो सकता।

□

(ख) दार्शनिक कथनों की पहचान

Knowledge is virtue.—Socrates,

(ज्ञान ही सद्गुण है)—सुकरात

Knowledge is the highest Good.—Socrates.

(ज्ञान सर्वोत्तम शुभ है)—सुकरात

Dialectice is an art of thinking in concepts.—Plato.

(धारणाओं के रूप में चिन्तन द्वन्द्व-पद्धति है)—प्लेटो

Ideas are eternal—Plato.

(प्रत्यय नित्य होते हैं)—प्लेटो

Soul is immortal.—Plato.

(आत्मा अमर है)—प्लेटो

Things are changeable.—Plato.

(वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं)—प्लेटो

All Knowledge is re-collection.—Plato.

(समस्त ज्ञान पुनः स्मरण है)—प्लेटो

There are four kinds of causes—Aristotle

(कारण चार प्रकार के होते हैं)—अरस्तू

God is pure Form—Aristotle,

(ईश्वर शुद्ध आकार है)—अरस्तू

Forms are not apart from things, but are inherent in them.—Aristotle.

(आकार वस्तुओं से अलग नहीं हैं, बल्कि उनमें अन्तर्निहित हैं)—अरस्तू

God is unmoved Mover.—Aristotle.

(ईश्वर गति-रहित गतिदाता है)—अरस्तू

Everything has two aspects—Form and Matter.—Aristotle.

(प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—आकार एवं पुद्गल)—अरस्तू

The middle-path between two extremes is virtue.— Aristotle.

(दो अतियों के बीच 'मध्यम मार्ग' सद्गुण है)—अरस्तू

God is the source of all existence.—Plotinus.

(ईश्वर समस्त सत्ता का स्रोत है)—प्लॉटिनस

The world is an emanation of the power of God.—Plotinus

(जगत् ईश्वर की शक्ति का ही एक उद्भव है)—प्लॉटिनस

Revelation is the only means for knowing the highest truth—Acquinas.

(सर्वोच्च सत्य को जानने का एकमात्र साधन श्रुति है)—एक्विनॉस

God is the first and final cause.—Acquinas.

(ईश्वर प्रथम एवं अन्तिम कारण है)—एक्विनॉस

Philosophy moves from the world to God and Theology moves from God to the world —Acquinas.

(दर्शन जगत् से ईश्वर की ओर तथा ईश्वर-मीमांसा ईश्वर से जगत् की ओर प्रवृत्त होती है)—एक्विनॉस

Understand so that you can believe; believe so that you can learn.—Augustine.

(समझिये ताकि आप विश्वास कर सकें; विश्वास कीजिये ताकि आप सीख सकें)—ऑगस्टाइन

Evil is the absence of Good.—Augustine.

(अशुभ शुभ का अभावमात्र है)—ऑगस्टाइन

I think, therefore, I exist.—Descartes.

(मैं चिन्तन करता हूँ, इसलिए, मेरा अस्तित्व है)—देकार्त

There is interaction between body and mind —Descartes.

(शरीर और मनस् के बीच अन्तर्क्रिया होती है)—देकार्त

There is existence of the external world.—Descartes.

(वाह्य जगत् की सत्ता है)—देकार्त

All determination is negation.—Spinoza.

(समस्त नियतिकरण निषेध है)—स्पिनोज़ा

The relation between body and mind can be explained on the basis of psycho—physical parallelism—Spinoza.

(शरीर व मन के सम्बन्ध की व्याख्या मनो-दैहिक समानान्तरवाद के सिद्धान्त के द्वारा की जा सकती है)—स्पिनोजा

Body and mind are the attributes of God.—Spinoza.

(मनस् और शरीर ईश्वर के विशेषण हैं)—स्पिनोजा

There is pre-established harmony in the world.—Leibnitz.

(जगत् में पूर्व-स्थापित सामंजस्य है)—लाइबनित्ज

Monads are windowless.—Leibnitz.

(चिद्‌बिन्दु गवाक्षहीन होते हैं)—लाइबनित्ज

The mind is a tabula rasa (a white paper).—Locke.

(मन एक कोरे कागज़ के समान है)—लॉक

Experience is the source of all knowledge—Locke.

(अनुभव समस्त ज्ञान का स्रोत है)—लॉक

Sensation and reflection are the two sources of all experience.—Locke

(संवेदन तथा आत्म-चिन्तन समस्त अनुभव के दो स्रोत हैं)—लॉक

There are no innate-ideas —Locke.

(कोई जन्म-जात प्रत्यय नहीं होते हैं)—लॉक

The perception of agreement or disagreement between ideas is knowledge —Locke

(प्रत्ययों के बीच संगति या असंगति के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान है)—लॉक

To be is to be Perceived.—Berkeley.

(दृष्टि ही सृष्टि है)—बर्कले

There is no material Substance.—Berkeley.

(कोई भौतिक-द्रव्य नहीं है)—बर्कले

Abstraction is an illegitimate process.—Berkeley.

(अमूर्तबोधन एक अनाधिकार प्रक्रिया है)—बर्कले

Sense experience cannot prove the necessary relation between cause and effect.—Hume.

(इन्द्रियानुभव कार्य-कारण के अनिवार्य सम्बन्ध को सिद्ध नहीं कर सकता)—ह्यूम

Immediate impressions are the source of all knowledge.—Hume.

The middle-path between two extremes is virtue.– Aristotle.

(दो अतियों के बीच 'मध्यम मार्ग' सद्गुण है)—अरस्तू

God is the source of all existence.—Plotinus.

(ईश्वर समस्त सत्ता का स्रोत है)—प्लॉटिनस

The world is an emanation of the power of God.—Plotinus

(जगत् ईश्वर की शक्ति का ही एक उद्भव है)—प्लॉटिनस

Revelation is the only means for knowing the highest truth—Acquinas.

(सर्वोच्च सत्य को जानने का एकमात्र साधन श्रुति है)—एक्विनॉस

God is the first and final cause.—Acquinas.

(ईश्वर प्रथम एवं अन्तिम कारण है)—एक्विनॉस

Philosophy moves from the world to God and Theology moves from God to the world —Acquinas.

(दर्शन जगत् से ईश्वर की ओर तथा ईश्वर-मीमांसा ईश्वर से जगत् की ओर प्रवृत्त होती है)—एक्विनॉस

Understand so that you can believe; believe so that you can learn.—Augustine.

(समझिये ताकि आप विश्वास कर सकें; विश्वास कीजिये ताकि आप सीख सकें) —ऑगस्टाइन

Evil is the absence of Good.—Augustine.

(अशुभ शुभ का अभावमात्र है)—ऑगस्टाइन

I think, therefore, I exist.—Descartes.

(मैं चिन्तन करता हूँ, इसलिए, मेरा अस्तित्व है)—देकार्त

There is interaction between body and mind —Descartes.

(शरीर और मनस् के बीच अन्तर्क्रिया होती है)—देकार्त

There is existence of the external world.—Descartes.

(बाह्य जगत् की सत्ता है)—देकार्त

All determination is negation.—Spinoza.

(समस्त नियतिकरण निषेध है)—स्पिनोज़ा

The relation between body and mind can be explained on the basis of psycho—physical parallelism—Spinoza.

(शरीर व मन के सम्बन्ध की व्याख्या मनो-दैहिक समानान्तरवाद के सिद्धान्त के द्वारा की जा सकती है)—स्पिनोजा

Body and mind are the attributes of God.—Spinoza.

(मनस् और शरीर ईश्वर के विशेषण हैं)—स्पिनोजा

There is pre-established harmony in the world.—Leibnitz.

(जगत् में पूर्व-स्थापित सामंजस्य है)—लाइबनित्ज

Monads are windowless.—Leibnitz.

(चिद्विन्दु गवाक्षहीन होते हैं)—लाइबनित्ज

The mind is a tabula rasa (a white paper).—Locke.

(मन एक कोरे कागज़ के समान है)—लॉक

Experience is the source of all knowledge—Locke.

(अनुभव समस्त ज्ञान का स्रोत है)—लॉक

Sensation and reflection are the two sources of all experience.—Locke

(संवेदन तथा आत्म-चिन्तन समस्त अनुभव के दो स्रोत हैं)—लॉक

There are no innate-ideas —Locke.

(कोई जन्म-जात प्रत्यय नहीं होते हैं)—लॉक

The perception of agreement or disagreement between ideas is knowledge —Locke

(प्रत्ययों के बीच संगति या असंगति के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान है)—लॉक

To be is to be Perceived.—Berkeley.

(दृष्टि ही सृष्टि है)—बर्कले

There is no material Substance.—Berkeley.

(कोई भौतिक-द्रव्य नहीं है)—बर्कले

Abstraction is an illegitimate process.—Berkeley.

(अमूर्तबोधन एक अनाधिकार प्रक्रिया है)—बर्कले

Sense experience cannot prove the necessary relation between cause and effect.—Hume.

(इन्द्रियानुभव कार्य-कारण के अनिवार्य सम्बन्ध को सिद्ध नहीं कर सकता)—ह्यूम

Immediate impressions are the source of all knowledge.—Hume.

(तात्कालिक संवेदन ही समस्त ज्ञान का स्रोत है)—ह्यूम

The relation between cause and effect is the result of our habits — Hume.

(कारण-कार्य का सम्बन्ध हमारी आदतों का परिणाम है)—ह्यूम

There is no material or spiritual substance.—Hume.

(भौतिक या आध्यात्मिक कोई द्रव्य नहीं है)—ह्यूम

Precepts without concepts are blind; concepts without precepts are empty.—Kant.

(प्रत्ययों के बिना प्रत्यक्ष अन्धे हैं, प्रत्यक्षों के बिना प्रत्यक्ष खाली हैं)—कान्ट

Things-in-themselves are unknown and unknowable.—Kant.

(वस्तुएँ अपने निजरूप में अज्ञात एवं अज्ञेय हैं)—कान्ट

Knowledge of the noumenon is impossible.—Kant.

(परमार्थ का ज्ञान असंभव है)—कान्ट

Whatever is real is rational, and whatever is rational is real.—Hegel.

(जो कुछ सत् है वह बौद्धिक (चित्) है, और जो कुछ बौद्धिक (चित्) है वह सत है—)हेगेल

Dialecticmethod consists of thesis, anti-thesis and synthesis.—Hegel.

(द्वन्द्वात्मक-पद्धति में वाद, प्रतिवाद एवं संवाद होते हैं)—हेगेल

Matter is the ultimate reality —Marx.

(पुद्गल अन्तिम सत्ता है)—मार्क्स

The history of human Society has been the history of class-struggle.—Marx.

(मानव समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है)—मार्क्स

(ग) दार्शनिक विचारतंत्रों के प्रणेता

Absolutism (निरपेक्षवाद) : Hegel (हेगेल)
Agnosticism (अज्ञेयवाद) : Hume (ह्यूम)
Aristotleanism (अरस्तूवाद) : Aristotle (अरस्तू)
Atheism (निरीश्वरवाद) : Marx (मार्क्स)
Attributes-Doctrine of (विशेषणों का सिद्धांत): Spinoza (स्पिनोजा)
Cardinal virtues (मुख्य सद्गुण) : Aristotle (अरस्तू)
Castesianism (देकार्तवाद) : Descartes (देकार्त)
Cogito ergo sum (कोजीटो एर्गो सम) : Descartes (देकार्त)
Dialectical Materialism (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद): Marx (मार्क्स)
Dialectical Method (द्वन्द्वात्मक पद्धति) : Hegel (हेगेल)
Emanationism (निस्सरणवाद) : Plotinus (प्लॉटिनस)
Empiricism (इन्द्रियानुभववाद) : Locke (लॉक)
Ethical Formalism (नैतिक आकारवाद) : Kant (कान्ट)
Eudaemonism (आत्मानंदवाद) : Aristotle (अरस्तू)
Formalism (आकारवाद) : Kant (कान्ट)
Golden-Mean (मध्यम-मत) : Aristotle (अरस्तू)
Hegelianism (हेगेलवाद) : Hegel (हेगेल)
Historical Materialism (ऐतिहासिक भौतिक वाद) : Marx (मार्क्स)
Immortality of soul (आत्मा की अमरता) : Plato (प्लेटो)
Innate Ideas (जन्मजात प्रत्यय) : Descartes (देकार्त)
Interactionism (अन्योन्यक्रियावाद) : Descartes (देकार्त)
Kantianism (कान्टवाद) : Kant (कान्ट)
Modes-Doctrine of (पर्यायों का सिद्धान्त) : Srinoza (स्पिनोजा)
Monadology (चिद्णुवाद) : Leibnitz (लाइबनित्ज)
Monism (एकत्ववाद) : Spinoza स्पिनोजा)
Method of Doubt (संशयविधि) : Descartes (देकार्त)
Natura naturans (कारण-प्रकृति) : Spinoza (स्पिनोजा)
Natura naturata (कार्य-प्रकृति) : Spinoza (स्पिनोजा)
Occasionalism (संयोगवाद) : Geulinex (गुलिंक्स)

Pantheism (सर्वेश्वरवाद) : Spinoza (स्पिनोजा)
Parallelism (समानान्तरवाद) : Spinoza (स्पिनोजा)
Pluralism (बहुतत्त्ववाद) : Leibnitz (लाइबनित्ज)
Pre-established harmony (पूर्व स्थापित सामंजस्य) : Leibnitz (लाइबनित्ज)
Rationalism (बुद्धिवाद) : Descartes (देकार्त)
Representionism (प्रतिनिधानवाद) : Locke (लॉक)
Representative Realism (प्रतिनिधित्वात्मक वस्तुवाद) : Locke (लॉक)
Socratic Method (सुकराती-पद्धति) : Socrates (सुकरात)
Subjective Idealism (आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद) : Berkeley (बर्कले)
Tabula rasa (रिक्त पट्टिका) : Locke (लॉक)
Theory of Ideas (प्रत्यय-सिद्धान्त) : Plato (प्लेटो)
Unmoved Mover (गतिरहित गतिदाता) : Aristotle (अरस्तू)

(घ) मूल-ग्रन्थों के ग्रन्थकार

Plato (प्लेटो) : Apology (एपॉलाजी), Criton (क्रीटान), Protagoras (प्रोटागोरस), Gorgias (जॉर्जियस), Meno (मेनो), Phaedo (फीडो), Symposium (सिम्पोजिया), Republic (रिपब्लिक), Phaedrus (फीड्रस), Parmenides (पार्मेनाइडीज), Theaetetus (थीटीटस), Sophist (सोफिस्ट), Politicus (पॉलिटिकस), Laws (लॉज).

Aristotle (अरस्तू) : Physics (फिजिक्स), Metaphysics (मेटाफिजिक्स), Ethics (ऐथिक्स), Organon (ऑर्गना), Politics (पॉलिटिक्स), Poetics (पोइटिक्स).

Plotinus (प्लॉटिनस) : Enneads (एन्नीड्स).

Augustine (ऑगस्टाइन) : On the Trinity (ऑन द् ट्रिनिटी).

Acquinas (एक्विनास) : Summa Theologiae (सम्मा थियोलॉजिया), Summa Contra Gentiles (सम्मा कन्ट्रा-जेन्टील्स)

Descartes (देकार्त) Discours de la methode (डिस्कार्स डी लॉ. मेथडे). Meditationes de prima philosophia (मेडिटेशन्स डी प्राईमा फिलॉसोफिया), Principia philosophiae (प्रिन्सिपिया फिलॉसोफिया).

Spinoza (स्पिनोजा) : Ethica (एथिका) Cogita metaphysica (कोजीटा मेटाफिजीका) Tractus-Theologia-Politicus (ट्रैक्टस-थियोलॉजिया-पॉलिटिकस).

Leibnitz (लाइबनित्ज) : Monadology (मानडोलॉजी), Principles of Nature and Grace (प्रिन्सिपल्स ऑफ नेचर एण्ड ग्रेस). Theodicy (थ्योडिसी), New System of Nature (न्यू सिस्टम ऑफ नेचर), Correspondence with Clark (करेस्पॉडेन्स विद् क्लॉर्क).

Locke (लॉक) : An Essay Concerning Human Understanding (एन ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टेंडिग), Letters Concerning Tolerance (लैटर्स कन्सर्निंग टॉलरेन्स), Treatise of Civil Government (ट्रीटाइज ऑफ सिविल गवर्नमेन्ट).

Berkeley (वर्कले) : An Essay Towards a New Theory of Vision (एन ऐसे टुवार्ड्स ए न्यू थ्योरी ऑफ विज़न), A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge (ए ट्रीटाइज कन्सर्निंग द् ह्यूमन नालेज), Three Dialogues between Hylas and Philonous (थ्री डॉयलॉग्स बिटवीन हायलस एण्ड फिलोनाउस), The Minute Philosopher (द् माइनूट फिलॉस्फर).

Hume (ह्यूमं) : Treatise on Human Nature (ट्रीटाइज ऑन ह्यूमन नेचर), Inquiry Concerning Human Understanding (इन्क्वारी कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टेंडिग), Inquiry Concerning the Principles of Morals (इन्क्वारी कन्सर्निंग द् प्रिन्सिपल्स ऑफ मॉरल्स), History of England (हिस्ट्री ऑफ इंगलेण्ड).

Kant (कान्ट) : The Critique of Pure Reason (द् क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन), The Critique of Practical Reason (द् क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन), The Critique of Judgement (द् क्रिटीक ऑफ जजमेन्ट).

Hegel (हेगेल) : Phenomenolog of Spirit (फैनामिनॉलॉजी ऑफ स्प्रिट), Science of Logic (साइन्स ऑफ लॉजिक).

Marx (मार्क्स) : Philosophy of Poverty (फिलॉस्फी ऑफ पॉवर्टी), Communist Manifesto (कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो), Das Capital (डॉस केपिटल).

परिशिष्ट : 2

पारिभाषिक शब्दावली

(हिन्दी—अंग्रेजी)

(अ)

अनुभूति	Intuition
अनुक्रम	Succession
अनुकृति	Copy
अनुभव	Experience
अनुभववाद	Empiricism
अनुभववादी	Empiricist
अनुभवातीत	Transcendental
अनुभवपूर्ण संश्लेषणात्मक एकता	Synthetic Unity of Apperception
अनुस्मरण	Reminiscence
अनुष्ठान	Ceremony
अनुप्रयुक्ति	Application
अनुबन्ध रहित	Unconditioned
अनुबन्धित, अनुकूलित	Conditioned
अंगीकार, मान्यता	Assumption
अस्तिवाचक	Assertoric
अल्पतंत्र	Oligarehy
अनवस्थादोष	Fallacy of Infinite Regress
अति-अवयवी	Hyper-organic
असमवायिकारण	Formal Cause
अजैव	Inorganic
अध्यात्मवाद, विज्ञानवाद, प्रत्ययवाद	Idealism
अपरिमित	Infinite
अणुविश्व	Microcosm
अति-प्राकृतिक घटना	Miracle
अवस्तुल, शून्यता	Nothingness
अन्तरानुभूति	Introspection

असत्, अभाव	Not-being, Non-being
अवयवी पूर्ण	Organic whole
अवयवी	Organic
अवयव संस्थान	Organism
अर्थ क्रियाकारित्व, व्यवहारवाद	Pragmatism
अनुचिन्तन अनुशीलन	Reflection
अस्ति, वास्तविकता	Reality
अति-प्राकृतिक	Supernatural
अलौकिक	Supernatural
अमूर्त	Abstract
अमूर्तकरण	Abstraction
अज्ञेयवाद	Agnosticism
अवसरवाद, संयोगवाद	Occasionalism
अन्तःकरण	Internal Sence
अंश-भागिनी	Participation
अंशव्यापी, विशेष	Particular
अन्तस्तत्त्व, संभूति	Entelechy
अंत्यकारण, अन्तिम कारण	Final Cause
अन्तर्वर्ती, अन्तर्निहित	Immanent
अन्तर्दृष्टि	Insight
अभ्युक्ति	Dictum
अंकन, अनुमुद्रा	Impression
अहम्, आत्मा	Ego
अहम्वाद स्वार्थवाद	Egoism
अहम् केन्द्रिक विषमावस्था	Ego Centric Predicament
अहम्मात्रवाद	Solipsism
अभ्याकर्षण का नियम	Law of Gravitation
अमूर्त विज्ञान का प्रत्यय	Abstract Idea
अन्तर्क्रियावाद	Interactionism
अविरोध	Consistency
अमूर्तवाद	Abstractionism
अशर्त	Categorical
अशर्त आदेश	Categorical Imperative
अनिश्वरवाद	Atheism
अवधारणावाद	Conceptua"

अन्तःकरण	Conscience
अन्ध-विश्वास	Dogmatism
अशुभ	Evil
अस्तित्ववाद	Existentialism
अति, आत्यन्तिक	Extreme
अति अवयवी	Hyper-organic
अन्तर्यामी, अनुस्यूत	Immanent
अमरता	Immorality
अनुमान	Inference
असीम	Infinite
अन्तर्बोध, सहजबोध, स्वानुभूति	Intuition
अन्तरंग सम्बन्ध	Internal Relation
अद्वैतवाद	Monism
अनिवार्य	Necessary
अर्ध-चेतना	Sub-Conscious
अनुभवातीत विधि	Transcendental Method
अनुभवातीत यथार्थवाद	Transcendental Realism
अनुभवातीतवाद	Transcendentalism
अचेतन	Unconscious
अभेद, एकता	Unity
अपरिणामी	Permanent
अनुभव-निरपेक्षवाद	A Priorism
अवधारणा	Concept
अनिश्चित	Contingent
अस्तित्व	Existence

(आ)

आभास	Appearance
आप्तवाद, अधिकारवाद	Authoritarianism
आत्मानन्दवाद	Eudaemonism
आकारगत	Formal
आकार	Figure
आस्था	Faith
आगमन विधि	Induction
आशावादी	Optimist
आशावाद	Optimism
आत्मगत	Subjective

असत्, अभाव	Not-being, Non-being
अवयवी पूर्ण	Organic whole
अवयवी	Organic
अवयव संस्थान	Organism
अर्थ क्रियाकारित्व, व्यवहारवाद	Pragmatism
अनुचिन्तन अनुशीलन	Reflection
अस्ति, वास्तविकता	Reality
अति-प्राकृतिक	Supernatural
अलौकिक	Supernatural
अमूर्त	Abstract
अमूर्तकरण	Abstraction
अज्ञेयवाद	Agnosticism
अवसरवाद, संयोगवाद	Occasionalism
अन्तःकरण	Internal Sence
अंश-भागिनी	Participation
अंशव्यापी, विशेष	Particular
अन्तस्तत्त्व, संभूति	Entelechy
अंत्यकारण, अन्तिम कारण	Final Cause
अन्तर्वर्ती, अन्तर्निहित	Immanent
अन्तर्दृष्टि	Insight
अभ्युक्ति	Dictum
अंकन, अनुमुद्रा	Impression
अहम्, आत्मा	Ego
अहम्वाद स्वार्थवाद	Egoism
अहम् केन्द्रिक विषमावस्था	Ego Centric Predicament
अहम्मात्रवाद	Solipsism
अभ्याकर्षण का नियम	Law of Gravitation
अमूर्त विज्ञान का प्रत्यय	Abstract Idea
अन्तर्क्रियावाद	Interactionism
अविरोध	Consistency
अमूर्तवाद	Abstractionism
अशर्त	Categorical
अशर्त आदेश	Categorical Imperative
अनिश्वरवाद	Atheism
अवधारणावाद	Conceptualism

अन्तःकरण	Conscience
अन्ध-विश्वास	Dogmatism
अशुभ	Evil
अस्तित्ववाद	Existentialism
अति, आत्यन्तिक	Extreme
अति अवयवी	Hyper-organic
अन्तर्यामी, अनुस्यूत	Immanent
अमरता	Immorality
अनुमान	Inference
असीम	Infinite
अन्तर्बोध, सहजबोध, स्वानुभूति	Intuition
अन्तरंग सम्बन्ध	Internal Relation
अद्वैतवाद	Monism
अनिवार्य	Necessary
अर्ध-चेतना	Sub-Conscious
अनुभवातीत विधि	Transcendental Method
अनुभवातीत यथार्थवाद	Transcendental Realism
अनुभवातीतवाद	Transcendentalism
अचेतन	Unconscious
अभेद, एकता	Unity
अपरिणामी	Permanent
अनुभव-निरपेक्षवाद	A Priorism
अवधारणा	Concept
अनिश्चित	Contingent
अस्तित्व	Existence

(आ)

आभास	Appearance
आप्तवाद, अधिकारवाद	Authoritarianism
आत्मानन्दवाद	Eudaemonism
आकारगत	Formal
आकार	Figure
आस्था	Faith
आगमन विधि	Induction
आशावादी	Optimist
आशावाद	Optimism
आत्मगत	Subjective

आदिरूप	Areche-types
आयोजन	Design
आनुवंशिक	Hereditary
आवेग	Impulse
आन्तरिक भाव	Inner sense
आंगिक	Organic
आदिचालक	Prime Mover
आवधिक प्रत्यावर्तन	Periodical Recurrence
आध्यात्मिक	Spiritual
आंतर युक्ति	Dialectic
आयोजन, प्रयोजनशास्त्र	Teleology
आत्मबोध	Apperception
आवश्यक, निश्चयात्मक	Apodeitic
आस्था	Belief
आलोचनात्मक	Critical
आकृति	Design
आचारशास्त्र	Ethics
आत्यन्तिक	Extreme
आकारगत कारण	Formal Cause
आदर्शवाद	Idealism
आवयविक	Organic
आवयव वाद	Organism
आकस्मिक	Accidental
आत्यन्तिक विरोध	Contradiction
आचारमूलक बुद्धि या ज्ञान	Practical Reason
आधारवाक्य	Premises
आत्मा	Soul, self
आकाश	Space

(इ)

इन्द्रिय-संवेदन परीक्षा	Transcendental Aesthetic
इच्छा स्वातंत्र्य	Freedom of Will
इन्द्रिय-संस्कार	Impressions
इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षज्ञान	Sense-Perception

इन्द्रिय-प्रत्ययवाद, भाव वाद	Positivism
इन्द्रियानुभव	Sense Experience
	(ई)
ईश्वरवाद	Theism
ईश्वरवादी	Theistic
ईश्वरमीमांसा	Theology
ईश्वरपरक	Theological
ईश्वर, परमतत्त्व	God
	(उ)
उपकरणवाद	Instrumentalism
उपादान कारण	Material Cause
उपमान	Analogy
उपाधि	Condition
उपोत्पादवादी	Epi-Phenomenalist
उपरोध	Irony
उदाकर्षण	Levitation
उपयोगितावादी	Utilitarian
उपयोगितावाद	Utilitariamism, Pragmatism
उभयतोपाश	Dilemma
उपजातीयता	Specification
उदात्त	Sublime
उन्मत भ्रान्ति	Insane delusion
उपतत्त्व, उपोत्पाद	Epiphenomenon
उन्नयनवाद	Meliorism
उज्जीवन	Recurrence
उपपन्न	Demonstrative
उद्भव	Emanation
उद्भववाद	Emanationism
उद्देश्यमूलक तर्क	Teleological Argument
	(ऊ)
ऊर्जा	Energy
ऊर्जावाद	Energism
ऊर्जा-संरक्षण	Conservation of Energy

(ए)

एकत्वाद	Monism
एकत्ववादी	Monist
एकेश्वरवाद	Monotheism
एकता	Unit

(ऐ)

ऐक्य	Harmony
ऐच्छिक-कार्य	Voluntary action

(क)

कारण	Cause
कारण-कार्य	Cause and Effect
काल	Time
काल व्यापकत्त्व	Time Comprehension
कालिक	Temporal
कोटि	Cotegory
कणिकाएँ	Corpuscles
कुतार्किकता	Sophistry
कार्यात्मक	Functional
कारण-प्रकृति	Natura Naturans
कार्य-प्रकृति	Natura Naturata
कार्य	Effect
कूटस्थ तत्त्व	Neutram
कोरी स्लेट या पट्टी	Tabula Rasa
कुलीनतत्रवाद	Aristocracy
कार्य-कारण-भाव	Causality
कारण-कार्य-सम्बन्ध	Cause-effect-relation
कल्पना	Conjecture
कणिकात्मक सिद्धान्त	Corpuscular Theory
कारणमूलक युक्ति	Cosmological Argument

(ख)

खगोलविद्या	Astronomy

(ग)

गवाक्ष	Window
गवाक्षहीन	Windowless

गत्यात्मवाद	Dynamism
गत्यात्मक	Dynamic
गति	Motion
गुह्य	Esoteric
गुह्यज्ञान, गूढ़-ज्ञान-वाद	Occultism
गुणात्मक घटक	Qualitative Constituent
गत्यात्मक आत्मा	Spirited Soul
गौण प्रत्यय	Secondary Ideas
गौण गुण	Secondary Qualities
गौणफल	Epiphenomenon

(घ)

घूर्ण	Momentum

(च)

चक्रक प्रत्यावृत्ति	Cyclic Recurrence
चालक	Mover
चिद्णु, चिद्बिन्दु	Monad
चिद्ण-विद्या	Monadology
चिद्णवाद	Monadism
चिन्तयामी अत: अस्मि	Cogito ergo sum
चिन्तन	Reflection
चैत्त	Psychical
चक्रक दोष	Petitio Principii
चुनाव	Choice
चेतन	Conscious
चैतन्य, चित्-शक्ति, चेतना	Consciousness

(छ)

छलतर्क	Sophism

(ज)

जड़वाद	Materialism
जन्मजात प्रत्यय	Innate Ideas
जड़तत्त्व	Matter
जननिक	Genetic

जैविकी	Biology
जिजीविषा	Eros
जटिल प्रत्यय	Complex Ideas
ज्योतिष विद्या	Astrology

(त)

तत्त्व-दर्शन, तत्त्वमीमांसा	Metaphysics
तटस्थ एकतत्त्ववाद	Neutral Monism
तटस्थ ईश्वरवाद	Deism
तर्काभास	Paralogism
तादात्म्य	Identity
तार्किक भाववाद	Logical Positivism
तत्त्वमीमांसा	Ontology
तात्त्विक	Ontological
तर्कबुद्धि सुखवाद	Rationalistic Hedonism
तर्कबुद्धि	Reason
तर्क बुद्धिवादी, बुद्धिवादी	Rationalist
तार्किक	Discursive
तार्किक बुद्धि	Discursive Intellect
तत्त्व	Element
तथ्य	Fact
तथ्यता, वास्तविकता	Factuality
तर्कशास्त्र	Logic
तंत्र, व्यवस्था	System

(द)

द्रव्य	Substance
द्रव्यात्मक एकता	Substantical Unity
द्वन्द्वन्याय, द्वन्द्वात्मक तर्क, द्वन्द्व-नियम	Dialectic
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	Dialectical Materialism
दृश्यते इति वर्तते	Esse est percipi
दन्त कथायें	Myths
दूरदर्शिता	Prudence
दैववाद, भाग्यवाद	Fatalism
देव सत्व	Deity

द्वन्द्व-विज्ञान	Dialectics
द्वन्द्व-पद्धति	Dialectical Method
द्वैतवाद	Dualism
दोष	Error
दृश्य	Phenomenal
दृश्यवाद	Phenomenalism
देश, दिक्	Space
द्वन्द्वातीत	Supra-rational

(ध)

धारा	Flux
ध्यान	Contemplation
धन्यता	Blessedness
धर्मतंत्रवाद	Theocracy
धार्मिक कृत्य	Rituals
धर्म, विशेषण	Attribute
धारणा	Concept
धारणात्मक ज्ञान	Conceptual Knowledge

(न)

नामवाद	Nominalism
न्यायवाक्य	Syllogism
नव्य-प्लेटोवाद	Neo-Platonism
नव्य-प्राणवाद	Neo-Vitalism
नास्तिवाद	Nihilism
नास्तिक	Atheist
निश्चयात्मक	Apodeictic
निकटत्व	Contiguity
निरपेक्ष	Absolute
निरपेक्ष आदेश	Cotegorical Imperative
निदर्शन	Demonstration
निगमन	Deduction
नियतिवाद	Determinism
निमित्त काणर	Efficient Cause

नित्य	Eternal
निर्विकल्प	Indeterminate
निहितार्थ	Implication
निषेध	Negation
निष्क्रिय तर्कबुद्धि	Passive Reason
नियामक	Regulative
निष्कर्ष, सारांश	Conclusion
निरपेक्ष प्रत्ययवाद	Absolute Idealism
निरन्तरता, सन्तान	Continuity
निराकरण	Elimination
नीतिशास्त्र	Ethics
निर्णय	Judgement
नियम	Law
नैतिक बुद्धि	Moral Sense
निराधार कल्पना	Speculation

(प)

परम सत्ता	Absolute
परार्थवाद	Altruism
पश्चादनुभ	A posteriori
परमाणु	Atom
परमाणुविक संस्कार	Atomistic Impression
परम विचार	Absolute Mind
पदानुक्रम	Hierarchy
परिकल्पना	Hypothesis
परावाक्	Logos
परस्परक्रिया	Interaction
पक्षवाक्य	Minor Premise
पर्याय	Modes
पर्याप्त कारण या हेतु	Sufficient Cause or Reason
पुद्गल, पदार्थ	Matter
परमार्थसत्	Noumenon
पूर्वगामी	Prior
पूर्ण, पूर्णत्ववाद	Perfect, Perfectionism

पूर्वाग्रह	Prejudice
पूर्व-स्थापित सामंजस्य	Pre-established Harmony
परिप्रेक्ष्य	Perspective
परमशुभ	Summum bonum
परम द्रव्य	Ultimate Substance
पक्षवाद	Thesis
परमाणुवाद	Atomism
परमानन्द	Bliss
परिवर्तन, परिणाम	Change
परिवर्धन	Modification
परिभाषा	Definition
परिमित	Finite
पद्धति	Method

(प्र)

प्रतिवाद, प्रतिपक्ष, विपक्ष	Anti-thesis
प्रागनुभविक	A priori
प्राधिकारिक	Authoritative
प्रत्यय, धारणा	Idea, Concept
प्रत्यय-जगत्	World of Ideas
प्रज्ञात्मक सद्गुण	Dianoetic Virtue
प्रमाणमीमांसा	Epistemology
प्रतीति, विवर्त	Appearance
प्रज्ञा-ज्ञान	Intuitive Knowledge
प्रामाणिकता	Validity
प्रमुखगुण	Primary Qualities
प्रकर्ष	Excellence
प्रज्ञानवाद	Gnosticism
प्रतिमा	Image
प्रज्ञावाद	Intellectualism
प्रकृति	Nature
प्रकृतिवाद	Naturalism
प्रसंगवाद	Occasionalism
प्रसंभाव्यता	Possibility

प्राथमिक	Primary
प्रत्यक्षवाद	Positivism
प्रत्यक्ष	Perception
प्रपंच जगत्	Phenomena
प्रपंचविज्ञान	Phenomenology
प्रतिकर्षण	Repulsion
प्रतिभिज्ञा	Recognition
प्रतिनिधित्वात्मक यथार्थवाद	Representative Realism
प्रसंभाव्यतावाद	Probabilism
प्रत्यावर्तन	Recurrence
प्रतीकात्मक	Symbolic
प्रसर	Space
प्रसरीय	Spatial
प्रतीक	Symbol
प्रयोजन	Teleology
प्राणवाद	Vitalism
प्रज्ञा मूल-तत्त्वों का सिद्धान्त	Transcendental Doctrine of Elements
प्रज्ञान	Wisdom
प्रत्यय-साहचर्य, विचार साहचर्य	Association of Ideas
प्रवाह, धारा	Continuum
प्रकार-वाचक	Modal
प्रत्यक्ष-ज्ञान	Perceptual Knowledge

(ब)

वस्तु	Object, matter
वस्तुगत सत्य	Material truth
वस्तुगत, बाह्य	Objective
वहुतत्त्ववाद	Pluralism
वहुदेववाद	Polytheism
वुद्धि	Intellect
ब्रह्माण्ड	Macrocosm
वौद्धिक	Rational

बाधित	Contradicted
बुद्धित्व	Nous
वितंडावाद	Sophism
बोध	Understanding
वैधता	Validity
बोधालम्ब परीक्षा	Transcendental Analytic
बुद्धिवाद	Rationalism

(भ)

भेद	Difference
भाव, सत्	Being
भाववाद	Positivism
भावावेश	Passion
भावात्मक	Positive
भौतिकी	Physics
भौतिकवाद	Materialism
भूतजीववाद	Hylogoism

(म)

मन	Mind
मूर्त	Concrete
मूल्य	Value
मूल्यमीमांसा	Axiology
मत	Opinion
मताग्रह	Dogma
मध्यपद	Middle Term
मिताचार	Moderation
मानववाद	Humanism
मध्यम मार्ग	Middle Path
मिश्रित प्रत्यय	Mixed Ideas
मंडनवादी	Apologist
मूलपाप	Original Sin
मान्यता	Postulate
मौलिक अनुभववाद	Radical Empiricism

मानक — Standard
माप — Scale
मानवत्वारोप — Anthropomosphism
मार्क्सवाद — Marxism
मनोवेग — Emotion
मूल-प्रवृत्ति — Instinct
मूल प्रकृति — Materia-Prima

(य)

यथार्थता — Reality
यथार्थवाद — Realism
यंत्रवाद — Mechanism
यदृक्ष — Arbitrary
यांत्रिक — Mechanical
युक्ति — Reasoning

(र)

रूप, आकार — Form
रहस्यवाद — Mysticism
रहस्यवादी — Mystic
रचनात्मक — Creative
रूढ़िवादी — Customary
रचना — Teleology

(ल)

लक्ष्य-कारण — Final Cause
लघु-जगत् — Microcosm
लघुकृतवाद — Reductionism

(व)

व्यष्टित्व — Individuality
व्यष्टिवाद — Individualism
व्याघात — Contradictions
व्यवहारवाद — Pragmatism
व्यक्तिनिष्ठ — Subjective

विधेयता	Predication
विशेष	Particular
विषय-वस्तु	Object
विपर्यय	Illusion
विचार	Logos, Ideas
विरोध	Antinomy
विभ्रम	Hallucination
विद्वत परिषद्	Academy
विप्रतिषेध	Antinomy
विश्लेषणात्मक	Analytic
विश्व बुद्धि	Cosmic Reason
विश्व-कारण-युक्ति	Cosmological Argument
विश्व-कर्मा	Demi-urge
विमर्श	Deliberation
विकास	Evolution
वैकल्पिक	Disjunctive
विस्तार	Extension
वर्गीकरण	Classification
विजातीय	Heterogeneous
विधानात्मक	Affirmative
विश्लेषण, व्याख्या	Analysis
विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक	Analytical
विश्लेषणात्मक निर्णय	Analytical Judgement
विशेषण,	Attribute
विपरीत	Contrary
विकासवाद	Evolutionism
विस्तारमय	Extended
वेदना	Feeling
विज्ञान	Idea
विज्ञानस्वरूप शिवतत्व	Idea of the Good
विज्ञानवाद	Idealism
विशिष्टवाद	Individualism
विशेषानुमान	Induction
विधि	Method

विधितंत्र	Methodology
विरोधाभास	Paradoxes
व्यावहारिक	Practical
विधेय	Predicate
विशुद्धरूप	Pure Form
वाक्छल	Sophism
व्यवस्था	System
विलक्षण	Unique

(श्र)

श्रुति	Revelation
श्रेणी	Category
श्रद्धा	Faith
श्रेय	Good
शुभ	Good
शास्त्रीयवाद	Scholosticism
शक्यता	Potentiality
शक्ति	Force
शून्यता	Nothingness
शुद्ध-बुद्धि या ज्ञान	Pure Reason

(स)

संप्रत्य	Concept
संप्रत्यक्ष	Appereception
साहचर्यवाद	Associationism
स्वयं-सिद्धतत्व	Axiom
संभवन	Becoming
संवाद	Correspondence
संकेन्द्रीय	Concentric
संज्ञापन, संचार	Communication
संप्रत्यवाद	Conceptualism
संवात	Coincidence
सहचार	Concomitance
संसकता	Coherence
संमेयता	Commensurability

स्ववृत्ति	Disposition
सत्ता	Existence
संकलनवाद	Ecleticism
संवेग	Emotion
संलयन	Fusion
सुखवाद	Hedonism
सजातीय	Homogeneous
सहजात प्रवृत्ति	Instinct
सहज ज्ञान	Intuition
स्थानिक	Local
समवाय	Inference
संयोग	Mood
संचलन	Movement
सुधारवाद	Meliorism
सत्तामीमांसात्मक	Ontological
संन्यासवाद	Asceticism
सामान्य-बुद्धि	Common Sense
संगीत	Consistency
स्वीकारात्मक	Affirmative
संक्रिया	Operation
संभाव्यता	Possibility
सर्वेश्वरवाद	Pantheism
समानान्तरवाद	Parallelism
संदिग्ध	Problematic
सत्	Real
संवृत्ति	Phenomena
स्वतः स्फूर्त	Spontaneous
संवेदनावाद	Sensationalism
संशयवाद, सन्देहवाद	Skepticism
संस्कार	Sacrament
संवेदनात्मक	Sensible
संवेदना शक्ति	Sensibility
संवाद, संपक्ष, संश्लेषण	Synthesis

स्वयंभू	Self-determined
स्ववर्ती	Self-Subsistent
सरल प्रत्यय	Simple Idea
संवेदनशील	Sensitive
संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक	Synthetic a priori
संरचना	Structure
समाकृति	Schema
संयम	Temperance
सद्गुण	Virtue
संचारण	Transmission
साक्ष्य	Testimony
संवेदनालम्ब समीक्षा	Transcendental Aesthetics
समग्रता	Totality
संप्रत्यक्ष समन्वीकरण की अनुभवातीत एकता	Transcendental Unity of Apperception
संक्रमण	Transition
सामान्य, सर्वव्यापी, सार्वभौम	Universal
संकल्पवाद	Voluntarism
संकल्प	Will
सौन्दर्यशास्त्र	Aesthetics
सादृश्यानुमान	Analogy
सिद्धता	Actuality
साम्यवाद	Communism
सृष्टि-विज्ञान	Cosmology
सृष्टि-रचना	Creation
सृजनात्मक बुद्धि	Creative Intellect
सृष्टिवाद	Creationism
सम्भावित	Contingent
समीक्षा, परीक्षा	Critique
सन्तान	Continuum
सारतत्त्व	Essence
सम्वेदना	Feeling
सीमित, सापेक्ष	Finite
स्वतंत्रता	Freedom
संकल्प-स्वातंत्र्य	Free-will

सामंजस्य	Harmony
संवेदन	Impression
सहज	Innate
सहज-प्रत्यय	Innate Ideas
सहजज्ञानवाद	Intuitionism
स्वसंवेदन	Introspection
सन्देह पद्धति	Method of Doubt
सूक्ष्म-जगत्	Microcosm
स्वलक्षण	Noumenon, Thing-in-itself
संक्रियावाद	Operationalism
स्थायी	Permanent
सापेक्ष	Relative
सापेक्षवाद	Relativism
सांस्कृतिक पुनर्जागरण	Renaissance
स्थिति	Rest
सर्वाहंवाद	Solipsism
समन्वय, संयोजन	Synthesis
सत्यम्	True

(ह)

हेतुफलाश्रित	Hypothetical
हर्षातिरेक	Ecastacy

(क्ष)

क्षमता, अधिकरण	Faculty
क्षुधा पूर्ति में संलग्न	Appetitive

(त्र)

तिरुपेश्वरवाद	Trinity

(ज्ञ)

ज्ञान	Knowledge
ज्ञाता	Knower
ज्ञेय	Known
ज्ञानेन्द्रियां	Sense Organs
ज्ञानमीमांसा, ज्ञानशास्त्र	Epistemology
ज्ञानवादी	Gnostic
ज्ञेयवादी	Gnosticism